ओ३म्

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी संस्करण

आत्मदर्शन

नारायण स्वामी

ओ३म्

आत्मदर्शन

जिसमें

आत्म-सम्बन्धी पाश्चात्य पौरस्त्य नवीन, प्राचीन, आस्तिक, नास्तिक सभी विचारों और सिद्धान्तों का समालोचन तथा विवेचन किया गया है। अब की बार कई स्थानों पर घटा बढ़ा कर जीवात्मा के नित्यत्व पर एक भाग और बढ़ा दिया है।

लेखक—

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी महाराज।

तृतीय संस्करण } १९३० ई० { मूल्य १।) सजिल्द १।।≈)

प्रकाशक—
गजराजसिंह अध्यक्ष,
"वैदिक पुस्तकालय"
जौनपुर।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् (कठ)

कोई धीर अन्तरात्मा को देखता है।

मुद्रक—
सहादुररामजी,
हितैषी-प्रिंटिंग-वर्क्स,
बनारस सिटी।

पूज्यपाद श्री नारायण स्वामी जी महाराज

परिचय * ।

—◦◦◦—

1

ग्रन्थ-परिचय

१९वीं और २० वीं शताब्दी के सन्धिकाल (१९००) में जिस समय जर्मनी के प्रसिद्ध जीव विद्याशास्त्री अर्नेस्ट हेकल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "संसार की पहेली" (The Riddle of the universe) प्रकाशित की, युरोप में ईसाइमत का विशाल भवन जो कि गत शताब्दि के वैज्ञानिक आन्दोलन से हिल रहा था, एक प्रकार से लड़खड़ा कर गिर पड़ा। १९वीं सदी के प्रकृतिवाद, जड़वाद अथवा नास्तिकवाद का, जो "विकासवाद" के अनेक रूप में प्रकट हुआ, इस पुस्तक में दार्शनिक विवेचन किया गया था, विज्ञान के शब्दों में इस पुस्तक में अन्तिम घोषणा की गई कि प्रकृति और प्राकृतिक नियम अपने में पर्याप्त, परिपूर्ण

---

* पाठकों के लिए यह उत्तम होगा कि वे पुस्तक को पढ़ने से पहले इस 'परिचय' को पढ़ लें, इस से न केवल उन्हें ग्रन्थकर्ता के विषय में कुछ परिचय प्राप्त होगा प्रत्युत ग्रन्थ के गम्भीर विषय के प्रवेश में भी बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

और अन्तिम (Self-sufficient & Self-contained) हैं। उनके लिए किसी अप्राकृतिक आत्मशक्ति की कल्पना करना अनावश्यक ही नहीं प्रत्युत अयुक्त भी है। इस पुस्तक के छपते ही ५ लाख प्रतियां पढ़ी गईं, युरोप की लगभग सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया। परन्तु यह एक विचित्र दैवी घटना है कि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही युरोप में 'अध्यात्मवाद' का प्रारम्भ हुआ युरोप की प्रवृत्ति अध्यात्म-वाद की ओर हो गई। यह दूसरा प्रश्न है कि उन्हें कितना बोध है और वे किस रास्ते पर चल रहे हैं। पाठकों के सामने जो ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है उसमें इसी प्रकृतिवाद और आत्म-वाद की तुलनात्मक विवेचना है इसलिए यह आवश्यक है कि पुस्तक के प्रारम्भ में संक्षेप से विषय की ओर संकेत कर दिया जाय।

साधारणतया मोटे शब्दों में प्रकृतिवाद का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है कि "इस सारे विश्व की चेतन अचेतन सारी रचना प्रकृति और उसमें काम करने वाले प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) का परिणाम है, उसके लिए किसी आत्मा या परमात्मा की आवश्यकता नहीं है", इसे वैज्ञा-निक रीति पर समझने के लिए कुछ व्याख्या अपेक्षित है।

इस विश्व के विकाश में क्रमशः ३ पद (दर्जे) हैं जिन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है:—

१—प्राकृतिकविकाश (Cosmic Evolution)
२—जीवन विकाश (Biological Evolution)
३—ज्ञानविकाश (Intellectual Evolution)

देखना यह है कि इन तीनों विकासों में किस प्रकार प्रकृति स्वयं पूर्ण और कार्यक्षम बनती है और उसके लिए किसी आत्म-शक्ति की अपेक्षा नहीं होती।

प्राकृतिकविकाश।

इस विकाश के अन्तर्गत हम प्रकृति की प्रारम्भिक अवस्था (जो जगत् की मूलकारण थी) से लेकर सृष्ट्युत्पत्ति अर्थात् सारे लोकलोकान्तरों की रचना पर और उन लोकों की प्रारम्भिक अवस्था पर जिसे 'भूगर्भ सम्बन्धी युग' (Geological Period) कहा जाता है विचार करते हैं। आत्मवादी कहते हैं कि प्रकृति से परमात्मा ने सृष्टि को बनाया। प्रकृतिवादी वैज्ञानिक का विचार है कि प्राकृत द्रव्य (Matter) में लगातार परिवर्तन होते २ यह जगत् अपने आप बना है इस जगत् के बनने में प्राकृत द्रव्य और उसमें होने वाली गति के अतिरिक्त किसी आत्मशक्ति का हाथ दिखाई नहीं देता। फ्रांस के तत्वज्ञ 'लाल्पास' ने यह कल्पना की थी कि जगत् के मूलद्रव्य, जिसका नाम नेबुला (Nebula) रक्खा गया है उसमें लगातार गति हो रही थी। लगातार गति होते २ ही उस प्राकृत द्रव्य से क्रमशः तारा, ग्रह, उपग्रह अर्थात् सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र बन गए। जब लाल्पास ने अपनी पुस्तक सम्राट नैपोलियन को भेंट की, तब सम्राट् ने उससे कहा कि 'तुमने अपनी पुस्तक में ईश्वर का वर्णन कहीं नहीं किया'। लाप्लास ने उत्तर दिया कि 'महाराज मुझे सृष्टि रचना की सारी प्रक्रिया में कहीं 'ईश्वर की जरूरत नहीं पड़ी'। इस प्रकार प्राकृतिक विकाश में ईश्वर की अपेक्षा

नहीं' यह घोषणा लाप्लास ने कर दी इस पर कुछ विचार हम आगे चल कर करेंगे। इस प्रकार प्रकृतिवाद के अनुसार सृष्टि रचना–जिससे ईश्वर की भावना होती है, के लिए ईश्वर की— आवश्यकता न रही।

जीवन-विकाश।

लोकों अर्थात् सूर्य, ग्रह, उपग्रह आदि के बनने और प्राणियों के रहने योग्य हो जाने के पश्चात् दूसरी समस्या (१) उनमें जीवन के विकाश की है इस पृथ्वी पर जीवन कहाँ से आया ? उसका प्रारम्भ कैसे हुआ ? (२) और फिर उसकी प्रारम्भिक अवस्था से मनुष्य तक किस प्रकार विकाश हुआ यह प्रश्न है ? अनेक वैज्ञानिकों ने इस पर विचार किया, अनेक रूपों में इसके उत्तर दिये, परन्तु जीवन-विकाश के सम्बन्ध में 'चार्लस डार्विन' का नाम शिरोभूत है। उसने अपने प्रसिद्ध 'प्राकृतिक चुनाव के नियम' * [Law of Natural Selection] के आधार पर

---

* 'प्राकृतिक चुनाव का नियम' डार्विन के शब्दों में

'Struggle for Existence.

And Survival of the Fittest.

है, जिसका अर्थ यह है कि जीव जगत् में अपनी हस्ती जारी रखने के लिये घोर संग्राम 'जद्दोजहद' हो रहा है, इसमें जो प्राणी योग्य हैं वे ही बचते हैं और कमजोर, निकम्मे और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति क्रमशः योग्य, अधिक योग्य और उन से अधिक योग्यों को चुनती

विकासवाद (Doctrine of Evolution) की स्थापना की, जिसके अनुसार उसने बतलाया कि संसार का सारा जीवित जगत् एक प्रारम्भिक अवस्था से क्रमशः मनुष्य तक विकसित हुआ है। यह विकाश भी जीव जगत् सम्बन्धी अटल नियमों (Biological Laws) के अनुसार हो रहा है। इस प्रकार भिन्न २ प्राणियों को उत्पन्न करने के लिये भी किसी आत्मशक्ति की अपेक्षा नहीं। परन्तु प्रथम प्रश्न यह है कि 'जीवन' आया कहाँ से ? इस पर टेण्डल, हक्सले, हेकल आदि ने अनेक कल्पनायें कर डालीं। उनके अनुसार प्राणि शरीर में जीवन का आधार मौलिक तत्व 'प्राटोप्लाज्म' (Protoplasm) है इसी का हिंदी अनुवाद कई प्रकार से किया जाता है, इस ग्रंथ के लेखक ने 'कललरस ! शब्द का प्रयोग किया है यह प्राटोप्लाज्म या कललरस कतिपय प्राकृत तत्वों' (Elemenls) के मिश्रण से बना हुआ है, परन्तु वे प्राकृततत्व किस प्रकार और किस मात्रा में मिलते हैं जब कि उनमें जीवन का प्रादुर्भाव होता है, यह वैज्ञानिक नहीं बतला सके।

मानसिक विकाश।

डार्विन ने 'जीवन विकाश' की ही बात कही थी। हर्बर्ट स्पेंसर आदि कतिपय तत्वज्ञों ने एक पग और आगे बढ़ाया। प्रारम्भिक अवस्था से पशु पक्षि आदि रूपों में होते हुए मनुष्य

रहती है अर्थात् केवल उन्हें ही जीवित रखती है और इस रीति पर जीव जगत् लगातार विकाश होता आया है, और होता जा रहा है।

जीवन का विकाश होता है। इसके पश्चात् मनुष्य में जंगली अवस्था से लेकर वर्त्तमान सभ्यतापूर्ण अवस्था तक बुद्धि का विकाश कैसे हुआ यह मानसिक विकाश की समस्या है स्पेंसर ने उत्तर दिया जिस प्रकार जीवन का विकाश होता है उसी प्रकार मनुष्य के भीतर क्रमशः बुद्धि का भी विकाश होता है, और यहाँ भी इस बुद्धि विकाश के लिये किसी आत्मशक्ति की अपेक्षा नहीं।

इस प्रकार क्रमशः तीनों प्रकार के विकाशों की प्रणाली से संसार का सारा खेल जड़ प्राकृतिक नियमों के प्रभाव (Energy) से बन गया। उसके लिये किसी चेतन आत्मा की आवश्यकता नहीं। प्रकृति और उसमें गति (matter and energy) यह दो भौतिक तत्व हैं यह दोनों ही नियम हैं, इन दोनों के नित्यता के सिद्धान्त को मिला कर हेकल ने अपने जड़-वाद का मौलिक सिद्धान्तः—निकाला जिस का अर्थ यही है कि

प्राकृतद्रव्य-नियम।

LAW OF SUBSTANCE.

प्रकृति और उसकी गति दोनों सदा स्थिर रहने वाली नित्य हैं * इस मौलिक नियम से सृष्टि का सारा काम चल जाता है, अर्थात् 'नेबुला' [Nebula] जगत् का उपादान कारण (मौलिक तत्त्व) की अवस्था से अत्युच्च सभ्यतापूर्ण मनुष्य के मस्तिष्क के विकाश

* Conservation of Energy and Matter

के होने के लिये इस मौलिक नियम के सिवाय किसी चेतन आत्मशक्ति की आवश्यकता नहीं ।

समीक्षात्मक दृष्टि ।

प्रकृतिवाद के अनुसार तीनों प्रकार के विकाश पर पूर्ण समीक्षा इस संक्षिप्त लेख में नहीं हो सकती, फिर भी प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका के रूप में कुछ शब्द लिखने आवश्यक हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोप में अध्यात्मवाद की लहर उठी। आधुनिक वैज्ञानिकों के कतिपय अग्रगन्ता ।वैज्ञानिक दूसरी ओर जा रहे हैं। वे तीनों प्रकार के विकाश में आत्मशक्ति की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं।

प्राकृतिक विकाश पर समीक्षा ।

प्रारम्भिक मूल अवस्था से लगातार गति होने से यह जगत लोकान्तर बनते हैं यह ठीक है, परन्तु आल्फ्रेड रसेल वैलेस, आलिवर लाज सदृश वैज्ञानिक कहते हैं कि (१) इस विकाश को प्रथम "प्रेरणा" (First Impulse) देने के लिये किसी चेतनशक्ति की आवश्यकता है। (२) इसी प्रकार इस विकाश विधि को अथवा उसके आधार रूप प्राकृतिक नियमों को नियमित करने, धारण करने, और जानने वाले चेतन आत्मा की सत्ता होनी चाहिये। (३) जो आत्मा लगातार होने वाले विकाश को, अन्तिम उद्देश्य (Final Purpose) तक पहुँच

सके * इस का अर्थ यह है कि प्रकृत जगत् में यद्यपि प्राकृतिक नियम काम कर रहे हैं परन्तु उनके साथ ही एक ऐसी चेतनशक्ति आवश्यक है जो प्राकृतिक नियमों को नियंत्रित करनेवाली और धारण करनेवाली (Controller and Sustainer of the Laws of Nature) है † इस 'चेतनशक्ति' के बिना प्राकृत विकाश अथवा सृष्टि कर्तृत्व के लिये चेतन आत्मा ईश्वर की आवश्यकता है।

* सृष्टि विकाश में 'ईश्वर रूप' चेतन आत्मा का इन तीनों प्रकारों से आवश्यकता रसेल वैलेस ने अपनी प्रसिद्ध और अन्तिम पुस्तक जो १९१२ में प्रकाशित हुई थी—'The world of life' में दिखलायी है। यह विचार वेदान्त के इस विचार से कि ईश्वर वह है जिससे जगत् की [१] उत्पत्ति [२] स्थिति [३] प्रलय हो मिलता जुलता है:—इस प्रकार वैलेस ने आत्मशक्ति ईश्वर को स्वीकार किया है। यहाँ भी याद रखना आवश्यक है कि वैज्ञानिक जगत् में वैलेस का पद बहुत ऊँचा है। उसने 'प्राकृतिक चुनाव के नियम' की खोज ठीक उसी समय की थी जिस समय कि एक दूसरे स्थान पर बैठे हुये डार्विन ने की। परन्तु वह नियम इस समय केवल डार्विन के नाम से ही प्रसिद्ध है वैलेस 'विकाशवाद' के मुख्य प्रवर्तकों में से एक है।

† वेद में इन प्राकृतिक नियमों को 'ऋत' (Cosmic Laws) कहते हैं और ईश्वर को 'ऋतम्भर' (upholder of the cosmic Laws) कहा गया है, ऋग्वेद (१।१।८) में ईश्वर

जीवन-विकाश की समीक्षा।

प्रारम्भिक प्रथम अवस्था से मनुष्य तक जीवन का विकाश अभी तक निश्चित सिद्धान्त (Established Doctrine) नहीं हो सका है किन्तु वह अभी केवल एक 'वाद' (थ्योरी) ही है। विकाश के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न हैं, जिनका अभी तक उत्तर नहीं दिया जा सका है और अभी तो वन्दर और मनुष्य के बीच विकाश शृङ्खला की कई कड़िएं नहीं मिलतीं, परन्तु जीवन इस भूमण्डल पर कहाँ से आया इसका तो कोई संतोषजनक उत्तर दिया ही नहीं जा सका। 'जड़' से 'चेतन' बनने की समस्या पर युरोप के वैज्ञानिक बहुत दिन तक लगे रहे परन्तु कोई सफलता नहीं हुई। जीवन के अस्तित्व के लिए 'आत्मा' को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है अन्यथा जीवन की संसार में हस्ती ही सिद्ध नहीं होती। प्राकृतिक विकाश में जड़ प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर की अपेक्षा होती है इस पिपय में इस ग्रंथ में संक्षेप से लिखा गया है क्योंकि वह पुस्तक का विपय नहीं परन्तु 'जीवन' की उत्पत्ति 'जड़' से नहीं हो सकती इस विषय को इस ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक व्यक्तियों के साथ दिखाया गया है और आत्मा को न मानने के कारण जीवन के पिषय में हेकल को जो २

को 'ऋतस्य गोपा' कहा है जिसका अनुवाद ग्रीफ़िथ ने 'Guard of the Laws Eternal' किया है अर्थात् वह नित्य प्राकृतिक नियमों का रक्षक है।

कल्पनायें करनी पड़ीं उनका भी दिग्दर्शन कराया गया है । साथ ही जगत् में भिन्न २ प्राणियों का अस्तित्व, ईश्वर की रचना का बोधक है, यह भी सिद्ध किया गया है । संक्षेप से यह कहा जा सकता है कि बिना आत्मा और परमात्मा को स्वीकार किए केवल जड़ प्रकृति, जीवन की समस्या को, हल करने में सर्वथा असमर्थ है ।

मानसिक विकाश की समीक्षा ।

मानसिक विकाश की सिद्धि करने के लिए अभी तक उतना आधार भी नहीं है जितना कि प्राणि जगत् के विकाश की कल्पना के लिए । मानसिक विकाश आधाररहित कल्पनामात्र है । प्राचीन समय से अब तक क्रमशः ज्ञान का विकाश नहीं हुआ है । प्राचीनकाल, कतिपय बातों में, अर्वाचीनकाल से बढ़ कर था इस विषय में भी इस ग्रन्थ में बहुत कुछ लिखा गया है । परन्तु मुख्य समस्या यह है कि मनुष्यों में यदि ज्ञान का विकाश भी माना जावे तो उस ज्ञान का स्रोत क्या है ? मनुष्य और पशु जगत् के बीच 'ज्ञान' अथवा ज्ञान को धारण करने वाली 'व्यक्त भाषा' एक भेदक रेखा (Line of Demarcation) है । मनुष्यों में वह ज्ञान कहाँ से आया ? पशु अवस्था से उसका विकाश वैज्ञानिक रीति पर सिद्ध नहीं हो सकता । उस ज्ञान का स्रोत 'ईश्वरीय ज्ञान' ही हो सकता है जो कि वेद के रूप में हैं । इस विषय में भी इस ग्रन्थ में बहुत प्रकाश डाला गया है ।

यहाँ हमने जड़वाद और आत्मवाद की वास्तविक स्थिति और उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन दिया है । इस विषय पर इस ग्रंथ में विस्तार से विचार किया गया है । साथ ही इस

ग्रन्थ की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें आत्म-सम्बन्धी लगभग सारे विचार और सिद्धान्त, चाहे वह नवीन हों या प्राचीन चाहे इस देश (पूर्व) के हों अथवा विदेश (पश्चिम) के, चाहे वे वैदिक-धर्म के हों या अन्य धर्मों के, एकत्रित किए गए हैं जो कि इस विषय की ज्ञान वृद्धि में बहुत सहायक होंगे। यह स्पष्ट है कि विषय अति गम्भीर है, विशेषकर इस कारण कि आर्य भाषा में अभी तक ऐसे गहन विषयों पर कुछ भी नहीं लिखा गया है। ऐसी दशा में यदि कहीं पर इस ग्रंथ के विषय को समझने में कुछ कठिनता उपस्थित हो तो कोई आश्चर्य नहीं परन्तु यह आशा की जाती है कि द्वितीय या तृतीय बार पढ़ने में यह विषय अधिक रोचक रीति से समझा जा सकेगा।

हर्ष की बात है कि इस समय हिन्दी-साहित्योद्यान में नए २ पुष्पों का विकाश हो रहा है। हमें आशा है कि इस ग्रन्थ से हिन्दी साहित्य की शोभा बढ़ेगी, न केवल धर्म की दृष्टि से किन्तु एतद्विषयक विज्ञान की दृष्टि से भी यह हिन्दी साहित्य में सर्वथा अनूठा और नया ग्रन्थ है।

II

ग्रन्थकार-परिचय।

श्री नारायण स्वामी जी (भूतपूर्व महात्मा नारायणप्रसाद जी आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन) इस ग्रंथ के रचयिता हैं। इन पंक्तियों के लेखक का महात्मा जी से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, उसने उन्हीं के चरणों की छाया में (गुरुकुल वृन्दावन में) दीक्षा और शिक्षा पायी है। आर्य जगत् के लिये

महात्मा जी का परिचय देना आवश्यक है। उनका नाम आर्य समाज के क्षेत्र में इस किनारे से उस किनारे तक विदित है परन्तु दूसरे पाठकों के लिये कुछ परिचय ग्रंथकार के विषय में देना आवश्यक है*।

युक्तप्रान्त में सामाजिक कार्य।

युक्तप्रान्त में इस समय जो कुछ आर्यसमाज का वृक्ष फूला फला दीख रहा है उसको सींचने में श्री नारायण स्वामी जी का बहुत बड़ा हाथ है। ऋषि दयानन्द के पश्चात् युक्त प्रान्त में ऋषि के मिशन को पूर्ति के लिये जिन कतिपय सच्चे भक्तों ने अपने जीवन की आहुति दी महात्मा जी (स्वामी जी) उनमें से एक हैं। आपने पिछली शताब्दी के पूरे समय में (२५ वर्ष तक) आर्यसमाज की सेवा की है। युक्त प्रान्त की आर्यप्रतिनिधि सभा के सब से बड़े संचालकों में आप रहे हैं। सभा में अन्तरङ्ग सभासद, उपमन्त्री, मन्त्री, गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य आदि अनेक पदों को सुशोभित करते हुये आपने कार्य किया है। जिस समय आप मन्त्री थे आर्यप्रतिनिधि सभा की बहुत उन्नति हुई। आप प्रायः समाजों के उत्सवों पर भी जाते थे

---

*यह ग्रन्थकार का परिचय श्री स्वामी जी की बिना आज्ञा लिये लिखा गया है, वे इसे पसन्द भी न करेंगे परन्तु पुस्तक के प्रकाशक इसे आवश्यक समझते हैं कि पुस्तक के साथ उसके रचयिता का कुछ परिचय प्रस्तुत किया जाय।

और प्रचार की वास्तविक अवस्था का निरीक्षण करते थे। उनका मन्त्रित्व केवल 'दफ्तर' और 'कलम कागज़' का ही न था।

वेद प्रचार, गुरुकुल और कालेज का प्रश्न

युक्त प्रान्त में जिस समय यह प्रश्न उठा कि पंजाव की तरह यहां भी डी. ए. वी. कालेज खोला जावे, आर्यसामाजिक नेताओं के दो दल हो गए। एक कालेज के पक्ष में था दूसरा वेद प्रचार और गुरुकुल के पक्ष में महात्माजी ने सब से पहले प्रतिनिधि सभा में गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव उपस्थित किया। लोग अपनी अशक्ति को देखते हुए गुरुकुल खोलने में कुछ संकोच करते थे परन्तु जिस समय वृहदधिवेशन में गुरुकुल पक्ष में आपने अपनी ओजस्विनी वक्तृता दी प्रस्ताव को सब ने स्वीकार किया। प्रश्न केवल धन का रह गया, उसके लिए भी महात्माजी ने सारे प्रान्त में दौरा लगाकर स्वयं धन एकत्रित किया और उनके उद्योग का फल यह हुआ कि उस समय तो नहीं किन्तु उसके पश्चात् १९०६ ई० में यु० पी० की आर्यप्रतिनिधि सभा ने सिकंदरावाद का गुरुकुल अपने हाथ में लिया। १९०७ में गुरुकुल फ़र्रुखावाद चला गया, जहां वह चार साल तक अर्थात् १९११ तक रहा।

वृन्दावन गुरुकुल के आचार्य।

१९११ में कतिपय कारणों से सभा ने गुरुकुल को फर्रुखावाद से उठाकर वृन्दावन लाना निश्चय किया। स्वनामधन्य श्रीयुत राजामहेन्द्र प्रताप ने उसके लिए भूमि (क ए बाग सहित)

विना किसी शर्त के दे दी। सभा ने अक्टूबर १९११ में गुरुकुल उठाने का निश्चय किया था और साथ ही यह भी निश्चय हुआ था कि दो मास के पश्चात् होनेवाला गु० कु० का अगला उत्सव भी वृन्दावन किया जाय। इतने थोड़े समय में सारी इमारतों का बन जाना और नई गुरुकुल भूमि में उत्सव का होना केवल इसी लिए सम्भव हो सका कि महात्माजी तीन मास की छुट्टी लेकर वहाँ पहुँच गये और रात दिन परिश्रम करके उस कार्य को पूरा किया। परन्तु गुरुकुल आने के पश्चात् मुख्याधिष्टाता पद का बोझ भी आपके कन्धों पर ही रक्खा गया क्योंकि स्वर्गीय पं० भगवानदीन जी जो उस समय मुख्याधिष्टाता थे, बीमार होने के कारण चले गये। आपने सरकारी नौकरी से छुट्टी ले ली, परन्तु छुट्टी समाप्त होने पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि आप नौकरी पर जायें या गुरुकुल का काम करें। आपकी पेंशन होने में केवल एक वर्ष की कमी थी, लोगों ने बड़ा ज़ोर देकर आपको सलाह दी कि डाक्टर से सार्टीफिकेट (Invalid Certificate) दिलाकर पेन्शन का अधिकार प्राप्त कर लीजिए। परन्तु आपने झूठा सार्टीफिकेट प्राप्त करने से इन्कार किया, और ऐसे समय में जब कि आपकी पेन्शन के लिए केवल एक वर्ष की कमी थी, आपने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। यह घटना है जो आप के 'स्वार्थ त्याग' और 'सत्य निष्ठा' का परिचय देती है और बतलाती है कि उनके अन्दर कितना चारित्र्यबल है।

गुरुकुल वृन्दावन जो इस समय इतनी उन्नत अवस्था में है यह आपके ही पुरुषार्थ का फल है। जिस समय आपने गुरुकुल का चार्ज लिया बड़ी शोचनीय दशा थी किन्तु आपने रात दिन

आंसुओं के साथ अभिनन्दनपत्र प्रस्तुत किया, वह एक विचित्र दृश्य था, उससे पता चलता था कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के लिए उनका पुत्र से बढ़ कर प्रेम था और ब्रह्मचारी पिता के समान उनमें श्रद्धा रखते थे।

श्रीनारायणाश्रम, (एकान्तवास)

महात्माजी ने गुरुकुल से विदा होकर नैनीताल के समीप पहाड़ के उच्च शिखर पर सुरम्य सुन्दर भूमि में अपनी कुटी—'श्री नारायणाश्रम'—बनायी। कुटी भी एक दर्शनीय स्थान है। वह पहाड़ के घने जङ्गल के भीतर एक सुरम्य शान्त स्थान में पहाड़ी नदी के पास बनी हुई है। वहां रह कर महात्माजी ने सन्यासाश्रम की तैयारी की और आध्यात्मिक चिन्तन तथा स्वाध्याय में एकान्त जीवन व्यतीत किया। वहीं रहते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण किया जो अब पाठकों के आगे प्रस्तुत किया जा रहा है। यह ग्रन्थ जैसा कि पाठकों को पता चल जायगा दीर्घकालीन स्वाध्याय का फल है।

सन्यासाश्रम और पूर्णाहुति।

इस वर्ष (१९२२) गत जून में महात्माजी ने सन्यासाश्रम में प्रवेश किया। सन्यास में प्रवेश करते समय आपने अपनी कुटी और सब धन जो कुछ आप के पास था युक्त प्रान्त की आर्यप्रतिनिधि सभा को वैदिकधर्म सम्बन्धी साहित्य की उन्नति में लगाने के लिए अर्पण कर दिया। सन्यास में प्रवेश करने के पश्चात् से वे आर्यसमाजों में प्रचारार्थ जाने लगे हैं। इस समय

आर्य्य समाज को आप से बड़ी आशायें हैं। जहाँ आपकी कथायें होती हैं वहाँ के आर्य पुरुषों में नए जीवन और आस्तिक भावों का सञ्चार हो जाता है। आपकी कथाएं यद्यपि आध्यात्मिक विषयों पर होती हैं परन्तु लोग बड़ी प्रीति से सुनते हैं।

उपसंहार

यह कठिन है कि यहां हम संक्षेप से भी उनके अद्वितीय चारित्र्य को बनाने वाले गुणों पर दृष्टि डाल सकें, परंतु इतना कहना आवश्यक है कि उनमें तप, स्वाध्याय, नियम, दृढ़ अध्यवसाय, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता आदि गुण जिस प्रकार पाए जाते हैं उसका उदाहरण बहुत कम जगह मिल सकता है। वे एक आदर्श सन्यासी हैं, आर्य समाज का उनसे गौरव है। आर्यसमाज अपने को धन्य समझ सकता है जिसमें ऐसे सन्यासी विद्यमान हैं।

गुरुदत्त भवन, लाहौर।
मार्गशीर्ष पूर्णिमा १९७९ वैक्रम

धर्मेन्द्रनाथ।

प्रारम्भिक वक्तव्य ।

पुस्तक के तय्यार करने में सब से अधिक कठिनता, आंगल भाषा के वैज्ञानिक और दार्शनिक (परिभाषिक) शब्दों के स्थान में हिन्दी भाषा के शब्दों के खोज में हुई है । नागरी-प्रचारिणी सभा का प्रकाशित वैज्ञानिक कोष अभी बहुत अधूरा है, फिर भी उससे कहीं २ सहायता ली ही गई है । अनेक शब्द ऐसे हैं जिन के स्थान में हिन्दी के भिन्न २ लेखकों ने भिन्न २ ही शब्दों का प्रयोग किया है । उदाहरण के लिए 'प्रोटोप्लाज्म' शब्द ही को ले लीजिए । इसके लिए हिन्दी में प्रथमफेन, जीवबीज जीवफेन, जीवधातु, आदिपंक, नारा, जीवनमूल, जीवन तत्त्वादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं; परन्तु मुझको सबसे अधिक उपयोगी शब्द, पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रयोग किया हुआ, 'कललरस' प्रतीत हुआ और इसलिए इसीका प्रयोग इस पुस्तक में जहाँ तहाँ किया गया है । इस प्रकार के और भी अनेक शब्द हैं, जिनके स्थान पर उपयोगी शब्दों का प्रयोग किया गया है । उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है, परन्तु यदि उनके प्रयोग करने में मुझसे कुछ भूल हुई है तो ज्ञात होने पर दूसरे संस्करण में शुद्ध करने का यत्न किया जायगा ।

पुस्तक के प्रकार की दृष्टि से यह आवश्यक ही था कि उसकी रचना में अनेक पुस्तकों से सहायता ली जाती, तदनुकूल सहायता ली गई है । मैं उन पुस्तक के रचयिताओं का कृतज्ञ हूं जिनके रचे पुस्तकों से सहायता ली गई है ।

पुस्तक का विषय गहन होने पर भी उसको अधिक से अधिक सुगम बनाने का यत्न किया गया है जिससे पुस्तक सर्व साधारण के हाथों में जाने के भी योग्य हो सके। पुस्तक के अन्त में असाधारण परिभाषिक शब्दों की एक सूची भी लगा दी गई है जिससे अंगरेजी भाषाभिज्ञ पाठक जान सकें कि पुस्तक में प्रत्युक्त हिन्दी के शब्द किन २ अंगरेजी शब्दों के स्थान में काम में आए हैं। यदि पुस्तक के पाठ से देशवासियों में से कुछ का भी ध्यान आत्म-विषय की ओर हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

ग्रन्थकर्ता

दूसरे संस्करण की भूमिका।

मुझे आशा नहीं थी कि आत्मदर्शन का जनता इतना मान करेगी कि न केवल आर्य-भाषा में उसके एक से अधिक संस्करणों की जरूरत पड़ेगी किन्तु अन्य भाषाओं में भी उसका अनुवाद किया जायगा—बंगला और उर्दू भाषाओं में उसके अनुवाद करने की अनुमति मुझसे ली जा चुकी है। आर्य-भाषा का यह दूसरा संस्करण जनता के सन्मुख है। इस संस्करण में अनेक स्थानों पर वृद्धि और उचित संशोधन-किया गया है जिससे किसी न किसी अंश में पुस्तक की उपयोगिता, विश्वास है कि, पढ़ी होगी। अनेक विद्वान सज्जनों ने पुस्तक को पढ़ा, और अपनी मूल्यवान सम्मति भेजने की कृपा की है मैं इन सबका कृतज्ञ हूँ—जिन सज्जनों ने पुस्तक में कुछ घटाने बढ़ाने की राय दी थी उन पर कृतज्ञता से ध्यान दिया गया है और इस संस्करण में उससे पूरा पूरा लाभ उठाने का यत्न किया गया है आशा है कि इस संस्करण का भी उचित आदर होगा।

नारायण-आश्रम
रामगढ़ (नैनीताल)
श्रावण कृ० ३ स० १९८१ वै०

नारायण स्वामी

तीसरे संस्करण की भूमिका।

आत्मदर्शन का तीसरा संस्करण स्वाध्याय प्रिय पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है—जनता ने इस ग्रन्थ का जितना अधिक मान किया है उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ—इस संस्करण में भी आवश्यक संशोधन किया गया है आशा है कि यह संस्करण भी लोकप्रिय होगा—

रामगढ़
आषाढ़ कृ० ८ सं० १९८६ वै० } नारायण स्वामी

पुस्तकों की सूची।

जिनसे इस ग्रन्थ की तय्यारी में सहायता ली गई है।

1. ऋग्वेद
2. सूर्य्य सिद्धान्त
3. १० उपनिषद्
4. ६ दर्शन
5. Last Essays of Prof. Max Muller. Vol. I. and II.
6. सासान I—5 के पत्र [फारसी भाषा की दसातीर में]
7. The Doctrine of immortality in Ancient Egypt by Dr. Wiedemann.
8. The Confucianism by Robert K. Douglas.
9. The Taonism by Do.
10. Ths Idea of Soul by A. E. Crawley.
11. Tylor's Primitive culture Vol. I and II.

12 Reincarnation by E D. Walker.

13. The Belief in personal immortality by E. S. P. Haynes.

14. Republic by Plato.

15. The Trial and death of Socrates.

16. Greek Thinkers by Dr. Gomperdz. Vol. IV. (English Translation.)

17. History of Ethics by H. Sidgwick.

18. अख़लाके दिलपिज़ीर क़लंदर अली रचित [फ़ारसी]

19. रोज़तुल अस्फ़िया [फ़ारसी]

20. मिफ़ताहुल तवारीख़

21. History of Philosophy by Erdmann Vol. I. to III.

22. Spinoza. His belief ahd Philosophy by Sir Frederick Pollack Bart (2nd Edition)

23. La Manadologies par Emile Boafroux.

24. Myths and Dreams by Clodd.

25. System de-la Nature by Barond Halbach.

26. A Pluralistic Universe by W. James.

27. Varieties of Religious Experiences by W. James.

28. Jaimes-Book on Human Immortality.

29. Mechanism in Thought and Morals by O. W. Halms.
30. Some Dogmas of Religion by Dr. M. E. Taggart.
31. Religion Immortality by G. L. Dickinson.
32. Psychology by Michárl mehr.
33. Problems of Philosophy by B. Russsal.
34. Prof. Clifford's Lectures and Essay Vol. I
35. Psychology and Physiology by Prof. Munsterberg.
36. Romano, Mind, Motion and Monism.
37. First Principles (2nd Edition) by H. Spencer.
38. Evolution of mind by Joseph Tyndall.
39. Lestures and Essays by John Tyndall.
40. Do by T. H. Huxley.
41. Classification of animals by T. H. Huxley.
42. Origin of Species by Darwin.
43. The Voyage by Do.
44. The Riddle of the Universe, by E. Haekel.
45. Materialism by Darab Dinsha Kanga.
46. Theoritical Organic Chemistry by Prof. Cohen.

47. The Human Personality by Mayers Vol. I and II.
48. Psychical Research by Prof. Barret.
49. Survival of Man by Sir Oliver Lodge.
50. Sermons on Immortality by Dr. Momerie.
51. Christian Doctrine of Immortality by Dr. Salmond.
52. An Outliue of Christian Theology by Dr. W. N. Clarke.
53. Christian Truth in an age of Science by Prof. Rice.
54. Through Science to faith by Newman Smith.
55. Know Thyself by H. Solly.
56. The Drama of Life and death by Edward Carpenter.
57. Man's place in the Universe by Dr. Wallace.
58. Early History of Mankind by Z. B. Tlyor.
59. Science and Religion by Seven men of Science.
60. Life and Matter by Sir Oliver Lodge.
61. पाणिनि कृत अष्टाध्यायी
62. सत्यार्थ प्रकाश स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत.

63. सर्वार्थ सिद्धि [तत्त्वार्थ वृत्ति]
64. माण्डूक्यकारिका [गौडपादाचार्य्य कृत]
65. सर्वदर्शनसंग्रह [श्रीमाधवाचार्य्य संगृहीत]
66. The Terminology of the Vedas by P. Guru-Dutt M. A.
67. Problems of the Future by S. Laing.
68. Cant's Critique of Pure Reason.
69. यौरूपीयदर्शन पं० रामावतार पाण्डे कृत
70. पश्चिमी तर्क प्रो० दीवानचन्द्र कृत
71. गीता रहस्य हिन्दी पं० बालगङ्गाधर तिलक कृत
72. Religion of Sir Oliver Lodge by J. Mecabe
73. Evolution of Matter by Gustave Le Bon.
74. Beyond the atom by Prof. Cox.
75. Reason and Belief by Sir Oliver Lodge.
76. The World of life by Dr. Wallace.
77. What is life by F. J. Allen.
78. सुश्रुत
79. The Vedic Magazine for September 1921.
80. चित्रमय जगत् मास जनवरी सन् १९१८
81. Social environment and Moral progress by Dr. Wallace.

82. The Historian's History of the world Article written by Prof. Adolf Erman.
83. The Theism, by R. Flint.
84. Phillip's Teachings of the Vedas.
85. आईन अकबरी फ़ैज़ीकृत [अंग्रेज़ी अनुवाद]
86. Encyclopedia (some articles.)
87. Light of Asia.
88. The Life and Teachings of Buddha.
89. गीता में ईश्वरवाद, पं० ज्वालादत्त जी अनुवादित
90. विश्व प्रपंच पं० रामचन्द्र शुक्ल अनुवादित
91. कर्मयोग स्वामी विवेकानन्द कृत
92. सबूते तनासुख प० लेखराम कृत
93. The Sacred Books of the East Vols I to III.

विषय सूची।

उपोद्घात की विषय सूची।

पहला अध्याय

पहला परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

दूसरा अध्याय

पहला परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

विषय | पृष्ठ संख्या

दूसरा परिच्छेद

तीसरा परिच्छेद

चौथा परिच्छेद

विषय	पृष्ठ संख्या

पाँचवा परिच्छेद

चौथा अध्याय

पहला परिच्छेद

(आत्मा-सम्बन्धी विविध विषय)

विषय पृष्ठ संख्या

दूसरा परिच्छेद

तीसरा परिच्छेद

चौथा परिच्छेद

पाँचवा परिच्छेद

छठाँ परिच्छेद

सातवाँ परिच्छेद

आठवाँ परिच्छेद

नवाँ परिच्छेद

दसवाँ परिच्छेद

ग्यारहवाँ परिच्छेद

इति।

पुस्तक की विषय सूची।

पहला अध्याय

पहला परिच्छेद

(कतिपय प्राचीन पूर्व जातियों में प्रचलित आत्मविचार)

दूसरा अध्याय

पहला परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

सर्व जीवत्व वाद

तीसरा अध्याय

पहला परिच्छेद

(यूनान देश के दार्शनिक और आत्मविचार)

दूसरा परिच्छेद

चौथा अध्याय

पहला परिच्छेद

(कतिपय अन्य मत)

दूसरा परिच्छेद

पाँचवाँ अध्याय

पहला परिच्छेद

(यूरोप के मत)

दूसरा परिच्छेद

(यौरूप के वर्तमान युग का प्रारम्भ काल)

तीसरा परि

छठा अध्याय

पहला परिच्छेद

(यौरुप की १६वीं शताब्दी)

दूसरा परिच्छेद

यौरुप की १६वीं शताब्दी का विज्ञान और आत्मा संबंधी विचार

तीसरा परिच्छेद

सातवाँ अध्याय ।

पहला परिच्छेद

(पश्चिमी विज्ञान की २०वीं शताब्दी)

दूसरा परिच्छेद

आठवाँ अध्याय

पहला परिच्छेद

(भारतीय विद्वानों का मत)

ओ३म्

उपोद्घात

प्रथम अध्याय

पहिला परिच्छेद

प्रारम्भ

इस समय जब कि देश में आत्मशक्ति (Soul Force) का महत्त्व प्रकट हो रहा है और आत्मशक्ति को विकसित करने और उससे काम लेने के लिए देशवासियों को उत्तेजित किया जा रहा है, आत्मसत्ता और उसकी शक्तियों का विवरण देशवासियों के आगे प्रस्तुत करना कदाचित् असामयिक न समझा जायगा। पश्चिमीय सभ्यता के चमकीले प्रकाश के साथ उसकी जड़में छिपा हुआ जड़वादरूपी अंधकार भी देशमें आया और देशवासियों को उसने अपने मायाजाल में फँसाना चाहा। उसीका परिणाम यह हुआ कि देशवासियों का ध्यान देशकी मुख्य विद्या होते हुए भी, आत्मविद्या की ओर से हट गया; परन्तु

काठ की हांडी सदैव नहीं चढ़ा करती है, इसीउक्ति के अनुसार चेतन प्राणियों में जड़वाद प्रतिष्ठित न हो सका। उसकी अप्रतिष्ठा का श्रीगणेश उसकी जन्मभूमि यूरुप में हुआ, अब यूरुप में १९वीं शताब्दी के जड़वाद का स्थान, २०वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुए आत्मवाद ने लेना शुरू कर दिया है। इस परिवर्तन के प्रभाव से भारतवर्ष कैसे बच सक्ता था, अतएव यहां भी आत्मवाद की चर्चा फैली, देश में उत्पन्न हुई नवीन जागृति ने उसमें अच्छा योग दिया; फल यह हुआ कि शिक्षितसमाज जड़वाद के मायाजाल से निकलने को उत्सुक होने लगा और उसमें आत्मविद्या के जानने की रुचि बढ़ने लगी; इसलिए यह उचित समय ही जानकर मैंने इस गहन और गहन्तर विषय के स्वाध्याय में देशवासियों की सहायता करना अपना कर्तव्य ठहराया। आत्मवाद गहन होने पर भी संकुचित विषय नहीं, उसका विस्तार बड़ा और विशाल है, उसके जानने के लिए भी विशाल हृदय अपेक्षित है।

दूसरा परिच्छेद

ज्ञेय मीमांसा संसार की सब से पुरानी पुस्तक ऋग्वेद में ज्ञेय मीमांसा करते हुए ईश्वर जीव और प्रकृति को ज्ञेय बतला कर तद्विषयक ज्ञान प्राप्ति की शिक्षा दी गई है* वैदिक

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
ऋग्वेद १। १६४। २०

काल में यदि ये विषय विचारणीय समझे गए थे तो वे आज भी उसी प्रकार विचार की कोटि में हैं, संसार के उन्नत और अवनतकाल में तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार इन पर विचार होता चला आया है; पूर्वीय और पश्चिमीय सभी दर्शनों में इनकी मीमांसा की गई है। विचार के परिणाम में अवश्य विभिन्न मत हुए और होते रहेंगे, परन्तु विचारणीय विषय सबने इन्हीं को समझा। सेमुएललेंग ने एक बार कतिपय प्रश्न वैज्ञानिकों से पूछे और स्वयं भी उनके उत्तर दिए थे, † उसके प्रश्नों में मुख्य प्रश्न इन्हीं तीन नित्य द्रव्यों से संबंधित थे।

वेदों के ३३ देवता ज्ञेय पदार्थों के रूपान्तर हैं

वेदों के ३३ देवता संख्या की दृष्टि से जगत् प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे क्या हैं इसे बहुत थोड़े पुरुष जानते हैं। वेदों में अनेक मन्त्र आए हैं, जिनमें वैदिक देवताओं की संख्या ३३ वर्णन की गई है * देवता किसको कहते हैं? वेद के प्रसिद्ध

अर्थ—एक साथ रहने वाले, परस्पर मित्र दो पक्षी (ईश्वर+जीव) समान वृक्ष (प्रकृति) पर आश्रय करते हैं, उन दोनों में से एक (जीवात्मा) उस वृक्ष के फलों का भोग करता है, दूसरा (ईश्वर) न भोगता हुआ साक्षीमात्र है।

(†) Problems of the Future by S. Laing Published in R. P. A. Series.

* ऋग्वेद में निम्न स्थलों में देवताओं की संख्या ३३ वर्णन की गई है:—

मण्डल	सूक्त	मन्त्र
१	३४	११
१	४५	२
१	१३६	११
३	६	६
८	२८	२
८	३०	२
८	३५	३

इसके सिवाय अथर्ववेद काण्ड १०, सूक्त ७, मन्त्र १३, में भी ३३ ही संख्या बतलाई गई है, परन्तु ऋग्वेद ३। ६। ६ और यजुर्वेद अध्याय ३३, मन्त्र ७ में यह संख्या ३३ की जगह ३३३६ वर्णित है। यह संख्याभेद क्यों है, इसका कारण याज्ञवल्क्य ने बतलाया है और अन्त में उन्होंने कारण बतलाते हुए वास्तविक संख्या ३३ ही ठहराई है। जनक की सभा में "शाकल्य-विदग्ध" मुनि ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "वैश्यदेव" (जिन वेद-मन्त्रों में देवताओं का विधान है उन्हें वैश्यदेव कहते हैं) सम्बन्धी मन्त्रों की "निविदा" (देवता सम्बन्धी मन्त्रों के उपयोगी वाक्यों के संग्रह को "निविद" अथवा "निविदा" कहते हैं) में ३०३, और ३००३ कहे गए हैं। इस उत्तर को स्वीकार करके जब शाकल्यविदग्धने उनके नाम पूछे तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि देवता तो वास्तव में ३३ ही हैं, ३०३ और ३००३ उनकी

कोपकार यास्कमुनि निरुक्त में लिखते हैं कि प्रधानता से जिसका वर्णन हो वह देवता है* अर्थात् देवता ही ज्ञेय है उन ३३ देवताओं का विवरण इस प्रकार है:—

८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य (मास), इन्द्र (अशनि अथवा विद्युत्) और प्रजापति [यज्ञ] । आठ वसु ये हैं—

[१] अग्नि, [२ वायु (३) पृथ्वी, (४) अन्तरिक्ष, (५) द्यौ (प्रकाशक लोक), (६) चन्द्रमा, (७) आदित्य और (८) नक्षत्र। वसु वसने के अस्थानों को कहते हैं; इन्हीं आठ प्रकार के वसुगणों में प्राणी वस सक्ते हैं, इसलिये वसु कहलाते हैं। ११ रुद्र में १० प्राण और ११वां आत्मा। १२ आदित्य वर्ष के १२ मासों को कहते हैं। † इस प्रकार ये ३३ देवता हैं।

महिमा ही है। "महिमानं एवैषामेते " देवता और उनकी महिमा दोनों का योग देने से (३३ + ३०३ × ३००३ = ३३३९) यही संख्या ३३३९, जो छेद के उपर्युक्त दो स्थलों में आई है, निकल आती हैं। (देखो बृहदारण्यकोपनिषद अध्याय ३, ब्राह्मण ९, कंडिका १ का १ ख, २)

(*) प्राधान्यस्तुतिर्देवता (निरुक्त) इसी के आधार पर वेदों में वेदमन्त्रों के साथ लिखे हुए देवताओं का तात्पर्य उस मन्त्र के विषय से है अर्थात् जिस मन्त्रका देवता अग्नि अथवा आत्मा है तो उस मन्त्र में अग्नि या आत्मा काही वर्णन है, ऐसा समझना चाहिये ॥ † बृहदारण्यकोपनिषद ।३।९।३।६

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० ने यास्क के मतकी पुष्टि करते हुये कहा है * कि जिन विषयों का मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है वे ही देवता कहलाते हैं। उन्होंने "वे विषय क्या हैं?" इस पर विचार करते हुये उनके छै वैज्ञानिक विभाग किये हैं:—

(१) समय, (२) स्थान, (३) शक्ति, (४) आत्मा; (५) मनके इच्छित कार्य्य (Deliberate actvities of Mind) (६ जीवनसम्बन्धी अनिच्छित कार्य्य (Vital Activities of Mind)); उनका कथन है कि मनुष्य संसार में जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सक्ता है, वे सब के सब विषय इन्हीं छै वैज्ञानिक विभागों के अन्तर्गत होते हैं। अब इन विभागोंका ३३ देवताओंसे मिलान करना चाहिये:—

	वैज्ञानिक विभाग	वैदिक देवता
१	समय	१२ अदित्य (मास)
२	स्थान	८ वसु
३	शक्ति	१० रुद्र
४	आत्मा	११ वां रुद्र
५	मनके विचारपूर्वक कार्य्य	१ यज्ञ (प्रजापति)
६	शरीर में हुये जिवनसम्बन्धी कार्य्य	१ विद्युत (इन्द्र)
	योग:—६ वैज्ञानिक विभाग	३३ देवता

अब इन देवताओं को सूक्ष्म रूप में करें तो ११ वां रुद्र आत्मा (ईश्वर + जीव) और शेष ३२ देवता प्रकृति और उसके

* "The Terminology of the Vedas" by Pt. Guru Datt M. A.

गुणों के ही स्थानापन्न हैं। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको चाहे ईश्वर जीव, प्रकृति कह दें अथवा ३३ देवता अथवा ६ वैज्ञानिक विभाग, ये सब एक ही आशय को प्रकट करेंगे उन में अंतर कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की हुई ज्ञेयमीमांसा के वाद ज्ञेयसे संबंधित ज्ञान पर विचार करना होगा।

ज्ञेयसंन्वन्धी ज्ञान क्या है इसका विचार

क्या ज्ञेय अज्ञेय है ?

प्रारंभ करते ही पहला उत्तर यह मिलता है कि ये सब के सब ज्ञेय अज्ञेय हैं। स्पेन्सर का कथन है कि धर्म के परम सिद्धान्त (ईश्वरादि) अज्ञेय हैं, और इसी प्रकार दिशा, काल, प्रकृति, शक्ति ये विज्ञान के अंतिम स्वीकृत मंतव्य भी अज्ञेय हैं, * इसका तात्पर्य यह है कि संसार की मुख्य वस्तुओंका ज्ञान हमको हो ही नहीं सक्ता, परंतु यह विचार अप्रतिष्ठित हो रहा है। स्वयं योरुप में अज्ञेयवादकी चढ़ी हुई कमान उतर रही है। सेमुयेल लेंगकी भविष्यद्वाणी भी कि संसारका भावी धर्म अज्ञेयवाद होगा, † पूरी होती नहीं दिखाई देती, इस लिये हम भी अज्ञेंयवादकी सीमा का उल्लंघन करके ज्ञेयवादकी दुनियां में प्रविष्ट होते हैं।

* "The First Principles by. Spencer"

† "Problems of the Future" by S. laing P.90-99

दूसरा अध्याय

पहिला परिच्छेद

ईश्वरसम्बन्धी विचार

ज्ञेय वस्तुओं में सब से पहला स्थान ईश्वरको दिया गया है, इसलिये हम भी अपनी विचार शृंखला का प्रारम्भ ईश्वर से ही करते हैं। ईश्वर वाद से सम्बन्धित तीन मत हैं—

[१] अस्तिकवाद

[२] नास्तिकवाद

[३] अज्ञेयवाद

हम इन तीनों वादोंपर एक दृष्टि डालना चाहते हैं, परंतु विषय का सिलसिला ठीक करने के लिये विचार क्रम में भेद करना पड़ेगा और वह भेद इस प्रकार होगा कि प्रथम नास्तिकवाद उसके बाद अज्ञेयवाद और फिर अंत में आस्तिकवाद पर विचार किया जायगा।

नास्तिकवाद

यद्यपि नास्तिकवाद पश्चिममें उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जिस प्रकार आस्तिकवाद पूर्व में; तो भी नास्तिकवाद के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि उसका जन्म पश्चिम में हुआ। इस वादका भी जन्म भारतवर्ष में

ही हुआ था। चारवाक, आभाणक, बौद्ध और जैनमतों में उस समय से, जबकी पश्चिमीय सभ्यता का जन्मभी नहीं हुआ था, नास्तिकताके विचार पाये जाते हैं, वे विचार इस रूप में हैं कि जो जो स्वाभाविक गुण हैं उस उस से द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बन जाते हैं जगत्‌का करता कोई नहीं* । अवश्यही भारत वर्ष धर्मप्रधान देश था इसलिये नास्तिकवाद यहां फली भूत नहीं हो सका, परंतु पश्चिमी देशों और वहांकी सभ्यता में उसको उच्चस्थान मिला। कुछ समय पूर्व योरुपमें, अपने को नस्तिक कहना फ़ैशन का एक अङ्ग होगया था, अब इस फ़ैशन का उतना मान नहीं रहा जितना १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में था। जर्मनी के एक विद्वान् निटशेने तो यहां तक कहनेका साहस किया था कि "इस २०वीं शताब्दी में ईश्वरकी मृत्यु होगई †" अस्तु हम प्रथम यहां उन समस्त तर्क और युक्तियों को संक्षेप के साथ अंकित करते हैं जो नास्तिकवाद के समर्थन में पेश की जाती हैं, और फिर पीछे से क्रमपूर्वक उनपर विचार करेंगे।

नास्तिकवादके समर्थनमें तर्क

(१) जगत् नित्य है, इसी प्रकार से बना चला आता है और इसी प्रकार से बना चला जायगा, वस्तुएं स्वभावतः बनती और बिगड़ती रहती हैं।

---

* अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात स्वाभावात्तद्व्यवस्थितिः॥ चारवाक

† Nietzsche's Eternal Recurrence, Vol. xvi, P. 235—256 तिलककृत गीतारहस्य से उद्धृत पृ० २६६

(२) ईश्वरके गुण विभु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकर्ता, शिक्षक, नियन्ता, जगत् का रचयिता और संहार कर्त्ता इत्यादि प्रकृतिमें घटते हैं अतः ईश्वर कोई नहीं और ये सब गुण प्रकृतिके ही हैं, और प्रकृतिही सब कुछ है, इसके सिवा परिमित गुणवान् कोई शक्ति अनन्त हो ही नहीं सक्ती* ।

(३) जगत् में कोई नियम नहीं दीखता, सब कुछ आकस्मिक घटना प्रतीत होती है, † इसलिये किसी नियन्ताकी आवश्यकता नहीं ।

(४) ईश्वरकी सत्ता मानना इसलिये भी हानिकारक है कि उससे मनुष्यों की स्वतंत्रताका नाश होता है और व्यर्थ परतंत्र होना पड़ता है ।

(५) ईश्वरको इन्द्रियातीत बताया जाता है, इसलिये उसका निश्चयात्मक ज्ञान कभी नहीं होसक्ता ।

(६) अध्यात्मग्रन्थों में ईश्वर को अज्ञेय कहा गया है अतः उसके जानने का यत्न करना व्यर्थ है ।

(७) ईश्वरको सगुण भी बतलाया जाता है और अनेक

---

* विस्तार के लिये देखो लोकायतदर्शन ।

† "Since impartial study of the evolution of the world teaches us that there is no definite aim and no special purpose to be traced in it, there seems ta be no alrernative but to leave every thing to "blind chanch" (Riddle of the Universe.)

गुण वर्णन किये जाते हैं परंतु, प्रत्येक सगुण वस्तु नाशवान् होती है, इसलिये कोई अविनश्वर ईश्वर नहीं हो सक्ता।

मुख्य मुख्य आक्षेप जो ईश्वर की सत्ताके संबंधमें होसक्ते हैं यही हैं, अब इन पर एक दृष्टि डालनी चाहिये:—

नास्तिकताके समर्थक तर्क पर विचार

[1] जगत् [प्राकृतिक] मिश्रित वस्तुओंके समुदायका नाम है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तु आकाश [ईथर], वायु और अग्नि भी कारणरूप प्रकृतिके कतिपय परिणामों [परिवर्तनों] के बाद प्रचलित रूप में आये हैं, फिर स्थूल से स्थूल वस्तुओं के मिश्रित और अनेक परिणामोंका फल होने में तो कोई ननु नच करही नहीं सकता; जो वस्तुवें परिणामों का फल अथवा मिश्रित हैं वे नित्य नहीं हो सकतीं। उनके प्रचलित अवस्था में आनेका प्रारम्भ अवश्य एक समय में हुआ है, चाहे वह समय कितना ही लंबा क्यों न हो, जब उनका प्रारम्भ हुआ है, तो उनका अंत भी होना चाहिये, कोई सादि वस्तु अनंत नहीं हो सकती, अनादि वस्तु ही अनंत हो सकती है, अतः स्पष्ट है कि जगत् नित्य नहीं हो सकता अनित्य होने पर वह रचा हुआ माना जायगा, रचना के लिये रचयिता का होना अनिवार्य्य है। एक ओर यदि सर आइजक न्यूटन (Sir Lsaac Newton) से लेकर लार्ड केलविन (Lord Kalvin) तक प्रायः सभी उच्च कोटके पश्चिमीय वैज्ञानिक स्वीकार करते आये हैं कि, यह जगत्, रचयिताकी बुद्धि पूर्वक रचनाका परिणाम है* तो दूसरी ओर दुनियाकी सबसे प्राचीन

* Science and Religion by Seven men of Science P. 32.

पुस्तक ऋग्वेद भी यही शिक्षा देता है†

[II] नास्तिकताका आक्षेप दो भागों में विभक्त है:— [१] प्रकृति में ईश्वर के समस्त गुण पाये जाते हैं [२] परिमित गुण रखने से ईश्वर अनंत नहीं हो सकता।

दूसरा परिच्छेद

आक्षेपके पहले भाग पर विचार
ईश्वरका विभुत्व गुण

[आक्षेप] विभुत्वसे ईश्वर की व्यापकता बताई जाती है, व्यापकता विस्तार को कहते हैं, लंबाई चौड़ाई विस्तारके अङ्ग हैं। विस्तार [देश] जड़की विभुति है, देश सीमारहित है। अतएव देशही विभु [व्यापक सर्वान्तर्यामी] है [लोकायतदर्शन २, १, १०]

[समाधान] वस्तु का गुणगान, वस्तु के व्यवच्छेद के लिये किया जाता है, व्यवच्छेद एक से अधिक वस्तुकी अपेक्षा रखता है। अतः सुगमता से यह परिणाम निकल आता है कि गुण सापेक्षक होते हैं, अतः ईश्वर के गुण भी सापेक्षक हैं। सब कहते हैं कि ईश्वर विभु है तो इसका तात्पर्य्य यह है कि हम उसको परिच्छिन्न [एकदेशी] वस्तुओं से व्यवछेद [पृथक] करते हैं।

---

† सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवञ्चान्तरिक्षमथोस्वः॥ ऋग्वेद १०।१९०।३ (ईश्वर ने सूर्य और चन्द्र पृथ्वी, द्यौ और अन्तरिक्षादि, पहले की तरह रचे हैं।

गुण दो प्रकार के होते हैं, एक सत्ताद्योतक दूसरेयोग्यता-सूचक, सत्ताद्योतक गुण एक रस रहते हैं, परन्तु योग्यता-सूचक गुण गुणी में उस गुणकी निरन्तर योग्यता रहने की सूचना देते हुए भी तिरोभूत और प्रादुर्भूत होते रहते हैं। एक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जाता है। ईश्वर का विभुत्व गुण सत्ताद्योतक है, इस गुण से यह प्रकट होता है कि सत्ता ही सर्वदेशी है, उसमें यह सर्वदेशिता, तिरोभूत और प्रादुर्भूत नहीं होती, किन्तु निरन्तर एक जैसी बनी रहती है, परन्तु ईश्वर का न्यायगुण योग्यता सूचक है, इस गुण के रखने और कार्य्य में परिणत करने की योग्यता ईश्वर में अवश्य और निरन्तर रहती है, परन्तु गुण प्रकट उसी समय होता है, जब न्याय की अपेक्षा होती है, अन्यथा अप्रकट रहता है। देश अथवा जड़ वस्तु का विस्तार गुण संकोचकी अपेक्षा से कहा जाता है, वह उस वस्तुमें निरन्तर नहीं रह सकता। गर्मी मिलने से कोई वस्तु विस्तृत होजाती है, परन्तु शीत मिलने से वह विस्तार जाता रहता है। कहा जा सकता है कि संकोच होनेपर भी कुछ न कुछ विस्तार तो रहता ही है, अतः उसमें विस्तार तो निरन्तर ही रहा, परंतु जड़ वस्तु परिणामशील होती हैं, परिणाम होने पर वस्तु का नाम और रूप विशेष होजाता है, और उस अवस्था में वस्तु अवस्तु [भिन्न वस्तु] हो जाती है, फिर विस्तार और संकोच गुण किस प्रकार रह सकता है ? उदाहरण के लिये पृथ्वी को लो, इसमें इस समय लम्बाई चौड़ाई संकोच और विस्तार सब कुछ है, परन्तु अवांतर अथवा पूर्णप्रलय होने पर जब पृथ्वी इस रूप में बाकी नहीं रहती, तो उसके गुण लम्बाई चौड़ाई आदि भी

शेप नहीं रह सकते । अवश्य वे अणु अथवा परमाणु शेप रहेंगे, जिनसे पृथ्वी बनी थी; परन्तु उनका नाम न पृथ्वी होगा और न पृथ्वी के सदृश लम्बाई चौड़ाई उनमें होगी, यही अवस्था समस्त जड़ वस्तुओं की है । परन्तु ईश्वर न जड़ है, न साकार, किन्तु चेतन, अनादि और अप्राकृतिक है, अतः उसका विभुत्व एक रस वना रहता है, क्योंकि वह उसकी सत्ता है, अतः ईश्वर का विभुत्व, जड़ वस्तुओं में न है और न हो सकता है ।

ईश्वर का सर्वज्ञता गुण

(आक्षेप) प्रकृतिके सत्वगुण को जीव कहते हैं, प्रकृतिके परिणाम महत् को बुद्धि, महत्के परिणाम अहंकार को मन, और अहंकार के परिणाम पंचतन्मात्राओं को इन्द्रिय कहते हैं; और ये सब प्राकृतिक हैं । यदि जड़को चेतनके विरुद्ध माना जावे तो चेतनको जड़का ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव सर्वज्ञता भी प्रकृतिका गुण है ज्ञान ज्ञेया-नुकूल होने के कारण वर्तमान काल से परिमित है, अतएव सर्व, ज्ञता में भविष्य ज्ञान का समावेश नहीं हो सकता । इसके सिवाय ज्ञेयके परिवर्तन से ज्ञानमें परिवर्तन होना अपरिहार्य है, अतएव सर्वज्ञ का ज्ञान सदैव परिवर्तित होता रहता है। [लोकायत-दर्शन २-१-७-१९]

[समाधान] सत्वगुण को जीव कहना कल्पनामात्र है । बुद्धि, मन आदि अवश्य प्राकृतिक हैं, परंतु चेतना और ज्ञान से शून्य हैं, जब वे चेतन और ज्ञानी जीवकी आभा से आभित होते हैं तब जैसे गर्मी के प्रवेश से लोहे का गोला लाल और गर्म हो जाता है, इनमें भी बोधगुण होने की प्रतीत होने लगती है, यह बोधगुण इनमें केवल जीव के निमित्त से आता और निमित्त के

अभाव से नष्ट हो जाता है; अतः प्रकृति अथवा उसके कार्य्य बुद्धि मन आदि जड़ हैं, चेतना-शून्य हैं और सर्वज्ञता की तो कथाही क्या, अल्पज्ञता से भी रहित हैं। यह बात भी अयुक्त है कि "ज्ञान ज्ञेयानुकूल होने के कारण वर्तमानकाल से परिमित है":—एक तक्षकने १०० फीट लम्बे शहतीर को २० फीट रन्दा करके साफ कर लिया है, २० फीट की सफाई आज कर रहा है, बाकी ६० फीट की सफाई आगामी तीन दिनों में करेगा, तो इस शहतीर की सफाई का ज्ञान, ज्ञेयानुकूल होने से भूतका ज्ञान भी है, वर्तमान और भविष्यत् का भी। यह वर्तमान काल से परिमित कहाँ हुआ ? इसके सिवाय कालके विभाग [भूतादि] तो हमारी अपेक्षासे हैं, क्योंकि हम कालसे अवच्छिन्न हैं; परन्तुकाल ईश्वर के लिये अवच्छेदक नहीं "सएष पूर्वेभामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (योगसूत्र २६ समाधिपद) अतः सर्वज्ञ (ईश्वर) का ज्ञान तीनों कालोंसे संबंधित है, देश और काल उसके ज्ञानके बाधक नहीं और न हो सकते हैं। तीसरी बात यहकि ज्ञेयके परिवर्तन से ज्ञान परिवर्तित होता रहेगा' इससे भी सर्वज्ञ की सर्वज्ञताको कुछ भी बाधा नहीं पहुँच सकती. जैसा भी ज्ञेय जब होगा तब तदनुकूल ही ज्ञान होना यथार्थ ज्ञान कहला सकता है।

ईश्वरका ज्ञानदातृत्वगुण

(आक्षेप) जो प्रत्येक देशमें, प्रत्येक समय में प्रत्येक प्राणी को उपदेश दे, वही परम पुरोहित (शिक्षक) है। ये गुण संसारही में घटते अतएव संसारही परमाचार्य्य है।

(समाधान) संसार जड़ होनेसे सदैव ज्ञेयकी सीमासे बद्ध रहेगा, शिक्षा देना अथवा उस (संसार) से शिक्षा लेना सदैव

चेतनही के आधीन रहेगा। यदि जड़ वस्तु शिक्षा देनेका कार्य्य करसके तो लाखों रुपये जो प्रति वर्ष छोटे बड़े अध्यापक और प्रोफ़ेसरोंको, वेतन रूपमें देने पड़ते हैं, बच जावें, परंतु दुख यही है कि जड़ संसार शिक्षा देनेका कार्य्य कर नहीं सकता। ईश्वरके ज्ञानदातृत्वगुणका तात्पर्य्य केवल इतनाही है कि वह आदि शिक्षक है, अर्थात् जगत्के प्रारम्भमें ज्ञान दे देता है, उसके बाद उस शिक्षाका विस्तार मनुष्यों के अधीन हो जाता है।

ईश्वर का कर्म फलदातृत्वगुण

(आक्षेप) ईश्वर को न्यायी (फलदाता) कहने का अभिप्राय यह है कि प्राणियों के शुभाशुभ कर्मोंका सुखदुःखरूप फल देता है। अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्थितियों के अनुभवोंको सुखदुःख कहते हैं और स्थितिपरिवर्तन प्राणियों के प्रयत्नों का फल है, अतः प्रकृति ही साक्षात् न्यायकर्त्री है। (लो० २-१-४५)

(समाधान)—प्रकृति के न्यायकर्त्री होने का परिणाम उससे पहले प्रश्न में दिये हुए विवरण से नहीं निकल सकता दर्शनकारने अनुचित परिणाम निकाला है। वास्तवमें प्राणियोंके प्रयत्नोंका ही फल स्थितिपरिवर्तन अथवा दुःख सुख होते हैं और ये ही ईश्वरकी न्यायव्यवस्था से उसे प्राप्त होते हैं। ईश्वर अपनी ओरसे (फलरूप) दुःख सुख किसी को नहीं देता।

नोट—उपर्युक्त दर्शन के भाष्यकारने इस संबंध में कुछ प्रश्न और उत्पन्न किये हैं, उनको हम उत्तरोंके साथ नीचे लिखते हैं;—

प्रश्न-शरीररूपी बंधन में आने से पूर्व हम क्या कुकर्म करते हैं जिससे बंधन में आते हैं ?

उत्तर—मनुष्य का योनियों में आना जाना प्रवाह से अनादि है, अतएव योनियों में आने से पूर्व की खोज व्यर्थ है।

प्रश्न—सर्वत्र गुरु की शिक्षा मिलने के बाद जीव क्यों कुकर्म करता है ?

उत्तर—इसलिये कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। सत्संग और कुसंग के प्रभाव से मनुष्य की इच्छायें सदैव परिवर्त्तित होती रहती हैं और उन्हीं इच्छाओं के अनुकूल वह कर्म करता रहता है।

प्रश्न—क्या ईश्वर के (फल देने के) नियमों का प्रत्येक प्राणी को ज्ञान है ?

उत्तर—कम से कम इतना ज्ञान तो प्रत्येक प्राणी रखता ही है कि अच्छे कर्मों का अच्छा, और बुरे कर्मों का बुरा, फल मिलता है।

प्रश्न—सर्वज्ञदत्त दंड से पीड़ित प्राणियों को सहायता क्यों दी जाती है ?

उत्तर—यह सहायता देना पृथक् कर्म है, इसका उस कर्म या फल से कुछ सम्बन्ध नहीं है, जो पीड़ित प्राणी की पीड़ा के हेतु हुये थे। इस प्रकार पीड़ित प्राणियों को सहायता देना मनुष्यत्व और ईश्वरीय आज्ञाओं के अनुकूल है, इसलिये देनी चाहिये।

प्रश्न—एक प्राणी दूसरे प्राणी को हनन करता है, हन्ता फल पावेगा, परन्तु हत प्राणी व्यर्थ क्यों मारा गया ?

२

उत्तर—हन्ता का कुकर्म तो यही था कि उसने व्यर्थ एक दूसरे।
प्राणी का वध किया इसीलिये तो वह दंड पाता है।

ईश्वर का सर्वशक्तिमान् होना (आक्षेप) शक्ति जाड़ की विभूति है। जलाने की शक्ति, बुझाने की शक्ति, ये सब जड़ क्रियायें हैं, (लो० २—१—४९) ये सब शक्तियां परिमित हैं; क्रिया और समय के संबंध रूपी मान-दण्ड से प्रत्येक शक्ति नापी जाती है, अतएव व्यापक ईश्वर की शक्तियां परिमित हैं। (लो० २—१—५०) क्रियाओं के होने से शक्तियों की परिवृत्ति (उलट कर) निरंतर होती रहती है, (अतः शक्तिमान् भी एकरस नहीं हो सकता। भाष्यकार) (लो० २—१—५१)

(**समाधान**) शक्ति अवश्य जड़ है और जड़ (वस्तु) की भी वह विभूति (शक्ति) हो सकती है, परंतु इसका परिणाम उचित रीति से यह नहीं निकाला जा सकता कि वह चेतन शक्तिमान् का गुण नहीं हो सक्ती, अथवा जिसका वे गुण हों उसे जड़ही समझा जावे। इसके विरुद्ध नियम तो यह है कि जड़ शक्तियां सदैव चेतन के आधीन रहती हैं और रही यह बात कि शक्तियां परिमित होती हैं, क्योंकि क्रिया और समय के पैमाने से नापी जाती हैं। किसी अंश में तो यह कल्पना ठीक मानी जा सक्ती है, परन्तु सर्वांश में नहीं। क्योंकि क्रियायें (जलना, बुझना आदि) सदैव शक्ति के आधीन रहती हैं, अथवा क्रियायें [गतिशक्ति-Energy] ही शक्ति हैं, तो फिर क्रियाओं की अपेक्षा से शक्ति को किस प्रकार परिमित कह सक्ते हैं। यही बात समय से भी संबंधित हैं। समय की गणना (नाप)

जिन सूर्य्यादि नक्षत्रों से की जाती है वे भी तो (ईश्वर की सृष्टि कर्तृत्व) शक्ति से ही उत्पन्न होवे हैं, तो फिर शक्ति समय की नाप से सीमित कहाँ हुई। क्रियाओं के होने से शक्ति की परिवृत्ति नहीं होती किंतु शक्ति से ही क्रियायें उत्पन्न होकर परिवृत्ति में रहती हैं।

ईश्वर का नियन्ता होना

(आक्षेप) संसार में संसरण की दशा उद्भव और लय की ओर होती है। संसरण के वेग तथा मार्ग का आधार शक्ति है, जिसका द्रव्य प्रकृति है; अतः संसार नियमन प्रकृति पर अवलंबित है (लो० २५—१—५१)

(समाधान) शक्तिका द्रव्य किसी अंश में प्रकृति भी हो सक्ता है, परन्तु जड़ होने से सर्वांश में नहीं। वास्तविक द्रव्यशक्ति का शक्तिमान् चेतन ईश्वर ही है और इसीलिये वही नियन्ता भी है।

ईश्वर का कल्याणमय (दयालु) होना

(आक्षेप) देश तथा ऋतुओं के अनुसार प्रकाश, वायु, ताप, जल फलादि देने रूप दया करने वाली प्रकृति ही है। (लो० २—१—६०) ईश्वर क्षमापुञ्ज होने से किस प्रकार (न्यायविधानानुसार दंड) दे सक्ता है ? (भाष्यकार)।

(समाधान) प्रकृति जड़ है, उसको प्रकाश (अग्नि) वायु, जलादि रूप में परिवर्तित करने वाला जगत् का रचयिता ईश्वर ही है। कोई जड़ वस्तु बिना (चेतन द्वारा) गति पहुँचाये, स्वयमेव कुछ नहीं कर सकती।

भाष्यकार ने "दया और न्याय दो विरोधी गुण ईश्वर में

किस प्रकार रह सकते हैं ?" यह मनोरंजक प्रश्न उठाया है। हर्बर्ट स्पेंसर ने भी अपने अज्ञेयवाद की शिक्षा देते हुये कतिपय अन्य बातों के साथ, उपर्युक्त प्रश्न को भी समाधान रहित ठहरा कर, ईश्वर को अज्ञेय सिद्ध करने का यत्न किया है। परन्तु बड़ी भूल, जो भाष्यकार अथवा स्पेंसर ने की, अथवा अन्य भी (इस प्रश्न के उठाने वाले) किया करते हैं, यह है कि वे दया और न्याय की सीमा नहीं समझते। दया और न्याय परस्पर विरोधी गुण नहीं, किन्तु एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। दया, दयालु का वह गुण है, जो बिना कर्म की अपेक्षा के दयालु अपनी ओर से करता है, परन्तु न्याय के लिये कर्म अपेक्षित हैं। बिना कर्म के न्यायकारी फलाफल नहीं दे सकता, परन्तु दयालु बिना कर्म के दया कर सकता है। इस प्रकार इनमें कोई विरोध नहीं। अपराधों का क्षमा करना दया नहीं किन्तु अन्याय है। उसको दया समझने से ही लोग भ्रान्त हो जाते हैं।

ईश्वर सृष्टि का रचयिता और संहारकर्ता है

(आक्षेप) ये परस्पर विरुद्ध शक्तियां एक ईश्वर में कैसे रह सकती हैं ?

(भाष्यकार) (समाधान) परस्पर विरुद्ध गुण एक व्यक्ति में नहीं रह सकते, यह कोई नियम नहीं। एक कुम्हार एक सुराही बनाता है, परन्तु ठीक न बनने पर फिर बिगाड़ कर बनाना प्रारम्भ करता है। पाठशाला में हम विद्यार्थियों को मिट्टी के खिलौने आदि बनाते और बिगाड़ते नित्य प्रति देखते हैं। जब मनुष्यों में ये परस्पर विरुद्ध गुण रह सकते हैं तब ईश्वर में क्यों नहीं रह सकते ?

तीसरा परिच्छेद

प्रश्न का दूसरा भाग

परिमित गुण रखने से ईश्वर अनंत नहीं हो सकता। (लो० २—१—३) गुण परिमित क्यों हैं? दर्शनकार का कहना है कि गुण गणना में परिमित है अतः परिच्छिन्न अंकों का योग अनन्त नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त में कि "सीमित अंकों का योग असीम नहीं होता" किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, परन्तु ईश्वर के गुण परिच्छिन्न अंकवत् हैं, यही कल्पना विवादास्पद है, ईश्वर की सत्ता मानने वाले इसे स्वीकार नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये ईश्वर के "विभुत्व" को ही लीजिये? ईश्वर के विभुत्व का तात्पर्य्य यह है कि वह समस्त ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण है, अथवा आकाशवत् ब्रह्माण्ड में परिपूर्णत्व के साथ ही ब्रह्माण्ड का आधार भी है। अब "विभुत्व" गुण को परिच्छिन्न सिद्ध करने के लिये ब्रह्माण्ड की सीमा खोजनी पड़ेगी। परन्तु संसार के ज्योतिषी ब्रह्माण्ड की सीमा पाने में असमर्थ हैं। हमारे सूर्य्य के सदृश संसार में असंख्य सूर्य्य हैं। एक ज्योतिर्विद् का कथन है कि अपने इस लोक (सूर्य्यमंडल Solar System) से कम से कम दो हजार छै सौ शंख ७४ पद्म और ८० नील मील के भीतर कोई दूसरा लोक सूर्यमंडल नहीं है* और लोक असंख हैं, तो किस

* (१) देखो "चित्रमय जगत्" मासिक पत्र. पूना, मास जनवरी १६१८ ई०।

प्रकार ब्रह्माण्ड की सीमा खोजी जा सकती है। और अब ब्रह्माण्ड ही मानवी गणना की सीमा से बाहर है, तो फिर विभुत्व गुण को परिच्छिन्न किस प्रकार ठहराया जा सकता है। अतएव न गुण गणना में परिमित है, और न गुणी ईश्वर।

(३) तीसरा आक्षेप यह है कि "जगत् में कोई नियम अथवा उद्देश्य नहीं दीखता, सब कुछ आकस्मिक घटना प्रतीत होती है"। प्रोफेसर हेकलेन इस आक्षेप का समर्थन बहुत बल देकर किया है, परन्तु स्वयं उनके बाद (२० वीं शताब्दी) के वैज्ञानिक इसका विरोध करते हैं। डाक्टर फ्लेमिंग (Dr. J. A. Fleming) ने, जो इंगलैंड के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं, लिखा है कि जगत् में उद्देश्य, नियम, स्थिरता, निर्देशक शक्ति की सत्ता, बोधगम्यता आदि सब गुण पाये जाते हैं। उन्होंने नियम पाये जाने का एक उदाहरण दिया है कि सूर्य्यमंडल में एक उत्कृष्ट नियम पाया जाता है—अर्थात् प्रत्येक ग्रह का अन्तर सूर्य्य से एक दूसरे की अपेक्षा बराबर लगभग द्विगुण के होता चला गया है। यदि पृथ्वी का सूर्य्य से अन्तर १०० मील कल्पना किया जावे तो सूर्य्य से सम्बन्धित मुख्य ग्रहों की सूर्य्य से दूरी इस प्रकार होगीः—

(१) बुध ३९ (२) शुक्र ७२ (३) पृथ्वी १०० (४) मंगल १५० (५) बृहस्पति ५२० (६) शनिश्चर ९५० मील (७) अरुण (यूरैनस) १९२० (८) वरुण (नेपचून) ३००० । ये अंक लग भग द्विगुण होते हैं, यह आकस्मिक घटना नहीं है किन्तु इस से नियंता का नियम, जो सृष्ट रचना में पाया जाता है, प्रकाशित

हो रहा है।* इस प्रकार जगत् का उद्देश्य प्राणियों का कल्याण करना है, उनको अन्धकार से निकाल कर प्रकाश में लाना है, यही काम बराबर होता हुआ देखा भी जाता है।

(४) चौथा आक्षेप यह है कि ईश्वर के मानने से मनुष्य को परतंत्र होकर दुःखित होना पड़ता है, परन्तु बात ऐसी नहीं प्रत्युत इसके सर्वथा विरुद्ध है। मुक्ति जो आस्तिकता अंतिम फल है वह परम स्वतंत्रता ही है, जहाँ स्वतंत्रता की पराकाष्ठा हो जावे और उससे अधिक स्वतंत्रता की संभावना न रहे, उसी को मुक्ति कहते हैं, फिर परतंत्रता कैसी ? आस्तिकों का कहना है कि श्रद्धा के साथ ईश्वर की भक्ति करने से ही प्राणियों के हृदय प्रेम और आह्लाद से पूरित होते हैं। उपनिषदों और योगदर्शन की रचना ही इसी प्रेम को जागृत करने के वास्ते हुई है। योग के अन्तिम अंग समाधि का उद्देश्य ही यह है कि प्रेमी प्रेमपात्र के प्रेम में इस प्रकार लवलीन हो कि अपनी सुधबुध बिसार के प्रेमपात्र का तद्रूप हो जावे। आस्तिकों के हृदय ही प्राणियों के प्रेम से परिपूर्ण होते हैं और जहाँ नास्तिकता का प्रभाव पड़ता है, वहाँ सदैव निर्बलों पर अत्याचार होते हैं। भारतवर्ष धर्मप्रधान और उसके विरुद्ध योरुप नास्तिकता प्रधान देश है, दोनों में जो कुछ अन्तर है, देखा जा सकता है। भारतवासी तुच्छ से तुच्छ चींटी और मछली आदि की भी परवाह करते हैं, और उन्हें भोजन देते हुए दिखलाई देते हैं, परन्तु योरुप में

---

*Science and Religion by seven Men of Science P. 31—56

पशु और पक्षियों की तो कथा ही क्या है, निर्बल मनुष्यों तक की परवाह नहीं की जाती। उन पर धनवान् लोग तरह २ के अत्याचार करते हैं इसीलिये निर्बलों पर अत्याचार करना वहाँ की सभ्यता का एक अंग बना हुआ है। वहाँ एक कहावत प्रसिद्ध है कि "निर्बलों को रसातल में चला जाना चाहिये" (The Teakest must go down).

(५) पांचवाँ आक्षेप यह है कि "ईश्वर को इन्द्रियातीत बतलाया जाता है, इसलिये उसका निश्चयात्मक ज्ञान कभी नहीं हो सकता"। यह आक्षेप भी भ्रान्तिपूर्ण है, नियम यह है कि संसार का प्रत्येक द्रव्य (प्राकृतिक और अप्राकृतिक) अप्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष केवल गुणों का होता है उदाहरण के लिये एक पुस्तक हाथ में लेकर देखें तो पता चलेगा कि हम पुस्तक रंग रूप और लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि देखते हैं, इसके सिवा और कुछ नहीं देखते, और इस प्रकार जो देखते हैं वह पुस्तक नहीं किंतु पुस्तक के गुण ही हैं, और उन्हीं के देखने से पुस्तक प्रत्यक्ष हुआ समझा जाता है; इसी प्रकार ईश्वर के गुण सृष्टिकर्तृत्वादि को देखकर उसे भी प्रत्यक्ष हुआ समझना चाहिये। आकाश (ईथर), वायु, अणु, परमाणु और विद्युत्कणादि सभी इन्द्रियातीत हैं, परन्तु इनका हमें निश्चयात्मक ज्ञान हो सक्ता है और उसके इस ज्ञानप्राप्ति के साधन इन्द्रिय नहीं अपितु जीवात्मा है। अध्यात्मशास्त्र में वर्णित विधियों (योगाभ्यासादि) आत्मा उसका पत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया करता है।

(६) छठा आक्षेप यह है कि "अध्यात्मग्रन्थों में उसे अज्ञेय कहा गया है, इस लिये उसके जानने का यत्न वृथा है"।

इस पकार के आक्षेपों के आधार उपनिषद् के कुछेक वाक्य समझे जाते हैं। यथा—

'न विद्मो न विजानीमः'।

'नाद्विदितादथोऽविदितादधि' (केनोपनिषद्)

अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में आये हुये "नेति नेति" शब्द। परन्तु इन वाक्यों का तात्पर्य्य यह कदापि नहीं है कि ईश्वर अज्ञेय है। यह बात पूरा प्रकरण देखने से स्पष्ट हो जाती है, केनोपनिषद् का पूरा वाक्य इस प्रकार है:—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो।

"न विद्मो न विजानीमः...तद्विदितादथो अविदितादधि"

(अर्थ)—"न वहां (ब्रह्म तक) आंखें पहुंचती हैं, न वाणी और न मन इसलिये (इन इन्द्रियों द्वारा) नहीं उसको जानते हैं और न जान सकते हैं। वह (इन्द्रियों द्वारा जो कुछ जाना जा चुका है उस) जाने हुए से परे है, और न जाने हुए (जो नहीं जाना गया है, परन्तु इन्द्रिय द्वारा भविष्यत् में जाना जा सकता है) उस से भी पृथक् है"। पूरा वाक्य पढ़ लेने से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर को न जानना अथवा न जान सकना जो उपर्युक्त वाक्य में कहा गया है वह इन्द्रियों की अपेक्षा से है। इस उपनिषद् का विषय भी यही प्रकट करता है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं और इसीलिये इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। इसी प्रकार नेति नेति" शब्दों को प्रकरण के साथ देखें तो प्रकट होगा कि बृहदारण्यकोपनिषद् (अध्याय २ ब्राह्मण

३.) में वर्णित है कि जगत् के दो रूप हैं (१) मूर्त (२) अमूर्त। इनमें से मूर्त अग्नि, जल, और पृथ्वी को कहा गया है। और (२) अमूर्त शब्द आकाश और वायु के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसके बाद ब्रह्म को "नेति नेति" कहा गया है। "नेति नेति" का शब्दार्थ है "न ऐसा न ऐसा" जिसका तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म न "मूर्त" (अग्नि, जल और पृथ्वी) है, और न अमूर्त (आकाश वायु) है, अर्थात् प्राकृतिक नहीं, किन्तु अप्राकृतिक है। इन वाक्यों में अज्ञेयवाद की गंध भी नहीं।

(७) सातवां आक्षेप यह है कि "ईश्वर को सगुण भी बतलाया जाता है, और सगुण वस्तु नाशवान् होती है, अतः कोई अविनश्वर नहीं हो सकता" यह कोई नियम नहीं है, ईश्वर विधायक (न्यायकारी, दयालु आदि) गुणों के रखने से सद्गुण और निषेधक (अजर, अमरादि) गुणों के रखने से निर्गुण कहलाता है। सत्व, राजस् और तामस् गुण रखनेवाली प्रकृति ही जब नाशवान् नहीं, तो ईश्वर सगुण होने से नाशवान् क्योंकर हो सकता है?

चौथा परिच्छेद

अज्ञेयवाद

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में योरुप में अपने को अज्ञेयवादी कहना फैशन में संम्मिलित था, वहाँ के निवासियों को नास्तिक कहलाने में, संकोच होने लगा था। इसलिये उसके स्थान में अज्ञेयवाद की रचना हुई, इंगलेण्ड में

हर्बर्ट स्पेंसर और जर्मनी में ड्यू-बोइस रेमौंड (Du-Bois Reymond) इस मत के आचार्य्य समझे जाते थे, स्पेंसर ने इतना कहने पर ही संतोष किया था कि "हम ईश्वर को नहीं जानते" परन्तु रेमौंड ने एक पग और आगे बढ़ाया और "हम (ईश्वर को) नहीं जानते" (Ignoramus = we do not know) इससे बढ़कर उसने कहा कि "हम उसको मानेंगे भी नहीं" (Ignorabimus = we shall never know) कुछ लेखकों ने अज्ञेय वाद का प्रारम्भ भारतवर्ष में ही होना ठहराया था, और सांख्यदर्शन के रचयिता* कपिल और उपनिषत्कारों को इसका जन्मदाता बतलाया; परन्तु यह सर्वथा निर्मूल है, जैसा कि पहले पृष्ठों में कहा जा चुका है। अज्ञेयवाद की आयु बहुत थोड़ी निकली और यह वाद अब योरुप में भी प्रायः ढीला पड़ गया है। इन पश्चिमीय अज्ञेयवादी वैज्ञानिकों का स्थान या तो जड़वादियों ने अथवा आस्तिक वैज्ञानिकों ने ले लिया। रेमौंड के स्थानापन्न हैकल ने जड़ाद्वैतवाद (Materialistic Monism) की नींव रक्खी, और इधर इङ्गलैंड में स्पेंसर और टिंडल आदि का स्थान क्रूक्स, लाज और वालेस आदि अध्यात्मवादी वैज्ञानिकों ने लिया। यहाँ पर टिंडल और क्रूक्स दो वैज्ञानिकों के मत उद्धृत करते हैं, उन्हीं से यह बात अच्छी तरह प्रगट हो जायगी कि अब यूरुप का विचार-प्रवाह किधर है। सर विलियम क्रूक्स (Sir William Crooks) ने १८९७ ई० में ब्रिटिश ऐसोसिएशन" के सभापति की स्थिति से अपने भाषण में कहा:—२३ वर्ष

---

* देखो पुस्तक में कपिल का मत।

हुए कि इसी पद की स्थिति से एक प्रमुख विज्ञानवेत्ता (प्रोफ़ेसर टिंडल) ने एक घोषणा की थी, जिसमें मानसिक आवश्यकता से विवश हो उन्होंने परीक्षात्मक साक्ष्य की सीमा का उल्लंघन करते हुए प्रकट किया था "प्रकृति में ऐसी अव्यक्त शक्तियाँ हैं, जिनसे हम अब तक अनभिज्ञ थे, जो लौकिक जीवन में उत्पन्न करने की योग्यता रखती हैं।" परन्तु मैं इस कथन को उलट देना उचित समझता हूँ और मैं जीवन में प्रकृति की समस्त शक्तियों की योग्यता पाता हूँ, क्रूक्स के असली शब्द इस प्रकार हैं:—

"An eminent predecesor in this chair declared that by an intellectual necessity he crossed the boundary of experimental evidence, and discovered in that matter which in our ignorance of its latent power and notwithstanding our professed reverence for its Creator, has hitherto been covered with opprobrium, the potrency and promise of all terrestrial life. I should prefer to reverse; the apothegm and to say that in life I see the promise and potency of all forms of matter* ?"

*Materialism by Darab Dinsha Kanga.

पांचवां परिच्छेद ।

आस्तिक वाद

दाराशिकोह और शौपनहार के प्रियतम ग्रन्थ उपनिषदों ने ईश्वर को किस प्रकार मानना चाहिये इस पर बहुत गहरा विचार किया गया है, उनकी शिक्षा यह है कि "न तो हम यह मानते हैं कि ईश्वर को अच्छी तरह (पूर्णतया) जानते हैं और न यह कि जानते ही नहीं; ईश्वर का जानना यह है कि उसको जानते भी हैं और नहीं भी जानते" । * इसका तात्पर्य्य यह है कि हम ईश्वर को उस सीमा तक जानते और जान सकते हैं कि जहाँ तक का ज्ञान होने से हम सांसारिक दुःखों से छूट कर आनन्द (मुक्ति के सुख) को प्राप्त कर सकें; परन्तु इस से बढ़ कर और हम ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते, इसी शिक्षा को लक्ष्य में रख कर उपनिषदों में कहा गया है कि "ईश्वर एक है, समस्त विश्व (जीव † प्रकृति (को वश में रखने वाला है, संपूर्ण प्राणी और अप्राणियो के भीतर ओत प्रोत हो रहा है और एक प्रकृतिको अनेक रूपों में परिवर्तित कर देता है, उस आत्मा में स्थित (आत्मा की आत्मा) ईश्वरको ज्ञानी पुरुष (आत्मा से) प्रत्यक्ष करते हैं, उन्हीं को वास्तविक और चिरस्थायी आनंद प्राप्त हो सकता है, अन्यों को नहीं" ‡ उस ईश्वर को किस प्रकार प्रत्यक्ष कर सकते

* Materialsm by Darab Dinsha Kanga,

† तलवकारोपनिषद २।२

‡ कठोपनिषद ५।१२

हैं, इसके क्रियात्मक साधन योगदर्शन में बतलाए गए हैं जिनमें से कुछ यहां उदाहरण के तौर पर, अंकित किये जाते हैं:—

(१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (मौत से भी न डरना), शौच (शारीरिक+मानसिक शुद्धता), संतोष (उद्योग करने से जो फल प्राप्त हो उससे अधिक की इच्छा न करना, तप, (इन्द्रियनिग्रह, शीतोष्णता और भूख-प्यास को सह लेना आदि) स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति को हृदय में धारण करना।

(२) प्राणायाम के द्वारा शारीरिक और मानसिक उन्नति करना।

(३) चित्त को एकाग्र करने के अभ्यासों द्वारा आत्मिक बल बढ़ाना।

(४) फल की इच्छा छोड़कर (निष्काम) कर्म करना और ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि करना।

(५) इस प्रकार उन्नत किये हुये आत्मा को ईश्वर के प्रेम में लगाना और जगत के समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझना।

(६) प्रेम की पराकाष्ठा प्राप्त करना जिससे प्रेमी प्रेमपात्र के तद्रूप होकर एकत्वका अनुभव करने लगे। तब वह समस्त मोह और शोक से छूटकर ब्रह्मानन्द के विशाल पथ का पथिक बन जाता है। यही अष्टांग योग का अंतिम परिणाम है। यही कैवल्य समाधि है और इसी को असम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

तीसरा अध्याय

पहिला परिच्छेद

प्रकृति और जीव

प्रकृति

तीन ज्ञेय वस्तुओं में से एक प्रकृति है उसका अति संक्षिप्त विवरण देने के बाद तीसरे ज्ञेय जीवात्मा का वर्णन किया जायगा जो कि ग्रंथ का मुख्य विषय है। प्रकृति जगत् का कारण है, इसको दोनों प्रकार के जड़ वादी और अध्यात्म-वादी वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं, यही सिद्धान्त भारत-वर्ष के प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में वर्णित है। प्रकृति जब दिन-रूप "सृष्ट" अवस्था में होती तब काम करती और जब प्रलयावस्था में होती तब आराम करती है। प्रलयावस्था में प्रकृति के तीनों गुण (विभाग) साम्यावस्था में होते हैं। जब प्रलय समाप्त होती और जगत् की रचना का कार्य्य आरम्भ होता है, तब गति प्रथम विस्तृत परमाणुओं में उत्पन्न होती है। यह गति जगत् के रचयिता के परिणाम से परमाणुओं में हलचल पैदा हो जाती है और इस प्रकार प्रकृति अपनी प्रलयावस्था में प्राप्त समता को छोड़ विषमता को प्राप्त कर विकृत अवस्था में होकर, सूक्ष्म से स्थूल होना शुरू होती है:—

पहले	परिणाम को	महत् तत्त्व कहते हैं	इन्हीं के समुदाय से सूक्ष्म शरीर बनता है।
दूसरे	,,	अहंकार	
तीसरे	,,	५ तन्मात्रा (सूक्ष्म भूत)	
चौथे	,,	१० इन्द्रिय और मन	

पांचवें ,, स्थूल भूत। इनसे स्थूल शरीर बनता है।

इन्हीं ५ स्थूल भूतों आकाश, (ईथर), वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से समस्त जगत्, और उसके अंतर्गत वस्तु और प्राणियों के शरीर इत्यादि बनते हैं। प्रकृति जड़ है, ज्ञानशून्य है, और जब तक चेतन द्रव्य ईश्वर द्वारा इस में गति न उत्पन्न की जावे, स्वयमेव कुछ भी करने में असमर्थ है।

दूसरा परिच्छेद

जीवात्मा

जीवात्मा नित्य है, उसके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न है। यह बात कही जा चुकी है। ऋग्वेद में इस के संबंध में इस प्रकार वर्णित है:—"श्वास लेता हुआ, गतिमान्, शीघ्रगामी, जीवन (चेतना) युक्त, शरीरों के मध्य में स्थिरता से निवास करता है। मृतप्राणी का वह अमर जीव अनित्य प्राकृतिक भावों (कर्म + वासना) के साथ अन्य योनियों में आता जाता है।*

* अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥
ऋ० १।१६४।३०

जीव के सम्बन्ध में मुख्यतया दो प्रकार के मत और भी पाये जाते हैं (१) एक पक्ष तो यह कहता है कि जीव की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, किन्तु अविद्याग्रस्त ब्रह्म ही जीव हो जाता है। इस पक्ष को चेतनाद्वैत अथवा मायावाद कहते हैं। इस वाद के समर्थकों में मुख्य श्रीशंकराचार्य्य हैं। (२) दूसरे पक्ष का कहना यह है कि जीव शरीर के मेल ही का परिणाम है। यह पक्ष जडाद्वैतवाद (Materialistic Monism) कहा जाता है, इसके मुख्य समर्थक टिंडल, हक्सले और हैकल आदि प्रसिद्ध पश्चिमी वैज्ञानिक हैं। हम संक्षिप्त रीति से इन पक्षों पर एक दृष्टि डालना चाहते हैं।

क्या जीव और ब्रह्म एक हैं? चेतनाद्वैतवाद पर विचार

चेतनाद्वैत अथवा मायावाद के समर्थक कहते हैं कि ईश्वर निर्गुण और अव्यक्त है, मनुष्य मोह या अज्ञान से उसे सगुण अथवा व्यक्त मानते हैं,

(२) प्रकृति अथवा समस्त ब्रह्मांड ईश्वर की माया है।

(३) और जीवात्मा, परमेश्वर के समान ही निर्गुण, और अकर्त्ता है अज्ञान से उसे कर्त्ता मानते हैं।

अर्थः—(अनत्) श्वास लेता हुआ, (एजद्) गतिमान, (तुरगातु) शीघ्रगामी, (जीवम्) जीवन (चेतना) युक्त (आपस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्य) बीच में (ध्रुवं) स्थिरता से (शये) निवास करता है (मृतस्य) मृतप्राणी का (अमर्त्यो जीवो) वह अमर जीव (मर्त्येनास्वधाभि) अनित्य प्रकृतिभावों (कर्म + वासना) के साथ (सयोनिः अन्य योनियों (शरीरों) के साथ विचरता

माया क्या है ?

माया के अर्थ समझने में इस वाद के समर्थकों में मतभेद है। वेदान्त शास्त्र के भाष्य में अनेक स्थानों पर श्री शंकराचार्य्य ने माया शब्द अविद्या, अज्ञान अथवा मोह के लिये प्रयुक्त किया है, और वे इन सब शब्दों को समानार्थक ही मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने देश, काल और परिणाम के समुदाय को माया ठहराया है। पंचदशी (उत्तर कालीन मायावाद के एक ग्रंथ) में माया के भेद किये गये हैं। (१) माया (२) अविद्या और इन दोनों के दो काम बतलाए हैं। पंचदशी के लेखानुसार जब परमेश्वर माया में जिसे प्रकृति के तीन गुणों में से केवल सत्वगुण का उत्कर्ष बतलाया गया है, प्रतिबिम्बित होता है, तब वह सगुण और व्यक्त ईश्वर कहलाता है; परन्तु जब अविद्या में जिसे उसी सत्वगुण का अशुद्ध रूप बतलाया है, प्रतिबिम्बित होता है, तब उसकी जीवात्मा संज्ञा हो जाती है। पंचदशीकार ने माया और अविद्या में इस प्रकार का भेद किया है, परन्तु अधिकांश मायावादी माया और अविद्या आदि को शंकर के मतानुसार एकार्थक ही समझते हैं। माया जो कुछ भी हो उस के ठहरने का स्थान मायावाद में दिखाई नहीं देता—यदि कल्पना किया जावे कि वह ब्रह्म में रहे तो रह नहीं सक्ती क्योंकि मायावाद का ब्रह्म निर्गुण है—यदि जीव में रहने की कल्पना की जावे या जगत् में तो इन दोनों में भी नहीं रह सक्ती क्योंकि ये दोनों तो माया की ही सन्तति हैं—

निर्गुण ब्रह्म से जगत् और जीव किस प्रकार बने ?

अस्तु हमने देख लिया कि मायावाद में केवल एक तत्व जिसे निर्गुण और

अव्यक्त ब्रह्म कहते हैं, माना जाता है और कहा जाता है कि दृश्य जगत् और जीव उसी एक तत्व निर्गुण ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुए हैं। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से यह विस्तृत और दृश्यमान जगत् और उस के साथ ही जीव भी, उत्पन्न हो गये ? इसी प्रश्न का उत्तर मायावाद है।

यही प्रश्न मायावाद का मूल प्रश्न है। प्रश्न और भी गहन हो जाता है जब हम देखते हैं कि सांख्य के सदृश मायावाद भी "कारणाभावात् कार्य्याभावः" का नियम स्वीकार करता है। सब ब्रह्म निर्गुण है और इसीलिये निराकार अप्राकृतिक है तो उससे प्राकृतिक जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो गया, क्योंकि जगत्‌रूपी कार्य के लिये प्रकृतिरूपी कारण की आवश्यकता थी, और ब्रह्म में इस कारण का अभाव था।

मायावाद का उत्तर

मायावाद में इस प्रश्न के उत्तर देने के लिये मिट्टी और घड़ा, सोना और अलंकार (जेवर) तथा समुद्र और लहर, के उदाहरण दिये जाते हैं, इनमें से एक उदाहारण का स्पष्टीकरण किया जाता है। १५ तोले सोना है—प्रथम उसके कड़े बनाये गये, तब इसके रूप और नाम को जान कर लोग उसे कड़ा कहने लगे, अब वही कड़ा गलाकर उसकी हँसली बना ली गई, तब उसके रूप और नाम का ज्ञान होने से वही सोना हँसली कहा जाने लगा, इसी प्रकार तीसरी बार माला कहा जाने लगा, परन्तु वास्तव में वह १५ तोला सोना एकही तत्व था, नाम और रूप के भेद से वह कभी कड़ा कहलाया, कभी हँसली, कभी माला, इस उदाह-

हरण से मायावाद में यह परिणाम निकाला जाता है कि जिस प्रकार सोना एक तत्व होने से नाम और रूप के भेद से अनेक हो गया, इसी प्रकार जगत् में एक ही तत्व है, परन्तु नाम और रूप के भेद से यह सारा दृश्यमान जगत् उसी तत्व से प्रादुर्भूत हो रहा है। यहां एक बात हृदय पर अंकित कर लेना चाहिये कि नाम रूप के साथ वस्तु की तोल भी वस्तु के साथ ही रहती है। यद्यपि मायावादी कहते हैं कि वस्तु की तोल और जड़ता आदि गुणों का समावेश नाम और रूप में ही हो जाता है, परन्तु कम से कम तोल का समावेश नाम और रूप में नहीं हो सकता। मायावाद की परिभाषा में वह नित्य तत्व जो प्रत्येक वस्तु में रहता है "सत्तासामान्य" कहलाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक कन्ट ने दृश्य जगत् का विवेचन करते हुए वस्तु के बाहरी आकार को दृश्य "एरशायनुंग (Erschainung = Appearance) बतलाया है, और न दिखाई देनेवाले वस्तु के भीतरी भाग (तोल आदि) को "डिंगआन्‌सिच (Dingan-Sich = Thing in Itself) अर्थात् वस्तुतत्व कहा है *परन्तु मायावाद में नाम रूपात्मक द्रव्य जगत् को मिथ्या और वस्तुतत्व को सत्य कहते हैं, वही वस्तुतत्व जो सत्य है, मायावादियों का निर्गुण ब्रह्म है; परन्तु मायावाद में इस बात का कुछ उत्तर नहीं दिया गया कि वस्तुतत्व में जो तोल थी वह कहाँ से आई। इस प्रश्न को नाम रूप के ही अंतर्गत कह कर टाल दिया जाता है, जब मायावाद में ब्रह्म को जगत् का "अभिन्ननिमित्तो पादानकारण" कहा जाता है तो समझ में नहीं आता कि निर्गुण और अप्राकृतिक ब्रह्म, सगुण और प्राकृ-

* Kant's Critique of Pure Reason.

तिक जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है ? मायावाद में समस्त दृश्य जगत् को, जिसमें मनुष्य, हाथी, घोड़े, बैल, वृक्ष, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सभी प्राणि और अप्राणी सम्मिलित हैं, ज्ञान जीवात्मा को ज्ञाता और वस्तुतत्व (ब्रह्म) को ज्ञेय बतलाया जाता है † । इस प्रकार समस्त जगत् को ज्ञेय से ज्ञान की कोटि में ठहराना भी एक प्रकार का हेत्वाभास ही है। ज्ञाता और ज्ञेय का विवेचन करते हुये मायावाद, ज्ञेय ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में, उपनिषदों में बतलाये हुये ब्रह्म के स्वरूप "प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्म" (ऐ० ३–३), "विज्ञानस्वरूप ब्रह्म" (तै० ३–५) अथवा सच्चिदानंद स्वरूप, अथवा ओंकार को नाम रूप की ही श्रेणी में ठहरा कर अपना मत यह देता है कि ब्रह्म का स्वरूप सब में श्रेष्ठ होना चाहिये। और क्योंकि गीता अ० ३, श्लो० ४२ में आत्मा (जीवात्मा) को, आशा, स्मृति, वासना, धृति (मन के धर्म्म), मन और बुद्धि से श्रेष्ठ कहा गया है, अतः ब्रह्म भी आत्मस्वरूप ही है, परन्तु आत्मा क्यों नाम और रूप से पृथक् समझा जाता है, जब "ओंकार" नाम और रूप के अन्तर्गत कहा जाता है ? जगत् तो मिथ्या है, और उसे ज्ञान की कोटि में ठहरा कर उसके ज्ञेयत्व की तो मायावाद ने समाप्ति कर दी; अब जीव

† कैंट वस्तुतत्त्व को अज्ञेय कहता है, परन्तु उसका तात्पर्य्य वस्तुतत्त्व ब्रह्म नहीं किंतु प्राकृतिक द्रव्य हैं; परन्तु योगाचार (बौद्धों के एक पन्थ के अनुयायी) ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को एक प्रकार का ज्ञान बतलाकर एक ही वस्तु ज्ञान को मानते हैं। यही उनका विज्ञानवाद है।

का पर्याय आयाः—जीव पर विचार करते हुये, मायावाद कहता है कि जीव और ब्रह्म एक ही मेल के द्रव्य हैं, अर्थात् दोनों अमर और अव्यय हैं, और जो तत्व ब्रह्मांड में है वही पिंड (मनुष्य के शरीर) में भी है। अतएव जीव और ब्रह्म पृथक् नहीं किन्तु एक ही हैं। केवल माया अथवा अज्ञान से जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है, परन्तु जब जीव योगशास्त्र में वर्णित उपायों अथवा अन्य अनेक उपायों में से किसी एक का अवलम्बन करके, माया (अज्ञान) को दूर कर देता है, तब अपने को ब्रह्म ही समझने लगता है। ब्रह्म का स्वरूप निश्चय करते हुये तो उसे आत्मस्वरूप-ठहराया था,अब जब आत्मा भी ब्रह्म ही ठहराया गया तो फिर वही पृश्न सन्मुख आ जाता है कि फिर ब्रह्म क्या है। इसका अन्तिम उत्तर मायावाद की ओर से यह दिया जाता है कि परब्रह्म का अन्तिम (निरपेक्ष और नित्य) स्वरूप निर्गुण तो है ही, पर अनिर्वाच्य भी है। जगत् में एक तो तत्व ब्रह्म की कल्पना मायावाद ने की थी और अन्त में उसको भी अनिर्वाच्य ठहरा दिया। जगत् में जो कुछ दिखलाई दे, वह तो इसलियें मिथ्या है कि नाम और रूप की कोटि में है और उनके भीतर जो सत्य ब्रह्मतत्व (ब्रह्म) है वह अनिर्वचनीय है; फिर मायावाद का सिद्धान्त कोई समझे तो किस प्रकार समझे? स्वयं मायावाद के अनुयायी विद्वान् भी मायावाद की इस निर्बलता को,कि किस प्रकार निर्गुण और अव्यक्त ब्रह्म से सगुण और व्यक्त जगत् उत्पन्न हो गया, स्वीकार करते हैं। लोकमान्य तिलक ने इसी बात को इन शब्दों में लिखा है—"(निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति) सच्चा पेच है, ऐसी वैसी उलझन नहीं है, और तो क्या,

कुछ लोगों की समझ में अद्वैत (मायावाद) सिद्धान्त के मानने में यही ऐसी अड़चन है, जो सब से मुख्य, पेचदा और कठिन है। इसी अड़चन से छड़क कर वे द्वैत को अंगीकार कर लेते हैं" *पुरुष (जीव + ईश्वर) के समान ही सांख्य ने प्रकृति (जगत् के कारण) को नित्य मान कर, समस्त जगत् को उसी (कारण) का कार्य्य ठहराया है। यही सांख्य का "परिणाम अथवा सत्कार्यवाद" है। न्यायदर्शन में परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानकर कारण और कार्य्य दोनों को सत्य ठहराया है। यही न्याय का "आरम्भवाद" है; परन्तु मायावाद इस प्रकार के किसी कारण को स्वीकार न करने के कारण ही उलझन में पड़ा हुआ है। मायावाद कहता है कि ब्रह्म तो निर्गुण है, पर मनुष्य के इन्द्रिय धर्म के कारण उसी में सगुणत्व की झलक उत्पन्न हो जाती है। यही मायावाद का "विवर्तवाद" है। इन्द्रियों में सगुणत्व की झलक किस प्रकार उत्पन्न होती है, इसका समाधान नवीन प्रकाश में, इस प्रकार किया जाता है, कि कान से सुनाई देने वाला शब्द या तो वायु (ईथर) की तरंग है या गति; और इसी प्रकार आंखों से दिखाई देनेवाले रंग भी सूर्य्य के प्रकाश के विकार हैं, और प्रकाश भी एक प्रकार की गति ही है। इस प्रकार गति के एक होने पर भी कान में वह शब्द का रूप ग्रहण कर लेती है; और आंख में रंग का। इस उदाहरण के आधार पर यह कहा जाता है कि अविनाशी वस्तु (निर्गुण ब्रह्म) पर मनुष्य की भिन्न २

*गीता रहस्य हिन्दी पृष्ट २३७।

इन्द्रियां अपनी ओर से शब्द रूपादि अनेक नामरूपात्मक गुणों का अध्यारोप करके नाना प्रकार के दृश्य उत्पन्न कर लिया करती हैं; परन्तु इस समाधान का कितना मूल्य है, यह केवल इस बात पर ध्यान देने से प्रकट हो जावेगा:—कि जो शब्द सुनाई देते अथवा जो रंग दिखाई देते हैं उनका हेतु तो गति है, परन्तु निर्गुण ब्रह्म में गतिस्थानी कौनसी वस्तु है, जिससे इन्द्रियां नाना प्रकार के दृश्य उत्पन्न कर लिया करती हैं ? यदि ब्रह्म में इस प्रकार की गति के सदृश किसी वस्तु की कल्पना की जावे तो उसका निर्गुणत्व नहीं रह सकता। यदि कोई वस्तु कल्पना न की जावे तो उदाहरण देकर जो सिद्धान्त स्थिर किया गया है, उसकी संगति मायावाद से कैसे लग सकती है ? इसके सिवा इन्द्रियों में यह गुण कहां से आया कि अवस्तु में अपनी ओर से नाम रूप की कल्पना कर लेवें। इस प्रकार की अनेक उलझनें हैं, जिनका सुलझाना मायावाद के लिये कठिन हो रहा है। इसी के साथ एक और उलझन भी है, कि इन्द्रियों की अपेक्षा न करके बतलाना चाहिये कि जगत् की वास्तविक सत्ता कुछ है या नहीं। प्रश्न को और भी परिमितरूप में कर दिया जाता है:—कल्पना करो कि पृथ्वी जिस पर हम सब रहते हैं, और जिसका व्यास ८००० मील के लगभग बतलाया जाता है, और जिस पर सभी प्राणी और अप्राणि बसते हैं, और जिस पर नदियां भी हैं, समुद्र भी हैं, हिमालय जैसे बड़े पर्वत भी हैं, लोहे, कोइले, सोने, चांदी, आदि २ की खानें भी हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा न करके बतलाया जाय कि यह पृथ्वी वास्तव में कुछ है या केवल भ्रम ही भ्रम है। मायावाद का उत्तर यही हो

सक्ता है कि निर्गुण ब्रह्म के सिवा इस की सत्ता और कुछ भी नहीं है, जो कुछ दिखलाई देता है, भ्रममात्र है। अच्छा भ्रम ही सही, परन्तु यदि कोई सौ दो सौ मन का पत्थर किसी पहाड़ से किसी पुरुष पर गिर पड़े तो वह दबकर कुचला तो न जावेगा? यदि कहो कि कुचल तो जावेगा तो क्यों? क्या भ्रम ही बोझीला होता है?

अस्तु यहां अब अधिक कुछ कहने की जरूरत नहीं। हमने देख लिया कि मायावाद केवल एक तत्व निर्गुण ब्रह्म के स्वीकार करने और जीव और जगत् के कारण की स्वतन्त्र सत्ता न स्वीकार करने से, कितने उलझनों में पड़ा हुआ है?

अस्तु जीव को स्वतन्त्र स्वीकार न करने और उसे ब्रह्म का ही प्रकाश बतलाने से काम नहीं चल सक्ता। अच्छा तो क्या जीवात्मा शरीर के मेल का परिणाम है?

तीसरा परिच्छेद।

क्या जीव प्राकृतिक है?

यह कहा जा चुका है कि जीव के प्राकृतिक होने की कल्पना का जन्म पश्चिमी सभ्यता के जन्म से पहिले हो चुका था और यह भी कि इस कल्पना की जन्मभूमि भी भारतवर्ष ही है। चारवाक ने इस कल्पना का प्रचार कि "जीव शरीर के साथ उत्पन्न होकर इसी के साथ नष्ट हो जाता है" भारतवर्ष में उस समय किया था, जब योरुप की जातियां सभ्यता रहित थीं। परंतु योरुप में इस

कल्पना का जन्मदाता यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक "डिमोक्रेटस" (Democretus) को समझना चाहिये।

डिमोक्रेटस यही दार्शनिक "परमाणुवाद" का भी जन्मदाता समझा जाता है।

डिमोक्रेटस ने इस परमाणुवाद के संबंध में कुछेक नियम बनाये हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) अभाव से अभाव ही निकल सकता है। भाव का अभाव नहीं हो सकता। वस्तुओं के परिवर्तन का हेतु अणुओं का संयोग और वियोग है।

(२) अचानक (विना कारण के) कोई घटना घटित नहीं होती। प्रत्येक कार्य्य (घटना) का कारण होता है, और उसी कारण का आवश्यक परिणाम वह कार्य्य हुआ करता है।

(३) संसार में स्थित पदार्थ केवल परमाणु और आकाश (अवकाश) हैं। अन्य वस्तुओं की सत्ता का प्रकटीकरण, सम्मतिमात्र है—

(४) परमाणु संख्या और रूप-विभिन्नता में असीम हैं। उनके परस्पर संघर्षण से गति और भ्रमण उत्पन्न होकर जगत् की उत्पत्ति का कारण होते हैं।

नोट—परन्तु वह गति जिससे परमाणुओं में संघर्षण होने लगता है, कहां से आती है, यदि डिमोक्रेटस इस पर विचार करता तो उसका ध्यान जगत्कर्त्ता की सत्ता की ओर जाता, और तब वह इससे अधिक तत्वों के मानने के लिये विवश होता!

(५) वस्तुओं की संख्या, आकार और राशियों की भिन्नता

परमाणुओं की संख्या आकार और राशियों की विभिन्नता पर निर्भर है।

(६) जीवात्मा सूक्ष्म, चिकने और गोल परमाणुओं से बनते हैं, वे अग्नि के परमाणु जैसे होते हैं। ये परमाणु सब परमाणुओं से अधिक गतिमान् होते हैं और समस्त शरीर में व्यापक होते हैं, इन्हीं की गति से जीवन का कार्य्य प्रकट होता है।

इन नियमों में से छठा नियम है जिससे जीव के प्राकृतिक होने की कल्पना का प्रादुर्भाव योरुप में हुआ। परमाणुओं की गति से चेतना की उत्पत्ति की कल्पना स्वयं इन्हीं नियमों में से नियम सं० १ और २ के विरुद्ध है। परमाणुओं में चेतना का अभाव होता है, तो इन परमाणुओं के संयोग, वियोग और गति आदि से भी जो दृश्य प्रकट हों उनमें भी नियम सं० १ के अनुसार चेतना का अभाव ही रहना चाहिये। यदि चेतना का भाव हो सकता है, तो इसका तात्पर्य्य यह होगा कि नियम सं० १ के सर्वथा विरुद्ध (चेतना के) अभाव से (चेतना के) भाव की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये डिमोक्रेटस का छठा नियम न तो ठीक ही था, और न उसके अपने ही नियमों के अनुकूल। अस्तु यौरुप में जीव के प्राकृतिक होने का बीज, इस प्रकार डिमोक्रेटस ने बोया था।

इम्पीडो क्लेस

डिमोक्रेटस के थोड़े ही काल के बाद यूनान के एक दूसरे दार्शनिक "इम्पीडोक्लेस" (Empedocles) ने उसके परमाणुवाद के नियमों में दो और नियमों की वृद्धि की।

(१) परमाणुओं में इच्छा द्वेष है। (२) परमाणुओं में "समर्थावशेष" की योग्यता है*।

इम्पीडोक्लेस ने डिमोक्रेटस के छठे नियम की त्रुटि पूरा करने के लिये यह कल्पना की कि परमाणुओं में इच्छा और द्वेष के विचार होते हैं, परन्तु यह कल्पना कल्पनामात्र रही। इम्पीडोक्लेस के पश्चात् कालीन वैज्ञानिकों में हक्सले और हैकल जैसे जडाद्वैतवादी वैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं परन्तु किसी ने इस कल्पना की पुष्टि नहीं की कि परमाणुओं में इच्छाद्वेष के विचार हैं। सभी ने एक स्वर से उन्हें जड़ और चेतनाशून्य माना है। इसलिये इम्पीडोक्लेस की इस कल्पना से भी, जीव के प्राकृतिक होने के वाद की स्थापना नहीं हो सकी। इम्पीडो-क्लेस के बाद यूनान में इस श्रेणी के दो और भी दार्शनिकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने डिमोक्रेटस की पुष्टि में बहुत उत्साह दिखलाया। वे इपीक्यूरस (Epicures) और लुक्रेटियस (Lucretius) थे।

इपीक्यूरस और लुक्रेटियस

इपीक्यूरस ने जगत्कर्ता की आवश्यकता न प्रकट करते हुए, अपनी सम्मति दी कि वह नास्तिक नहीं, जो देवताओं की सत्ता अस्वीकार करता है, किन्तु नास्तिक वह है, जो उनकी सत्ता स्वीकार करता है। लुक्रेटियस ने अपना मत दिया कि "यदि तुम इन नियमों को

---

*"इम्पीडोक्लेस" का "समर्थावशेष" (Survival of the fittest) वाला नियम ही डार्विन के समर्थावशेष वाले नियम का पूरा रूप था।

समझो, और मस्तिष्क में रक्खोगे, तो देख सकोगे कि विना देवताओं के माध्यम के, सृष्टिनियम स्वतः ही समस्त जगत् रच । का कार्य्य कितनी उत्तमता और शीघ्रता से समाप्त करते हैं।"

इन जड़वादी दार्शनिकों के विचार यूनान में इनके बाद हुए दार्शनिकों की शिक्षाओं से पुष्ट न हो सके। सुकरात, अफ़लातून, अरस्तू, पाइथागोरस आदि प्रायः सभी दार्शनिक जीव की स्वतंत्र और नित्य सत्ता स्वीकार करते रहे।

योरप के मध्यकालीन युग में "मज़हब" के नाम से जब वैज्ञानिकों पर अत्याचार हुए और उन्हें जीता ही भस्मीभूत तक किया गया और अन्य भी तरह २ से कष्ट दिये गये *, तब वैज्ञानिकों में मज़हब के विरोध का संकल्प जागृत हुआ, और इस प्रकार इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिकों का ध्यान जीव और ईश्वर की सत्ता से हटा और उन्हीं ने सब काम प्राकृतिक परमाणुओं से ही चलाने का उद्योग किया परिणाम इस संघर्षण का यह हुआ कि फिर जड़वाद की जागृति हुई और यह विचार विशेष रीति से वैज्ञानिकों में बढ़ने लगा, और विज्ञान का

---

* जब इटली के वैज्ञानिक ब्रूनो (Giordano Bruno) ने प्रचार करना प्रारम्भ किया कि समस्त गृह (Fixed Stars) हमारे सूर्य्य की भांति, सूर्य्य ही हैं, और ग्रह उपग्रह इनके चारों ओर घूमते हैं, क्योंकि यह शिक्षा बाइबिल के विरुद्ध थी, अतः पादरियों ने उसे क़ैद किया, और अन्त में १६ फ़रवरी १६०० ई० को ज़िन्दा जला दिया।

एक अंग समझा जाने लगा। वैज्ञानिकों की खोज़ और अन्वेषण भी जड़वाद की सहायक हुई, उदाहरण की रीति पर एक अन्वेषण का उल्लेख किया जाता है।

१९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में "यूरिया" (Urea) जो एक अत्यन्त स्वच्छ मिश्रित वस्तु है, और जिसमें जीवन सम्बन्धी कुछ क्रियाओं का होना कल्पित किया जाता है, स्वस्थ प्राणियों के मूत्र में पाई जाती है। यह प्राणियों से ही प्राप्त वस्तु समझी जाती थी और प्राकृतिक साधनों से उसका बनाया जाना असंभव समझा जाता था; परन्तु "वुहलर" (Wohler) ने जब उसे प्राकृतिक साधनों से रसायनशाला में बना दिया, तब यह समझा जाने लगा कि जीवन सम्बन्धी अन्य बातें भी प्राकृतिक आधार रखती हैं, और कललरस आदि भी इसी प्रकार बनाये जा सकते हैं। परन्तु यह भ्रम ही भ्रम सिद्ध हुआ। यूरिया और चेतना दो पृथक् २ वस्तु हैं, एक दूसरे से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं। जो कुछ हो, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोप के वैज्ञानिकों में यह विचार बढ़ता गया कि जीवन का आधार प्राकृतिक है। यहां इस प्रकार के विचार रखने वाले वैज्ञानिकों में से हम दो का उल्लेख करेंगे जो जड़ाद्वैतवादी वैज्ञानिकों के मुकुट समझे जाते हैं:—

(१) हक्सले (२) हैकल।

हक्सले. हक्सले ने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान "जीवन के प्राकृतिक अधार" में कललरस की बनावट पर विचार करते हुये कहा था कि सब प्रकार के कललरसों में, जो अब तक जांचे गये हैं, चार मूल तत्व पाये जाते हैं। (१) कार्बन (२) हाइ-

ड्रोजन (३) ऑक्सिजन और (४) नाइट्रोजन। इनका सम्मेलन इतना गूढ़ है कि अब तक यह नहीं जाना जा सका है कि यह तत्व किस २ मात्रा में मिलाये जाने चाहिये जिससे कललरस बन सके * हक्सले ने इन तत्वों को निर्जीव बतलाया है, परन्तु इनका निर्जीव होना स्वीकार करते हुए भी लिखता है कि इन चार तत्वों में से जब कार्बन और ऑक्सिजन विशेपमात्रा में और विशेप अवस्था में मिलते हैं, तो कार्बोनिक एसिड उत्पन्न करते हैं। ऑक्सिजन और हाइड्रोजन से जल बनता है, और नाइट्रोजन और कुछ अन्य मूल भूत (जो अब तक अज्ञात हैं) जब मिलते हैं तो "नाइट्रोजनस साल्ट" पैदा करते हैं। हक्सले को स्वीकार है कि यह तीनों मिश्रित वस्तुएँ भी निर्जीव हैं, परन्तु वह कहता है कि जब यही तीनों मिश्रित वस्तुयें किसी विशेप रीति से (यह रीति भी अज्ञात है) मिलते हैं, तो अपने से भी अधिक दुर्बोध वस्तु कललरस को उत्पन्न कर देते हैं, और इसी रस से जीवन के दृश्य प्रकट होते हैं।

हक्सले का यह वाद कितना अधूरा है, यह इससे ही प्रकट है कि वह यह नहीं जानता कि नाइट्रोजनस साल्ट के निर्माण के लिये नाइट्रोजन के साथ दूसरा मूल भूत कौनसा मिलता

---

*(१) वैज्ञानिक कललरस के अवयव इन चार तत्वों को बतलाते हैं परन्तु अपने बतलाये हुये मूल भूत अवयवों से कललरस बना नहीं सकते और न बना सकने से एकही परिणाम निकाला जा सकता है कि इनको अभी तक पूरा २ ज्ञान, चेतना की तो कथा ही क्या है, कललरस का भी नहीं है।

है, वह यह भी नहीं जानता कि वह "विशेष रीति क्या है जिससे यह तीनों मिश्रित वस्तुयें मिलती हैं"। यह तो प्रश्न ही अभी पृथक् है कि कललरस में चेतना है या नहीं। हैकल ने स्वीकार किया है कि कललरस भी निर्जीव ही है, परन्तु यहां तो हक्सले तथा अन्य वैज्ञानिकों को। जिनमें हैकल भी सम्मिलित है, यह भी ज्ञात नहीं कि कललरस किस प्रकार बनता है, और वे उसके बनाने में अब तक सर्वथा असमर्थ हैं। हक्सले को अपने इस वाद की निर्बलता स्वयं भी ज्ञात होगई थी, ऐसा प्रतीत होता है, इसी लिये उसने अपने एक दूसरे पुस्तक की भूमिका में जो उपर्युक्त व्याख्यान के बाद उसने लिखी थी, और जो पशुओं के वर्गीकरण से संबंधित थी, लिखा है कि "जीव शरीर की रचना का हेतु है, परिणाम नहीं"। उसके शब्द यह हैं 'Life is the cause and not the consequence of organisation" उसने इस वाद को "उत्तमतया स्थापित वाद" कह कर लिखा है और इसी सम्बन्ध में जान हंटर का भी उल्लेख करते हुये लिखा है कि उन्होंने इस का बहुधा समर्थन किया है ऐसी दशामें जब हक्सले को अन्त में यह स्वीकार कर लेना पड़ा कि जीव शरीर से स्वतन्त्र कोई वस्तु है, और यह कि शरीर के संगठन का परिणाम नहीं, किन्तु शरीर के संगठन का कारण है, तब जीवन का प्राकृतिक आधार कहां रहा ? इस प्रकार की सम्मति देने के बाद हम हक्सले को जड़ाद्वैतवादी नहीं कह सकते।

चौथा परिच्छेद

हैक्ल

हक्सले की अपेक्षा हैकल ने जीवन के प्राकृतिक आधार की कल्पना को अधिक शृंखलाबद्ध रूप में प्रकट किया है, परन्तु चेतना का कार्य्य जड़ प्रकृति से किस प्रकार चल सकता था, इसलिये जड़प्रकृति से चेतना की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिये उसे अनेक—कम से कम सत्तरह (१७)—कल्पनायें करनी पड़ी हैं। उस का सविस्तर शृंखलाबद्ध वर्णन पुस्तक में यथास्थान अंकित हुआ है। यहां संक्षेप से उस का उल्लेख उसकी कल्पनाओं के प्रदर्शित करने के उद्देश्य से किया जाता है।

शरीर निर्माण

प्राणियों के शरीर घटकों से बने हैं। प्रत्येक घटक के दो मुख्य भाग होते हैं (१) कललरस (२) केन्द्र। समस्त घटकों में कललरस भरा रहता है। केन्द्र कुछ ठोस होता है, और कललरस से कुछ अधिक धुन्धला। हैकलने कललरस के सिवा एक मनोरस की भी कल्पना की है। उस का कहना है कि शरीर के स्थूलभाग कललरस से और सूक्ष्मभाग, जिन के द्वारा मानसिक व्यापार होते हैं, मनोरस से, निर्मित होते हैं। शरीर का निर्माण गर्भ की स्थापना द्वारा होता है, इसलिये हैकल ने वहीं से अपना कथन प्रारंभ किया है।

गर्भ

प्रथम पुरुष (वीर्य) घटक और स्त्री (रज) घटक अपने केन्द्रोंसहित गर्भाशय में मिलनेको उद्यत होते हैं, और एक अद्भुतशक्ति द्वारा, जिस का ज्ञान हैकल को

नहीं था और इसीलिये उसने इसअद्भुतशक्ति को "अलौकिकशक्ति" बतलाया हैं, वे दोनों घटक एक दूसरे की ओर वेग से आकर्षित होकर मिल जाते हैं। जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने वालों का कथन है कि बिना जीव के गर्भाशय में प्रवेश किये गर्भ की स्थापना नहीं हो सक्ती। हैकल को जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत नहीं थी अतः उसे इस अद्भुतशक्ति की कल्पना करनी पड़ी। इस शक्ति को उसने एक प्रकार की रासायनिक प्रवृत्ति प्राण से मिलती जुलती बतलाया है, यह हैकल की पहली कल्पना है, जो जड़ाद्वैतवादी होने से उसे करनी पड़ी। इसके पश्चात् हैकल कहता है कि 'इस प्रकार पुरुष और स्त्री के "संवेदनात्मक अनुभव" द्वारा-जो एक प्रकार के रासायनिक प्रेमाकर्पण" (Erotical Chemical trapism) के अनुसार होता है, एक नवीन "अंकुर-घटक" उत्पन्न हो जाता है, जिस में माता और पिता दोनों के गुणों का समावेश होता है। गर्भ की स्थापना, जिसे हैकल ने अंकुर घटक की उत्पत्ति का नाम दिया है, जीवात्मा के गर्भ में आए बिना नहीं हो सक्ती थी, अतः हैकल को एक प्रकार के रासायनिक "प्रेमाकर्पण" और जड़घटक (अंकुरघटक) में माता पिता के गुणों के (जो किसी चैतन्य वस्तु में ही आ सकते थे, आने की दूसरी कल्पना करनी पड़ी * फिर हैकल कहता है कि

*माता पिता के शारीरिक गुण दोष बालक के शरीर में आते हैं परन्तु मांसिक गुण दोष आत्मा में ही आसकते हैं अतः उनके अंकुर घटक में आनेकी कल्पना, कल्पना मात्र है, क्योंकि अंकुर घटक चेतना शून्य जड़ घटकों का समुदाय अथवा उत्तर रूप है।

" इस अंकुर (मूल) घटक के उत्तरोत्तर विभाग द्वारा बीज कलाओं की रचना द्विकल घटक की उत्पत्ति तथा अन्य अंगावयवों का विधान होता है, और इस प्रकार भ्रूण पिण्ड क्रमशः बढ़ते बढ़ते बालक के रूप में हो जाता है। हैकल कहता है कि अब तक भी बालक में चेतना नहीं होती, और उस समय तक भी चेतना बालक में नहीं होती, जब तक वह बोलने नहीं लगता। बहुत अच्छा तो इस हिसाब से गूंगा आदमी तो सदैव चेतना रहित ही रहेगा, क्योंकि न वह कभी बोलेगा और न कभी उस में चेतनाका विकास होगा ? चेतना का विकास किस प्रकार होता है, यह कथा भी सुनने योग्य है।

मनोव्यापार

"स्त्री पुरुष घटकों में केवल केन्द्र ही नहीं होते हैं किन्तु उन में एक २ घटकात्मा भी होती है इन घटकात्माओं में एक विशेष प्रकार की संवेदना और गति होती है गर्भ विधान के समय दोनों घटकों के कललरस और बीज (केन्द्र) ही मिलकर एक नहीं हो जाते,बल्कि उनकी घटकात्मायें भी परस्पर मिल जाती हैं ! अर्थात् दोनों में जो निहित या अव्यक्त गति शक्तियां होती हैं। वे भी एक नवीन शक्ति की योजना के लिये मिलकर एक हो जाता हैं , अंकुरघटक की यह नवयोजित शक्ति ही बीजात्मा है"। इस कथन में भी हैकल ने कल्पनायें की हैं अर्थात् घटक कललरस से बनते हैं कललरस कतिपय मूल भूतों (ऑक्सिजन) आदि का कार्य्य है। उपादान में जो गुण होते हैं, वही उससे निर्मित वस्तु में आते हैं। ऑक्सिजन आदि में न तो कोई विशेष प्रकार की संवेदना और गति होती हैं; न कोई निहित या अव्यक्त गति शक्तियां। उनके जो कुछ भी

गुण और कार्य्य हैं, रसायन शास्त्र में वर्णित हैं। जब उन में ...क विशेष प्रकार की संवेदना आदि नहीं है तो उनसे बने हुए ...र्थों कललरस आदि में भी यह गुण नहीं हो सकते। यह हैकल की तीसरी कल्पना है, जो उसे जीवात्मा की सत्ता न मानने से करनी पड़ी। फिर हैकल लिखता है कि "सम्पूर्ण मनोव्यापार कललरस में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार होते हैं"। कललरस के उस अंग का नाम जो मनोव्यापारों का आधार स्वरूप प्रतीत होता है, मनोरस है। मनोरस की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। आत्मा या मनको हम कललरस में हुये अन्तर्व्यापारों की समष्टि को मनोरस कहते हैं। आत्मा अथवा मनोरस की क्रियायें शरीर के द्रव्य वैकृत्यधर्म* से संबन्ध हैं। जीवात्मा का कार्य मनोरस की कुछेक रासायनिक योजना और कुछेक "भौतिक क्रिया हुये बिना नहीं हो सकता"।

कललरस के कार्य्यों का नाम आत्मा रखने में हैकल ने कतिपय कल्पनायें की हैं:—

पहिली कल्पना—"कललरस से एक अंश का, मनोव्यापारों का आधारस्वरूप प्रतीत होना"। यदि हैकल ने किसी परीक्षण

---

* घटकों या तंतुओं की वह क्रिया जिसके अनुसार वे रक्त द्वारा प्राप्त पोषक द्रव्य को अपने अनुरूप रस या धातु में परिवर्तित कर लेते हैं या घटकस्थ कललरस विश्लिष्ट करके द्रव्यों में परिणत करते हैं, जो पाचनरस बनाने और मल निकालने के काम आते हैं।

(विश्वप्रपंच)

से "कललरस को मनोव्यापारों का आधार स्वरूप होना" जाना होता, तो उसका उल्लेख वह अपने पुस्तक में करता, परन्तु समस्त पुस्तक (Riddle of the Universe) के पृष्ठ लौट जाने पर भी किसी ऐसे परीक्षण के किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता। इसके सिवा उसका " आधार स्वरूप " शब्दों के साथ " प्रतीत होना" (which seems) इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट कर देता है कि यह किसी परीक्षण का परिणाम नहीं, किन्तु कल्पना मात्र है।

दूसरी कल्पना—आत्मा के कार्य्य के लिये "कुछेक रासायनिक योजना" और कुछेक भौतिक क्रिया का होना आवश्यक है। वे कुछेक रासायनिक योजना और क्रियायें क्या हैं? कुछेक शब्द के प्रयोग से ही स्पष्ट है कि हैकल को ज्ञात नहीं थीं, तो इसको कल्पना के सिवाय क्या कहा जा सकता है?

यह चौथी और पांचवीं कल्पनायें हैं जो हैकल को आत्मा की स्वतंत्र सत्ता न मानने से करनी पड़ी हैं।

इंद्रिय और अन्तःकरण। हैकल का कथन है कि "समस्त जीव संवेदनग्राही हैं, और अपने चारों ओर स्थित पदार्थों का प्रभाव ग्रहण करते हैं, और शरीर की स्थिति के कुछ परिवर्तनों द्वारा उन पदार्थों पर भी प्रभाव डालते हैं। प्रकाश, ताप, आकर्षण, विद्युदाकर्षण, रासायनिक क्रियायें और भौतिक व्यापार सब के सब संवेदनात्मक मनोरस में क्षोभ या उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। मनोरस के संवेदन की ५ अवस्थायें हैं:

(१) जीव विधान की प्रारम्भिक अवस्था में समस्त मनोरस, संवेदनग्राही होता है, और बाहर के पदार्थों से उत्तेजना ग्रहण

करके कार्य्य करता है क्षुद्र कोटि के जीव और पौधे इसी अवस्था में रहते हैं।

नोट—हैकल के मतानुसार इन क्षुद्र जन्तुओं में चेतना नहीं होती। परन्तु देखा यह जाता है कि क्षुद्र से क्षुद्र जन्तु भी "आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत पशुभिर्नराणाम्" के प्रसिद्ध नियमानुसार अपनी रक्षा और अहार आदि की चिंता रखते हैं। विज्ञानरत्न सर जगदीशचन्द्र वसुके अन्वेषण और परीक्षणानुसार तो पौधों में भी ये गुण पाये जाते हैं तो फिर यह ज्ञान इन जन्तुओं में आत्मा की सत्ता के विना कहाँ से आया ? क्योंकि स्वयं हैकल के मतानुसार कलल रस अथवा उसका विशेषांश मनोरस दोनों ज्ञानशून्य हैं। इस प्रश्न का उत्तर हैकल ने कुछ नहीं दिया। बात तो यह है कि उसने इनमें इस प्रकार के ज्ञान होने की कल्पना ही नहीं की।

(२) दूसरी अवस्था में शरीर पर विषय विवेक रहित, इन्द्रियों के पूर्वरूप, कललरस के सुतड़ों और बिंदियों के रूप (In the form of protoplasmic filaments and pigment spots) में प्रकट होते हैं। ये चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय के पूर्वरूप होते हैं, और उन्नत अणु जीव आदि में पाये जाते हैं।

(३) इन ही मूल विधानों से विभक्त होकर इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

(४) चौथी अवस्था में समस्त संवेदना विधानों (इन्द्रिय व्यापारों) का एक स्थान पर समाहार होता है। इस समा

हार से अचेतन अंतः संस्कार उत्पन्न (अर्थात् इन्द्रिय संवेदन के स्वरूप अंकित) होते हैं।

(५) अंकित इन्द्रियसंवेदना का प्रतिबिंब संवेदना सूत्रजाल के केन्द्रस्थल में पड़ता है, जिससे अंतः साक्ष्य या स्वान्तवृत्ति बोध (Conscious Perception) पैदा होता है, जो मनुष्यों और उच्च कोटि के पशुओं में पाया जाता है।

नोट—उपर्युक्त कार्य्य, प्राणियों के शरीर में होते हैं, यह तो निर्विवाद है, अंतर केवल यह है कि आत्मवादी इन कार्य्यों का होना आत्मा की सत्ता शरीर में होने से, मानते हैं; परन्तु हैकल बिना किसी चेतनशक्ति की उपस्थिति के इनका होना मानता है, क्योंकि उसको जीवात्मा और परमात्मा दोनों की सत्ता से इन्कार है। ज्ञान और चेतनाहीन कललरस (अथवा मनोरस) में नियम पूर्वक कार्य्य करने की शक्ति को स्वीकार कर लेना कल्पनामात्र है, और "वृतिबोध" तो सर्वथा असंभव है। सब से प्रथम किसी वस्तु के बोध प्राप्त करने का विचार शरीर में उपस्थित चेतना शक्ति (आत्मा) में उत्पन्न होना चाहिये, तब उसी की प्रेरणा से मनोवृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से उस वस्तु तक पहुंच और तद्रूप होकर मन (अथवा चित्त) में लौटती है, और "स्फटिक" के सदृश मन को तद्रूप बना देती है, तब आत्मा को उसका ज्ञान होता है, और उसी ज्ञान को वस्तु (अथवावृत्ति) बोध (Conscious Perception) कहते हैं, परंतु यहाँ हैकल ने चेतना रहित शरीर में ज्ञान शून्य अंतःकरण द्वारा वृत्तिबोध की कल्पना करली, यह छठी कल्पना है जो हैकल को आत्मा की सत्ता स्वीकार न करने से करनी पड़ी।

गति हैकल महोदय कहते हैं कि समस्त जीवों में एक "स्वतः प्रवृत्तगति" की भी शक्ति होती है।

नोट—प्रश्न यह है कि यह स्वतः प्रवृत्तगति कहाँ से आई ? कललरस अथवा मनोरस अथवा उनके उपादान ऑक्सीजन आदियों में तो इस गतिका चिन्ह भी नहीं पाया जाता, क्या किसी जीवात्मा रहित शरीर का परीक्षण करके इस गतिका पता लगाया गया है ? यदि ऐसा है, तो क्यों नहीं उस परीक्षण का भी यहाँ उल्लेख कर दिया गया ? परन्तु बात यह है कि न तो कललरस आदि में ज्ञान है, और न इस प्रकार की कोई गति। अवश्य ज्ञान और गति (प्रयत्न) जीवात्मा के स्वाभाविक गुण है, और जीवात्मा के साथ ही इनकी सत्ता शरीर में भी रहती है। हैकल जीवात्मा को नहीं मानता, इस लिये अचेतन शरीर में ही उस जीव के गुण प्रयत्न की कल्पना करनी पड़ी, क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न के विना शरीर और अंतःकरण का कार्य्य चल ही नहीं सकता था। यह सातवीं कल्पना है, जो हैकल को अनात्मवादी होने से करनी पड़ी। अच्छा और आगे चलिये "सजीव मनोरस में कुछ ऐसे आन्तरिक कारण होते हैं। जिनसे उसके अणु अपना स्थान बदलते हैं। ये कारण अपनी सत्ता मनोरस के रासायनिक संयोग में ही रखते हैं। मनोरस की इन स्वतः प्रवृत्त गतियों का कुछ तो ज्ञान परीक्षणों से हुआ है, (परीक्षणों का उल्लेख नहीं किया गया, न उनका संक्षिप्त विवरण ही दिया गया है) और कुछ उनके कार्य्यों को देखकर अनुमान किये गये हैं।"

नोट—यहाँ भी "कुछ ऐसे आन्तिरिक कारण होते हैं।" यह शब्द कहकर हैकल ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है। बतलाना चाहिये था कि मनोरस का वह कौनसा और किस प्रकार का रसायनिक संयोग है जिससे मनोरस के भीतर स्वतः प्रवृत्तगति उत्पन्न होती रहती है। अवश्य कार्य्यों को देखकर भीतरी शक्तिका अनुमान किया जा सकता है, परन्तु वह भी भीतरी शक्ति हैकल के मनोरस में कल्पित भीतरी कारण नहीं है, किन्तु जीवात्मा है, जिस के गुण प्रयत्नानुसार ये सब कार्य्य होते हैं। यह हैकल की आठवीं कल्पना है।

प्रतिक्रिया

हैकल प्रतिक्रिया को जीवन का कारण समझता है। उसका कथन है कि जीवन संवेदन और गति से पैदा होता है। संवेदन और गति के संयोग से जो मूल या आदिम मनोव्यापार उत्पन्न होते हैं उन्हीं को प्रतिक्रिया कहते हैं। प्रतिक्रिया की (७) सात अवस्थायें देखी जाती हैं:—

(१) क्षुद्र अणु जीव में बाह्य जगत् की उत्तेजना (ताप, प्रकाशादि) से केवल वह गति उत्पन्न होती है, जिसे अंग वृद्धि और पोषण कहते हैं॥

(२) डोलने फिरने वाले अणु जीवों में बाहर की उत्तेजना शरीरतलके प्रत्येक स्थान पर गति पैदा करती हैं, जिससे आकृति बदलती रहती है।

(३) उन्नत कोटि के अणु जीवों में दो अत्यन्त सादे अवयव, एक स्पर्शेन्द्रिय, दूसरी गति की इन्द्रिय देखी जाती हैं, यह दोनों इन्द्रिय कललरस के बाहर निकले हुए अंकुर हैं; स्पर्शेन्द्रिय पर

पड़ी हुई उत्तेजना घटकस्थ मनोरसद्वारा गति को इन्द्रियतक पहुँ॰चाती हैं, और उसे आंकुचित करती हैं।

(४) मूंगे आदि अनेक घटक जीवों का प्रत्येक संवेदन सूत्रात्मक और पेशीतंतु युक्त घटक, प्रतिक्रिया का एक २ करण है। इस के ऊपर एक मर्मस्थल और भीतर एक गत्यात्मक पेशी-तंतु है। मर्मस्थल छूतेही पेशीतन्तु सिकुड जाती है।

(५) समुद्र में तैरने वाले कीटों में बाहर संवेदना ग्राहक घटक और चमड़े के भीतर पेशीघटक होता है इन के बीच में एक मिलाने वाला मनोरस निर्मित सूत्र है, जो उत्तेजना एक घटक से दूसरे घटक तक पहुँचाता है।

(६) बिना रीढ़वाले जन्तुओं में दो २ के स्थान में तीन २ घटक मिलते हैं। तीसरा स्वतन्त्र घटक सम्बन्ध कारक सूत्रके स्थान में है उसे मनोघटक या संवेदनग्रन्थिघटक कहते हैं। इसी के साथ अचेतन अन्तःसंस्कार उस घटक ही से पैदा होते हैं। उत्तेजना पहले संवेदनग्राही घटक से मध्यस्थ मनोघटक में पहुँचती है, जहां से क्रियोत्पादक पेशी घटक में पहुँच कर गति को प्रेरणा करती है।

(७) रीढ़ वाले जंतुओं में तीन के स्थान में चतुर्थ घटकात्मक कारण पाया जाता है।

संवेदनघटक और क्रियोत्पादक पेशीघटक के बीच में दो मनोघटक मिलते हैं। बाहरी उत्तेजना पहले संवेदनग्राही मनोघटक, फिर संकल्पात्मक घटक और फिर अन्त में आकुंचनशील पेशी-घटक में जाकर गति उत्पन्न करती है। ऐसे अनेक चतुर्थ घटात्मक करणों और नये २ मनोघटकों के संयोग से

"जटिल चेतन अन्तः करण" पैदा होता है । "प्रतिक्रिया के उपर्युक्त विवरणों से (हैकल कहता है) स्पष्ट होगया कि वही आदिम मनोव्यापार है । प्रति-क्रिया में चेतना का अभाव होता है । उत्तेजना पहुँचने से गति (बारूद के सदृश) उत्पन्न हो जाती है। चेतना केवल मनुष्यों और उन्नत जीवों में मानी जा सकती है। उद्भिदों क्षुद्रजीवों में नहीं' । इनमें उत्तेजना पाकर जो गति उत्पन्न होती है, वह प्रतिक्रिया (Instinct सहज ज्ञान) मात्र है, अर्थात् संकलित अथवा अंतःकरण की प्रेरित क्रिया नहीं है ।"

नोट—आत्मवादियों का मन्तव्य है कि शरीर की भीतर से वृद्धि (विकास) केवल उस अवस्था में होती है, जब उसमें जीव होता है । इसीलिये निर्जीव पदार्थ (पहाड़ आदि) भीतर से नहीं किन्तु बाहर से बढ़ते हैं । प्रतिक्रिया की पहली अवस्था में हैकल ने बाह्यजगत् की उत्तेजना (ताप, प्रकाश आदि) से क्षुद्र अणु जीवों की अंगवृद्धि करने वाली गतिका उत्पन्न होना प्रकट किया है । इस पर हमारा कहना यह है कि यदि जीवात्मा के अभाव में भी ताप, प्रकाशादि से प्राप्त उत्तेजना के द्वारा अंगवृद्धि और पोषणरूप गति उत्पन्न हो जाती है तो निर्जीव (जड़) पदार्थ पहाड़ आदि में उसी उत्तेजना से यह गति क्यों नहीं पैदा हो जाती ? निर्जीव में जब यह उत्तेजना अंगवृद्धि की गति उत्पन्न नहीं कर सकती, तो क्षुद्रजन्तुओं की भी इस उत्तेजना से (अथवा उससे उत्पन्न गति से) अंगवृद्धि नहीं हो सकती। हैकल की यह कल्पनामात्र है इसी प्रकार प्रतिक्रिया की छठी अवस्था तक भी तो कार्य बाहरी उत्तेजना से होना बतलाये गये हैं । वे भी

कल्पनामात्र हैं बिना शरीर में जीव के विद्यमान हुए यह कार्य नहीं हो सकते। यह हैकल की नवीं कल्पना है। प्रतिक्रिया की सातवीं अवस्था में प्रतिक्रिया के द्वारा हुए वर्णित कार्य्यों के लौट फेर से जो चेतना (संकल्प या इच्छा) की उत्पत्ति बतलाई गई है, यह हैकल ने बड़े साहस का काम किया है।

चतुर्थघटात्मक करण, मनोघटक, जीवघटक, अथवा संकल्प घटक, कुछ ही नाम क्यों न रख लिये जावें, ये सब के सब, अब तक के दिये हुए इनकी उत्पत्ति आदि सम्बन्धी विवरणों से स्पष्ट है कि, अचेतन हैं। इनमें न ज्ञान है न ज्ञानपूर्वक क्रिया। "फिर इस प्रकार के अनेक घटकों के मिलने से भी चेतना किस प्रकार उत्पन्न हो गई" यही मुख्य प्रश्न है, जिस पर प्रकाश पड़ना चाहिये था। अनेक जड़ावयव मिलकर भी चेतनाशून्य ही रहेंगे। हैकल स्वयं भी इस कठिनता का अनुभव करता था, इसीलिये उसने चेतन अंतःकरण के साथ जटिल (Intricate) शब्द का विशेषण लगाया है। प्रतिक्रिया की जो अवस्थाएँ ऊपर वर्णित हैं और उनमें जो कुछ कार्य्य प्रति क्रिया का बाह्य उत्तेजना प्राप्त होने पर दिखलाया गया है, यदि वह सबका सब उसी तौर से स्वीकार कर लिया जावे तो उसका परिणाम केवल रेंगने के सदृश एक गतिका उत्पन्न हो जाना हो सकता है। वह गति भी ज्ञानरहित होगी, उसमें चेतनामय इच्छा या संकल्प का अभाव होगा। इससे बढ़कर प्रतिक्रिया का और कुछ भी परिणाम नहीं स्वीकार किया जा सकता। हम आगे के पृष्ठों में अन्य प्रसिद्ध २ वैज्ञानिकों के मतों के भी दिखलाने का यत्न करेंगे, जिससे इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। अस्तु जड़ावयवों

से चेतना (इच्छा या संकल्प) की उत्पत्ति का बतलाना हैकल की यह दसवीं डबल कल्पना है ।

अंतः संस्कार

हैकल का कथन है कि "इन्द्रियों की क्रिया से प्राप्त बाह्य विषय का जो प्रतिरूप भीतर अंकित होता है, उसे अंतः संस्कार या भावना कहते हैं" । अन्तःसंस्कार चार रूप में देखा जाता है :—

(१) घटक गत अन्तःसंस्कार । क्षुद्र एकघटक अणु-जीवों में "अन्तःसंस्कार समस्त मनोरस का सामान्य गुण" होता है । एक प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म गोल सामुद्र अणुजीव होते हैं, जिनके ऊपर आवरण के रूप में एक पतली चित्र विचित्र खोपड़ी होती है । इस खोपड़ी की चित्रकारी सबमें ऐकसी नहीं होती भिन्न २ होती है, खोपड़ी की रचना और चित्रकारी के विचार से इस जीव के हजारों उपभेद दिखाई पड़ते हैं । किसी एक विशेष चित्रकारी वाले जीव से विभाग द्वारा जो अन्य एक-घटक जीव उत्पन्न होते हैं, उनमें भी वही चित्रकारी बनी मिलती है । इसका कारण केवल यही बतलाया जा सकता है कि "निर्माणकर्ता कललरस में अंतःसंस्कार की वृत्ति होती है और परत्व, अपरत्व संस्कार और उसके पुनरुद्भावन की शक्ति होती है ।"

नोट—हैकल में यह बड़ी योग्यता की बात थी कि जो प्रश्न आत्मा अथवा परमात्मसत्ता के माने बिना हल नहीं हो सकते वह उनको केवल जड़ प्रकृति ही के द्वारा हल कर देता था । उसकी हल करने की विधि भी बड़ी सुगम थी वह सुगम विधि केवल यह थी कि आत्मा अथवा परमात्मा के उस गुण की,

जिससे वह कार्य्य होता है, कललरस (प्रकृति) में होने की कल्पना कर लेता था। यही योग्यता उसने यहां भी खर्च की है। उसकी योग्यता देखिये :—

हैकल ने इससे पूर्व (गत पृष्ठों में) स्वयं बतलाया है कि एक घटक जीवों में इन्द्रियां और उनसे बने अन्तःसंस्कार नहीं होते। परन्तु यहां जब इन क्षुद्रजीवों की उत्पत्ति का प्रश्न कललरस में की हुई अब तक की कल्पनाओं से हल न हो सका, तो फिर नई कल्पनायें कर लीं जो ये हैं:—(पहली कल्पना) "एकघटक अणुजीवों में अन्तःसंस्कार समस्त मनोरस का सामान्य गुण है"।

नोट—अन्तःसंस्कार कललरस का सामान्य गुण मान भी लें तो प्रश्न यह है कि इन क्षुद्र जन्तुओं के ही मनोरस का यह सामान्य गुण है अथवा उन्नत जीवों मनुष्यादि के भी मनोरसों का सामान्य गुण है? यदि कहो कि नहीं; तो क्या मनोरस भी अनेक प्रकार के होते हैं? यदि उनका भी सामान्य गुण है; तो फिर उनमें इन्द्रियों की उत्पत्ति से पहले अन्तःसंस्कार क्यों नहीं काम देते और क्यों उनमें इन्द्रियों की उत्पत्ति के बाद उन पर अन्तःसंस्कारों की उत्पत्ति बतलाई गई है? साफ़ बात यह है कि हैकल को अनात्मवादी होने से इतनी कल्पनायें करनी पड़ी हैं, कि उसे पूर्वापर का ज्ञान भी नहीं रहा। आगे चलिये। (दूसरी कल्पना) जब विभाग द्वारा उत्पन्न हुये क्षुद्र जन्तुओं में चित्रकारी होने का कारण समझ में नही आया तो कितने विवशता-पूर्ण शब्दों में कहा कि "इसका कारण यही बतलाया जा सकता है कि निर्माणकर्ता कललरस में अन्तःसंस्कार की वृत्ति होती है,

और परत्व अपरत्व संस्कार और उसके पुनरुद्भावन की शक्ति होती है" । हैकल के असली शब्द ये हैं । (The construction is only intelligible when we attribute the faculty of presentation and indeed of a special reproduction of the plastic "feeling of distance" to the constructive protoplasm.) कललरस और हैकल के कल्पित मनोरस में हैकल ने एक २ करके उन समस्त गुणों की कल्पनायें करली हैं, जो चेतन शक्तियों (आत्मा और परमात्मा) में होती हैं । कुछ भी हो उसको कल्पनायें चाहे कितनी ही करनी पड़ें, परन्तु आत्मवादी होना स्वीकृत नहीं है । एक और अनोखापन उसकी कल्पनाओं में यह है कि जहां जिस जन्तु का प्रश्न सामने होता है और यदि कोई बात उसकी उत्पत्ति आदिके संबंध में नहीं समझ में आई तो उसी जन्तु के निर्माता कललरस में वह नई २ कल्पनायें कर लेता है । समस्त कललरस से 'उन कल्पनाओं का सम्बन्ध नहीं होता । क्या इस विभाग द्वारा उत्पत्ति करनेवाले जन्तुओं के निर्माता कलल के उपादान और अन्य कललरसों के उपादानों में कुछ भेद है ? यदि नहीं तो उनके गुण और शक्तियों में भेद कैसा ? अस्तु, ये ग्यारहवीं और बारहवीं कल्पनायें हैं, जो हैकल को अनात्मवादी होने से करनी पड़ीं ।

(२) तन्तुजालगत अन्तःसंस्कार समूह पिंड बनाकर रहने वाले एकघटक अणुजीवों और स्पंज आदि संवेदन सूत्र रहित क्षुद्र अनेकघटक अणुजीवों तथा पौधों के तन्तुजाल में हमें अंतःसंस्कार

की दूसरी श्रेणी मिलती है, इसमें बहुत से परस्पर संबद्ध घटकों का एक सामान्य मनोव्यापार देखा जाता है। इन जीवों में किसी एक इन्द्रिय की उत्तेजना से प्रतिक्रियामात्र उत्पन्न होकर नहीं रह जाती प्रत्युत तन्तुघटकों के मनोरस में संस्कार भी अंकित होते हैं।

(३) संवेदन सूत्रग्रन्थित अचेतन अंतःसंस्कार-यह उन्नत कोटिका अंतःसंस्कार अनेक छोटे जंतुओं में देखा जाता है; उसका व्यापार मनोघटक में ही होता है।

(४) मस्तिष्कघटकगत चेतन अंतः संस्कारः—उन्नत जीवों में अन्तर्बोध या चेतना मिलने लगती है, वह संवेदन सूत्र जाल के मध्य भाग के एक "विशिष्ट कारण की एक विशेष वृत्ति" है।..........चेतन अंतः संस्कार की योजना के लिये मस्तिष्क के विशेष २ अवयव स्फुरित होते हैं। तब अंतः संस्कार उन वृत्तियों या व्यापारों के योग्य हो जाता है, जिन्हें विचार, चिंतन बुद्धि और तर्क कहते हैं।

नोट—प्राणियों के शरीर सम्बन्धी विकास में जिसका चेतना से सम्बन्ध नहीं है किसी अधिक विवाद को जरूरत नहीं। परन्तु जहां जड़ से चेतना की उत्पत्ति बतलाई जाती है वही स्थान विवादास्पद है और उसी में हैकल भी कुछ न कुछ मनमानो स्वच्छन्द कल्पना किये विना नहीं रहता। यहां भी चेतन अन्तः संस्कार (चेतना अथवा अन्तर्बोध) का वर्णन करते हुये हैकल कहता है कि "वह संवेदन सूत्रजाल के मध्य भाग के एक विशिष्ट करण की एक विशेष वृत्ति है" (*A special function of a certain central organ of the Nervous System*) आखिर वह

कौन सा विशेष करण है जिसकी विशेष वृत्ति चेतना है ? प्रत्येक-शिक्षित पुरुष जानता है कि किसी वस्तु के अनिश्चित होने ही पर उसके लिये "एक खास" (A certain) शब्द का प्रयोग हुआ करता है। हैकल को चेतना का वास्तविक ज्ञान नहीं है कि वह किस कारण का गुण अथवा वृत्ति है, परन्तु अनात्मवादी होने से उसे चेतना का पता देना चाहिये कि वह कहाँ से आई ? इस पर उसका उत्तर यह है कि वह "एक विशेष करण की विशेष वृत्ति है" परन्तु यह कोई उत्तर नहीं है चेतना के करण को, जो आत्म-वादियों के मतानुसार जीवात्मा है, न जानने पर भी उसके मस्तिष्क में होने की कल्पना कल्पनामात्र है। यह हैकल की तेरहवीं कल्पना है।

स्मृति — स्मृति अंतः संस्कारों से संबद्ध है, जिस पर सारे उन्नत मनोव्यापार अवलम्बित हैं। बाह्य विषयों के इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ते हैं, वे मनोरस में अंतःसंस्कार के रूप में जाकर ठहर जाते हैं, और स्मृति द्वारा पुनरुद्भूत होते हैं। स्मृति की भी चार श्रेणियां हैं:—

(१) घटकगत स्मृतिः—"स्मृति सजीव द्रव्य का एक सामान्य गुण है"........(अर्थात्) अचेतन स्मृति कललाणु की एक सामान्य और व्यापक वृत्ति है,......और क्रियावान् कलल-रस के इन मूल कललाणुही में......रहती है, निर्जीव द्रव्य के अणुओं में नहीं। यही सजीव और निर्जीव सृष्टि में अन्तर है। वंशपरंपरा ही कललाणु की धारणा या स्मृति है।

(२) तन्तुगतस्मृतिः—घटकों के समान घटक जाल में भी अचेतन स्मृति पाई जाती है।

(३) उन्नत जीवों की चेतनारहित स्मृति है, जिनमें संवेदन सूत्रजाल रहते हैं।

(४) चेतन स्मृति का व्यापार मनुष्यादि उन्नत प्राणियों के कुछ मस्तिष्क घटकों में अन्तःसंस्कारों के प्रतिबिंब पड़ने से होता है। क्षुद्र पूर्वज जीवों में स्मृति के जो व्यापार अचेतन रहते हैं, वे ही उन्नत अन्तःकरणवाले जीवों में चेतन हो जाते हैं।

नोट—कललरस कहा जा चुका है कि एक चिपचिपा दानेदार पदार्थ है, और बहुत सी सूक्ष्म कणिकाओं के योग से संघटित है। ये कणिकायें कई आकार-प्रकार की होती हैं। इनमें जो विधान करनेवाली क्रियमाण मूल कणिकायें कही जाती हैं, उन्हीं कललाणुओं की, हैकल के मतानुसार, स्मृति एक सामान्य और व्यापक वृत्ति है। आत्मवादी आत्मा के साथ ज्ञानरूप में चित्त के आश्रय उसका रहना बतलाते हैं, और आत्मा के साथ ही वह दूसरे शरीरों में जाती है। आत्मा चेतनता और स्वतंत्रता से जैसा कर्म करता है, तदनुसार उसका स्मरण भी रखता है। यही स्मृति है। परन्तु अनात्मवादी स्मृति की सत्ता स्थापना किस प्रकार करें? उनके लिये एकमात्र उपाय यही था कि वे इसको भी प्राकृतिक अणुओं का गुण मान लेते। तदनुसार ही हैकल ने स्मृति को कललाणुओं की सामान्य और अत्यन्त आवश्यक वृत्ति होने की कल्पना कर ली; परन्तु प्रश्न तो यह है कि कललाणुओं में वह गुण अथवा वृत्ति कहां से आई? उन अणुओं के उपादान मौलिकों में तो उसका अभाव है। यह हैकल की चौदहवीं कल्पना है।

अंतः संस्कारों की शृंखला या भावयोजना

यह (शृंखला) प्रारंभ में अचेतन रहती है, और प्रवृत्ति (Instinct) कहलाती है; फिर क्रमशः उन्नत जीवों में चेतन होकर बुद्धि कहलाती है, और जिस प्रकार शुद्ध बुद्धि की विवेचना से यह योजना व्यवस्थित होती जाती है, उसी हिसाब से अंतःकरण की वृत्ति पूर्णता को पहुंचती जाती है। स्वप्न में यह विवेचना नहीं रहती।

नोट—स्वप्न में यह विवेचना क्यों नहीं रहती? आत्मवादी तो इसका समाधान यह करते हैं कि आत्मा शरीर और इन्द्रियों को आराम देने की दृष्टि से उनसे काम लेना बंद कर देता है, इसलिये स्वप्न और सुषुप्त अवस्था प्राप्त हुआ करती हैं। अनात्मवादी इसका समाधान क्या कर सकते हैं? हैकल इस विषय में चुप है। कदाचित् उसका ध्यान इस ओर न गया होगा, अन्यथा इसे भी वह मनोरस की अत्यन्त आवश्यक और विशेष वृत्ति बतला देता।

भाषा

वाणी की योजना भी न्यूनाधिक क्रम से जीवों में पाई जाती है। यह नहीं है कि एक मात्र मनुष्य को ही प्राप्त हो। यह पूर्णरूप से सिद्ध होगया है कि जितनी समृद्ध भाषायें हैं, सबकी सीधी सादी कुछेक आदिम भाषाओं से धीरे धीरे उन्नति करते हुये बनी हैं।

नोट—अच्छा, तो वह आदिम भाषा या भाषायें कहाँ से आईं? यह प्रश्न है जहाँ जड़वादियों की गाड़ी अटकती है। प्लेटोने भाषा को नित्य बतलाया है। प्रो० मैक्समूलर भी इसको पुष्टि करते हैं। महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि और

पूर्वमीमांसाकार जैमिनि मुनि को भी भाषा की नित्यता स्वीकृत है। अतः मानना पड़ेगा कि आदिम भाषा नित्य है, और अन्य भाषायें उसका रूपान्तर हैं, अर्थात् उसी के लौट फेरसे बनी हैं।

अन्तःकरण के व्यापार

अन्तःकरण के व्यापारों के द्वारा जो उद्वेग कहलाते हैं, मस्तिष्क के व्यापारों और शरीर के अन्यव्यापारों (हृदयकी धड़कन आदि) इन्द्रियों के क्षोभ और पेशियों की गति के बीचका सम्बन्ध अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है। समस्त उद्वेग इन्द्रिय संवेदन और गति इन्हीं दो मूल व्यापारों के योग से प्रतिक्रिया और अन्तःसंस्कारों द्वारा बने हैं। राग और द्वेष का अनुभव इन्द्रिय संवेदन के अंतर्गत और उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति का उद्योग गति के अंतर्भूत हैं। आकर्षण और विसर्जन इन्हीं दोनों क्रियाओं के द्वारा संकल्प की सृष्टि होती है, जो व्यक्ति का प्रधान लक्षण है। मनोवेग भी उद्वेग का विस्तार-मात्र है।

नोट—"रागद्वेषका अनुभव संवेदना के अन्तर्गत और उनके अनुकूल उद्योग करना यह गति की सीमा में है, और यह संवेदन और गति कललरस का धर्म है इसका तात्पर्य्य यह है कि हैकल रागद्वेष को प्राकृतिक अणुओं के अन्तर्गत मानता है, जैसा कि ग्रीस का एक प्राचीन जड़ाद्वैतवादी दार्शनिक "इम्पीडोक्लस" मानता था। अब जोजेफ मैकेब को बतलाना चाहिए कि क्या समझ कर उसने यह दावा किया था कि हैकल अणुओं में इच्छाद्वेष नहीं मानता था। (Religion of Sir Oliver Lodge by J. Mecobe P. 91).

परन्तु हमारा आक्षेप तो यह हैकि जब कललरस के उपादान

मौलिकों में इच्छाद्वेष नहीं है, तो उनके कार्य्य कललरसादि में भी कहां से आसकते हैं। रागद्वेष यान्त्रिक कर्म नहीं हैं, किन्तु सुबोध प्राणी के भीतर विचार का परिणाम हैं। और इस विचार के लिये चेतना का होना अनिवार्य है। तो जब तक परीक्षा करके यह न दिखला दिया जावे कि अमुक मौलिक अथवा कतिपय मौलिकों के संघात में सज्ञान और विचारकी योग्यता है, उस समय तक रागद्वेषों को कललरस अथवा उसके भी कार्य्यरूप किसी वस्तु में होने का दावा, दावा-मात्र है। यह हैकल की पन्द्रहवीं कल्पना है।

संकल्प

"संकल्प, मनोरस का व्यापकगुण है"। जिन जिन जीवों में प्रतिक्रियाका त्रिधात्मक कारण (मनोघटक) होता है उन्हीं में संकल्प नामक व्यापार देखा जाता है। क्षुद्रजीवों में यह संकल्प अचेतन रूप में रहता है। जिन जीवों में चेतना होती है अर्थात् इन्द्रियों की क्रियाओं का प्रतिबिम्ब अन्तः करण में पड़ता है उन्हीं में संकल्प उस कोटिका देखा जाता है, जिनमें स्वतन्त्रता का आभास जान पड़ता है।

नोट—आकर्षण और विसर्जन के द्वारा संकल्प की उत्पत्ति हैकल के मतानुसार होती है। परन्तु वह संकल्प को मनोरस का एक व्यापक गुण भी बतलाता है। उसके शब्द (हैकल की पुस्तक के अंगरेजी अनुवाद के) ये हैं:—

"It is a Universal property of living psycho-plasm" जब संकल्प मनोरस का व्यापकगुण है तो "गुण गुणी से पृथक् नहीं होता" इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ भी मनो-

रस हो, वहां उसमें संकल्प (उसका व्यापक गुण) भी होना चाहिये। और मनोरस से शून्य तो क्षुद्र एकाणु जंतु भी नहीं, इसलिये संकल्प की सत्ता उसमें भी होनी चाहिये। इस कठिनाई से बचने के लिये हैकलने दूसरा पैतरा बदला। उसने कहा कि क्षुद्र जन्तुओं में संकल्प अचेतन रूप में रहता है! प्रश्न यह है कि अचेतन रूप में क्यों रहता है? जिस संकल्प को मनोरस का व्यापक गुण बतलाया जाता है, वह संकल्प चेतन है या अचेतन? यदि कहो कि अचेतन, तो उन्नत जीवों में एक तीसरे कल्पित मनोघटक के उत्पन्न होने से चेतन कैसे होसकता है? मनोघटक भी तो अचेतन ही है, जब यहाँ सभी अवयवों में चेतनाका अभाव है, तो अवयवी में चेतना का भाव कहां से आसक्ता है? यदि कहो कि (वह व्यापक गुण रूप संकल्प) चेतन है, तो फिर क्षुद्र जन्तुओं में अचेतन रूप में कैसे रह सक्ता है?

इस प्रकार के तर्क के सन्मुख न ठहरनेवाली कल्पनाओं से एकाणुवाद की स्थापना नहीं हो सकती। कललरस अथवा मनोरस जड़प्रकृति का कार्य न हुआ "भानुमती का पिटारा" हो गया कि जिसमें से सब कुछ (जड हो या चेतन) आवश्यकतानुसार निकल सकता है। अतः संकल्प न मनोरस का व्यापक गुण है और न आकर्षण और विसर्जन से पैदा होता है, किन्तु जीवात्मा की सज्ञान और स्वतन्त्रतापूर्ण क्रिया है, जिसको जीवात्मा विचारपूर्वक जहां चाहता है,काम में लाता और ला सकता है। जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार किये विना संकल्प का प्रश्न एकणुवाद से हल नहीं हो सकता। संकल्प के मनोरस

के व्यापक गुण होने की सोलहवीं कल्पना है, जो हैकल को अनात्मवादी होने से करनी पड़ी।

मनोव्यापार

मनुष्यादि समुन्नत जीवों के मनोव्यापार एक मानसिक यन्त्र या करण द्वारा होते हैं। इस यंत्र के तीन मुख्य भाग हैं।

(१) वाह्यकरण-(इन्द्रियाँ) जिनसे संवेदन होता है।

(२) पेशियां—जिनसे गति होती है।

(३) संवेदनसूत्र—जो इन दोनों के बीच मस्तिष्करूपी प्रधान करण के द्वारा सम्बन्ध स्थापति करते हैं। मनोव्यापार के साधन, इस आन्तरिक यन्त्र की उपमा, तार से दी जाया करती है। संवेदनसूत्र तार हैं, इन्द्रियाँ छोटे स्टेशन हैं, मस्तिष्क सदर स्टेशन हैं, गतिवाहक सूत्र संकल्प के आदेश को सूत्रकेन्द्र या मस्तिष्क वहिर्मुख द्वारा पेशियों तक पहुँचाते हैं, जिनके आकुंचन से अंगों में गति होती है। संवेदन वाहकसूत्र इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त संवेदना को अन्तर्मुख गति से मस्तिष्क में पहुँचाते हैं। मस्तिष्क अन्तःकरणरूपी मनोव्यापार केन्द्र ग्रन्थिमय होता है। इन सूत्र-ग्रन्थियों के घटक सजीव द्रव्य के सबसे समुन्नत अंग हैं। इनके द्वारा इन्द्रियों और पेशियों के बीच व्यापार सम्बन्ध तो चलता ही है, इसके अतिरिक्त भाव ग्रहण, और विवेचन आदि अनेक मनोव्यापार होते हैं।

नोट—मनोव्यापार का उपर्युक्त विवरण जहाँ तक यान्त्रिक है निर्विवाद है। आत्मवादी और अनात्मवादी दोनों को एक जैसा स्वीकृत है। परन्तु उपर्युक्त तारघर और स्टेशन विना

स्टेशन मास्टर के ही वर्णित हुआ है। स्टेशन मास्टर का स्थान रिक्त है, जिसकी आज्ञा से यह समस्त यान्त्रिक कार्य्य होता है! हैकल उत्तर दे सकता है कि संकल्प के आदेश से ये सब काम होते हैं अतः यही स्टेशन मास्टर है। परन्तु संकल्प तो अपनी सत्ता की दृष्टि से स्वयं जड़ अथवा यंत्रवत् है। संकल्प की डोरी के लिये हिलानेवाले की जरूरत है। यदि कहो कि संकल्प स्वयं अपनी डोरी हिलाता है, तो अब तक के सारे वर्णन में यह बात नहीं बतलाई गई कि "अमुक काम करना चाहिये अमुक नहीं" यह ज्ञान कहाँ से और किस प्रकार से संकल्प में आता है। मुख्य प्रश्न यही है जो पहले नोटों में भी बतलाया जा चुका है। इसका उत्तर हैकल के समस्त ग्रन्थ के पढ़ जाने से भी नहीं मिलता।

चेतना

चेतना एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि है, वह दो प्रकार की होती है (१) अन्तर्मुख (२) बहिर्मुख। चेतना का क्षेत्र संकुचित होता है, उसमें हमारे इन्द्रियानुभव संस्कार और संकल्प, प्रतिबिम्बित होते हैं। चेतना का परिज्ञान हमें चेतना के ही द्वारा हो सकता है। उसकी वैज्ञानिक परीक्षा में यही बड़ी भारी अड़चन है। परीक्षक भी वही परीक्ष्य भी वही द्रष्टा अपना ही प्रतिबिम्ब अपनी अन्तः प्रकृति में डालकर निरीक्षण में प्रवृत्त होता है अतः हमें दूसरों की चेतना का परीक्षात्मक बोध पूरा २ कभी नहीं हो सकता। चेतनासम्बन्धी दो प्रकार के बाद हैं (१) "सर्वातिरिक्त" अथवा आत्मा का शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्तावाला होना (२) शरीर धर्मवाद" अथवा शरीर के मेल का परिणाम। जड़ाद्वैतवाद दूसरे वाद का पोषक

। है चेतना का अधिष्ठान मस्तिष्क के भूरे रंगवाले मज्जापटल का एक विशेष भाग है ।

नोट—चेतना के उपर्युक्त विवरणों के साथ ही हैकल का दार्शनिक (जड़ाद्वैत वाद, जहाँ तक उसका सम्बन्ध शरीर रचना से है, समाप्त होता है । हैकल को जड़ाद्वैतवाद का भारी भवन बनाने के बाद पता चला कि यह भवन निराधार है । इसकी बुनियाद कुछ नहीं, अपितु पृथिवी से चार इंच की ऊँचाई पर इस भवन की बुनियाद है जिससे यह ठहर नहीं सकता और इसका गिरता अनिवार्य्य है । इस सूत्र की व्याख्या यह है कि चेतना का विवरण देते हुए हैकल ने दो बातें स्वीकार की हैं:—

(१) अपने से भिन्न प्राणियों की चेतना परीक्षात्मक बोध पूरा २ कभी नहीं हो सकता ।*

(२) अपनी चेतना के सम्बन्ध में वह (हैकल) कहता है कि चेतना का परिज्ञान हमें चेतना के ही द्वारा हो सकता है । यही उसकी वैज्ञानिक परीक्षा में वड़ी भारी अड़चन है †

जब न अन्यों की चेतना की परीक्षा हो सकती है और न अपनी चेतना की, तो फिर हमें चेतना का परीक्षात्मक

* (१) अंगरेज़ी भाषा के शब्द जो हैकल के जर्मन शब्दों के अनुवाद हैं, ये हैं:—

"Thus we can never have a complete objective certainity of the consciousness of others.

† The only source of our knowledge of consciousness, is that faculty itsolf ; that is the chief

बोध हो ही नहीं सकता, यही स्वीकार करने के बाद हैकल की इस शिक्षा का कि आत्मा (चेतना) शरीर के मेल का परिणाम है, क्या मूल्य शेष रह जाता है ! आत्मवाद और अनात्म (जड़ाद्वैत) वाद में अन्तर तो केवल इतना ही है कि प्रथमवाद आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, जब कि द्वितीयवाद उसे प्राणियों के शरीर के मेल का परिणाम बतलाता है । और इन दोनों वादों के निर्णय का मूलाधार आत्मा (चेतना) का परीक्षात्मक) बोध होना है । जड़ाद्वैतवाद का आचार्य्य (हैकल) स्वीकार करता है कि मनुष्य को (चेतना का) बोध नहीं हो सकता, तो बोध न होने पर भी (चेतना के सम्बन्ध में) किस प्रकार कोई सम्मति दी जा सकती है ? ऐसी अवस्था में हैकल का यह कहना कि आत्मा (चेतना) शरीर के मेल का परिणाम है कल्पनामात्र है, और यह हैकल की सत्रहवीं कल्पना है ।

cause of the extraordinary difficulty of subjecting it to scientific research (Riddle of the Universe by Ernest Haeckel. P. 14 & 15.

पाँचवाँ परिच्छेद ।

यद्यपि जब हमने देख लिया कि जीव न ब्रह्म है न प्राकृतिक तत्वों के मेल का परिणाम तो उचित रीति से जो परिणाम निकाला जा सकता है वह केवल यह कि जीव की स्वतंत्रसत्ता है और वह प्रकृति और ब्रह्म दोनों से भिन्न वस्तु है तब भी कुछेक विचार उपस्थित किये जाते हैं जो जीव की स्वतंत्र सत्ता प्रमाणित करते हैं:—

पहला विचार

जब बाह्य और अन्त:करण सभी क्लोरोफ़ार्म या समाधी के द्वारा बेकार कर दिये जाते हैं तब भी प्राणियों के शरीर जीवित प्राणियों के सदृश बने रहते हैं न बेकार होते न सड़ते गलते हैं—इस लिये किसी ऐसी सत्ता का शरीर में मौजूद रहना विवश होकर मानना पड़ता है जो इन्द्रियों से भिन्न हो और जिस की उपस्थिति का यह फल होता है कि इन्द्रियों के बेकार होने पर भी शरीर सड़ने गलने से सुरक्षित रहता है—समाधिस्थ पुरुषों के अनेक उदाहरण अब भी मिलते हैं—महाराजा रंजीतसिंह का किया हुआ परीक्षण प्रसिद्ध ही है जिस में एक योगी ४० दिन तक समाधिस्थ रहा और एक सन्दूक़ के भीतर बन्द करके रक्खा गया था और जिसकी कुंजी महाराज के कोषाध्यक्ष के पास रक्खी गई थी—यह परीक्षा अनेक अंगरेज़ पोलिटिकल एजेन्ट आदिकों की उपस्थित में की गई थी जिन में एक सिविल सरजन भी था और जिसने ४०वें दिन संदूक़ खुलने पर डाक्टरी जांच करके योगी को मुरदा बतलाया था परन्तु थोड़ी ही देर में आवश्यक मालिश आदि करने के बाद वह योगी आंख खोल कर सब को देखने और बातें करने लगा ।

दूसरा विचार

जब मनुष्य जागृत और स्वप्नावस्था में न होकर सुषुप्तावस्था (गाढ़ निद्रा) में होता है जिस अवस्था में मनादि सभी इन्द्रियां अचेत रहती हैं तो जागने पर सोनेवाला अनुभव करता है कि वह बहुत आराम से सोया यह अनुभव करने वाला ही आत्मा है ।

तीसरा विचार

शरीर वैज्ञानिक बतलाते हैं कि मनुष्य का समस्त शरीर सात या बारह वर्ष के बाद बिलकुल नया हो जाता है कुछ भी पुराने परमाणु बाकी नहीं रहते परंतु मनुष्य को बुढ़ापे में भी लड़कपन की बातें याद रहती हैं—यह याद रखनेवाला, स्वीकार करना पड़ता है कि आत्मा ही है क्योंकि शारीरिक अवयव तो उस समय के बाक़ी नहीं ।

चौथा विचार

"दुरबीन" या "खुर्दबीन" के द्वारा देखने से दूर की चीज पास या छोटी वस्तु बड़ी दिखाई देती है—इन्द्रियों के ज्ञान की सीमा तो उतनी ही है जितना ज्ञान उन्हें उनके द्वारा प्राप्त होता है परन्तु मनुष्य समझता है कि वास्तव में दिखाई देनेवाली वस्तु न तो उतनी ही पास ही है और न उतनी बड़ी ही है जितनी दिखाई देती है—यह समझने वाला आत्मा ही है ।

पांचवां विचार

दो बालकों में जो एक ही परस्थिति में रहते और शिक्षा पाते हैं एक योग्य बन जाता है और दूसरा अयोग्य रह जाता है, इसका कारण पूर्वजन्म के संस्कार बतलाये जाते हैं परन्तु पिछले संस्कार किस प्रकार नये शरीर में आ सक्ते हैं यदि कोई सत्ता उनको आश्रय देनेवाली न हो—इसी आश्रयदात्री सत्ता का नाम जीवात्मा है ।

छठा विचार मौत का भय सब से बड़ा भय है—शरीर नश्वर होने से मृत्यु के भय से ग्रस्त रहता है परन्तु आत्मिक बल प्राप्त होने से मनुष्य इस भय से रहित और निर्भीक हो जाता है। आत्मिकबल प्राप्त होने से क्यों मनुष्य निर्भीक हो जाता है इसका कारण अमर आत्मा का शरीर में होना ही है—आत्मा अमर होने से मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होता है और आत्मिकबल प्राप्त होने का भाव यह है कि आत्मा के ऊपर से प्रकृति के आवरण का दूर हो जाना—आवरण हटने से भय भी, जो उसी आवरण के साथ था, हट जाता है।

सातवां विचार मनुष्य जब कोई पाप कर्म करना चाहता है तो शरीर के भीतर से उस पाप कर्म के रोकनेवाली प्रेरणा उत्पन्न होती है जिसको अन्तःकरण वृत्ति (conscience) कहते हैं—यह वृति भी आत्म-सत्ता का बोध कराती है।

आठवां विचार मनुष्य अपने मस्तिष्क को स्वाध्याय में लगाता अथवा अन्य इन्द्रियों को अन्य किसी कार्य में नियुक्त करता है। मस्तिष्क या इन्द्रियों के थक जाने पर भी मनुष्य में उस काम (स्वाध्यायादि) के करने की इच्छा बनी रहती है। इन्द्रियां तो थक कर विराम चाहती हैं परन्तु भीतरी इच्छा उन्हें काम में लगाये रखना चाहती है। यह भीतरी इच्छा उसी आत्मा की सत्ता की साक्षी देती है जो ज्ञानवृद्धि के लिये इन्द्रियों को विश्राम नहीं लेने देती।

नवां विचार यह स्पष्ट है कि एकान्तवास से मानसिकोन्नति होती है। क्यों मानसिकोन्नति होती है ? इसका कारण

यह है, कि एकान्तवास में इन्द्रियों की दौड़ धूप करने का अवसर बहुत थोड़ा रह जाता है और इसलिये जो भीतरी शक्ति इन्द्रियों के काम में लगे रहने से निरंतर उनके साथ लगी रहती थी वह अब सब भीतर ही एकत्रित होती है। इसी का नाम मानसिक बल है। यह बल (शक्ति) निराश्रित नहीं रह सक्ता। इसका आश्रयदाता आत्मा ही है जिसके स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं।

दसवां विचार

शरीर जिन प्राकृतिक अणुओं से बना है, विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है कि वे नष्ट नहीं होते उनकी केवल अवस्था परिवर्तन होती रहती है। जब आत्मा की अपेक्षा बहुत स्थूल प्रकृति ही अवनश्वर है, तो आत्मा के अमर होने में सन्देह ही क्या हो सक्ता है। इसी लिये उपनिषदों और गीता आदि में जीवात्मा को अमर कहा गया है।*

ग्यारहवां विचार

नित्य होने से जीव को अनेकबार भिन्न २ योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है। इस पर पुनर्जन्म के विरोधी आक्षेप करते हैं कि पिछले जन्म की

---

*न जायते म्रियतेवा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

कठोपनिषद् ३।१८

अनुवाद—जीवात्मा न उत्पन्न होता न मरता न वह किसी से उत्पन्न हुआ न उससे कोई उत्पन्न होता वह अजन्मा, नित्य, सनातन और अनादि है शरीर के मारे जाने से नहीं मरता।

बात याद ।क्यों नहीं रहती ? बेशक याद नहीं रहती, परन्तु अभ्यास करने से याद आसक्ती है। मनुष्य जब एक शरीर को छोड़ता है तो उसके सब संस्कारादि और पिछले कार्य्यों की स्मृति चित्त में मूलाधार के आश्रित होकर आत्मा के साथ दूसरे शरीर में चली जाती हैं—कुंडलिनी के जागृत करने से, जिसका सम्बन्ध मूलाधार से है, पिछले जन्म की बात अभ्यास करनेवाले पर प्रकट होजाती है। इसलिये यह आक्षेप वृथा है। अनेक गपबोध बालकों को भी गपनुभव में गपाया है कि पिछले जन्म की स्मृति रहती है।

ये कतिपय विचार यहाँ रक्खे गये हैं। इन और ऐसे ही अन्य अनेक विचारों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता और उस के नित्यत्व में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। अस्तु। इस प्रकरण को समाप्त करके आत्मा से संबंधित कुछेक और भी बातें हैं उनका अब उल्लेख किया जाता है, परंतु उनका उल्लेख करने से पूर्व एक बात का यहाँ, इसी प्रकरण के साथ स्पस्टीकरण कर देना कदाचित् उचित होगा कुछेक सज्जन, जब उन्हें आत्मा की सत्ता मानने के लिये विवश होना पड़ता है, तो वह प्रश्न करते हैं कि आत्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राकृतिक अवयवो (बुद्धि और मनादि) से किस प्रकार सम्बन्ध जुड़ा हुआ कल्पना किया जा सक्ता है जिससे आत्मा उनसे काम ले सके। ऐसा प्रश्न करने वाले चाहते हैं कि उन्हें ज्ञान तंतुओं के सदृश कोई संबंध आत्मा और प्रकृति के मध्यवर्त्ती बतला दिया जावे परन्तु वे एक बात है जिस पर ध्यान नहीं देते और वह यह है कि आत्मा तो अप्राकृतिक

है परन्तु बुद्धि आदि प्राकृतिक हैं। ऐसी अवस्था से उनकी किसी प्राकृतिक सम्बन्ध के खोज की इच्छा दुरिच्छामात्र है। आक्षेप का उत्तर यह है कि आत्मा अपनी शक्तियों ज्ञान-प्रयत्न में अप्राकृतिक होने से ऐसी असाधारणता रखता है जो प्राकृतिक वस्तुओं में नहीं पाई जाती और उन्हीं शक्तियों के अनुभव से बुद्धि मनादि को प्रभावित करके उनसे यथेष्ट काम लेता है। इस कल्पना में कोई वैज्ञानिक आपत्ति नहीं उठाई जा सकती क्योंकि विज्ञान प्रकृति से सम्बन्धित विद्या है और आत्मा अप्राकृतिक होने से उसके अन्वेषण की सीमा से बाहर है।

चौथा अध्याय

पहिला परिच्छेद

आत्मसम्बन्धी विविध विषय ।

अणुवाद

प्रो० हैकल ने रोबर्ट मेयर (Robert Mayer) के आविष्कृत "प्रकृति स्थिति नियम" और लावएज़ियर (Lovoisier) के अन्वेषित "शक्ति-स्थित नियम" दोनों को मिला कर उसका नाम "द्रव्य नियम" रक्खा यही "द्रव्य-नियम" हैकल के मतानुसार समस्त जड़ और चेतन जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । सांख्याचार्य्य कपिल मुनि ने जगत् में दो सत्तायें देखीं थीं, पुरुष और प्रकृति । उनकी सम्मति में उन्हीं दो की सत्ता से समस्त जगत् बनता और काम करता है । इन दोनों सत्ताओं को महामुनि कपिल ने नित्य बतलाया था, सांख्य दर्शन के प्रचलित होने के बाद तीन प्रकार से तीन भागों में होकर कपिल का दर्शन प्रचलित हुआ ।

(१) पहले समुदाय में तो वे ही पुरुष हैं जो सांख्य के आदर्शानुसार पुरुष और प्रकृति दोनों को नित्य जानते और मानते रहे ।

(२) दूसरे समुदाय में वे पुरुष हुए जिन्होंने प्रकृति की उपेक्षा करके केवल पुरुष की एक सत्ता को नित्य ठहराया और पुरुष ही का समस्त जगत् का अभिन्निमित्तोपादान कारण बतलाया, गौडपादाचार्य्य और शंकराचार्य्य प्रभृति तथा कतिपय पश्चिमी दार्शनिक इसी पक्ष के पोषक थे।

(३) तीसरे समुदाय में वे पुरुष हुये जिन्होंने पुरुष की अवहेलना करके केवल प्रकृति ही को नित्य ठहराया और उसीको समस्त चेतन और जड़ जगत् का अभिन्निमित्तोपादान कारण माना। प्रो० हैकल इसी तीसरे समुदाय के अनुयायी हैं, प्रोफेसर हैकल का यही एक द्रव्यवाद है जिसके वह प्रचारक थे, हैकल ने इस एक द्रव्य (प्रकृति) को नित्य माना है और द्रव्य और शक्ति दोनों को उसका गुण ठहराकर बतलाया है कि यह द्रव्य अनादिकाल से काम कर रहा है जीवन से मृत्यु, विकास से ह्रास उसमें समय समय पर हुये परिणामों के फल हैं।

अणुवाद की समीक्षा

इस पर थोड़ा विचार करना होगा। हैकल का एक द्रव्य, प्रकृति और शक्ति दोनों का संघात है, देखना यह है, कि प्रकृति और शक्ति की सीमायें क्या हैं, और उनकी स्थितियों के तात्पर्य क्या हैं।

प्रकृति स्थिति

पहले "प्रकृति-स्थित" ही को लीजिये। प्रकृति स्थिति का तात्पर्य यह है कि भौतिक, रासायनिक अथवा यान्त्रिक किसी भी व्यवहार में प्रकृति के अणुतोल के हिसाब से जिस मात्रा में काम में आते हैं वह मात्रा (तोल के हिसाब से) ज्यों की त्यों बनी रहती है, न्यूनाधिक नहीं होती, रूप परिवर्तन अवश्य हो जाया करता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यही

शक्ति स्थित का तात्पर्य है। प्राकृतिक अणुओं के सम्बन्ध में जो नई २ खोजें हुई हैं, उनसे प्रकट होता है कि परमाणु प्रकृति का सब से अधिक सूक्ष्मांश नहीं है, जैसा कि अब तक वैज्ञानिक समझते थे। वह विद्युत्कणों का समुदाय है। उनके भीतर एक केन्द्र होता है और विद्युत्कण उसके चारों ओर उसी प्रकार नियमपूर्वक परिभ्रमण करते हैं, जिस प्रकार पृथिवी आदि ग्रह सूर्य्य के चारों ओर घूमते हैं। सर अलिवर लाज का कथन है कि सूर्य्यमण्डल के अत्यन्त सूक्ष्मरूप परमाणु हैं, उनके भीतर समस्त कार्य्य उसी प्रकार होते हैं, जिस प्रकार सूर्य्यमण्डल के अन्तर्गत। *नवीन खोजों में प्रकृति दो भागों में विभक्त हुई है—व्यक्त अव्यक्त। व्यक्त प्रकृति का सबसे अधिक सूक्ष्म अंश विद्युतकरण † है परन्तु प्रोफ़ेसर वौटमली विद्युत्कण को भी आकाश (Ether) का परिणाम समझते हैं ‡। परन्तु इस आकाश के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों को थोड़ा ज्ञान है, इस बात को खुले तौर से वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। § कल तक जो द्रव्य मौलिक समझे जाते थे, और जिनकी संख्या लगभग ८० के पहुँच चुकी थी, अब वह सब विद्युत्कण का समुदाय समझे जाने लगे हैं। वैज्ञानिकों का कथन है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु का एक हजारवाँ भाग विद्युत्कण की मात्रा

---

* Science and Religion by Seven men of Science P. 18.

† Do. P 76. ‡ Do. P. 63.

§ Evolution of Matter by Gustove Le Bon,

समझी जाती है परन्तु अब विद्युत्कण वाद भी बदलता दिखलाई देता है—सर आलिवरलाज ने हाल में अपने एक व्याख्यान में कहा है कि अब तक समझा जाता था कि विद्युत्कण से प्रकाश उत्पन्न होता था परन्तु अब मालूम यह होता है कि प्रकाश से विद्युत्कण उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार अग्नि ही प्रकृति का आदिम मूल तत्त्व प्रतीत होता है (Vide the times Educational Supplement quoted in the Vedic Magazine for October 1923.) इस प्रकार व्यक्त प्रकृति, जिसको "कपिल" ने (व्यक्त) "विकृति" नाम दिया था, प्रचलित विज्ञान में कतिपय श्रेणियों में विभक्त हैं, सबसे सूक्ष्म भाग आकाश (ईथर) है, आकाश से विद्युत्कण, विद्युत्कण से परमाणु, परमाणु से अणु और अणुओं से पञ्चभूतों की रचना होती है। अभी प्रचलित विज्ञान ने प्रकृति के सम्बन्ध में उतना ज्ञान भी प्राप्त नहीं किया है। जितने का वर्णन कपिल सहस्रों वर्ष पूर्व कर चुका है। वह अव्यक्त प्रकृति को अभी कुछ नहीं जानता, उसे अभी पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय, मन, अहंकार और महत्तत्व का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। ....

गति शक्तिस्थिति

अस्तु प्रकृति की बात हुई, अब गति शक्ति पर विचार आवश्यक है:—

प्रकाश ताप, ध्वनि, भ्रमण, कम्पन, लचदार आकर्षण, आकर्षण पार्थक्य, विद्युत्, प्रवाह, रासायनिक स्नेहाकर्षण

* Beyond the atom by Prof. Cox.

शक्तियां, गतिशक्ति में समाविष्ट समझी जाती है * वैज्ञानिकों में से एक ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या जीवन गति शक्ति के अन्तर्गत है। लाज का उत्तर है कि कदापि नहीं उनके शब्द ये हैं " I should give the answer decidedly No "† अभी कुछ पूर्व जब तक गति शक्ति में ताप सम्मिलित नहीं समझा जाता था "गति-शक्ति" की सीमा ताप शून्य ही थी। संभव है इसी ताप की भांति किसी और शक्ति का ज्ञान वैज्ञानिकों को हो जावे अथवा क्लिष्ट कल्पना ही के तौर पर कल्पना कर लीजिये कि जीवन भी गतिशक्ति के अंतर्गत समझा जाने लगा, तो ऐसी अवस्था में गतिशक्ति का ज्ञान भी प्रकृति की भांति अभी तक अधूरा ही है, ऐसी अवस्था में हैकल का इन दोनों शक्तियों को पूर्ण समझ कर उन्हें मिला मिला कर एक द्रव्य वाद का नया पंथ खड़ा करना और उसे नित्य ठहराना वैज्ञानिक दृष्टि से कहाँ तक उचित और युक्ति-युक्त समझा जा सकता है, इसका अनुमान इसी एक उदाहरण से किया जा सकता है कि प्रोफेसर वौटमर्ली ने उसे (हैकल को) असामयिक (out of date) कहा है‖ ।

प्रकृति और शक्ति से आत्मा पृथक है ।

गति शक्ति के सम्बन्ध में कुछ एक पुरुष, यह भूल करते हैं कि इस शक्ति में,अधिष्ठातृत्व, निर्देशक और नियन्त्रण शक्तियों के

---

* Life and the After by Sir Oliver Lodge p. 11.

† Life and the After by Sir Oliver Lodge p. 11.

‖ Science and Religion by Seven men of Science p. 36.

होने की संभावना है। सर आलिवरलाज का कथन है* कि गति-शक्ति का इस विषय से कुछ भी संबन्ध नहीं है। गति शक्ति का सम्बन्ध केवल मात्रा है। "जीवन" प्रकृति और गतिशक्ति की सीमा में नहीं है और इसी लिये विज्ञान को उसका कुछ ज्ञान भी नहीं है†

इसी प्रश्न के उत्तर में कि जीवन का ज्ञान विज्ञान को है या नहीं, सर आलिवर लाज कहते हैं कि विज्ञान का उत्तर वही है ड्यू बोइस, रेमौड (Du. Bois Raymoud) ने दिया था कि "हम कुछ नहीं जानते" (Ignoramous) परंतु रेमौड का अगला वाक्य कि "हम कभी जानेंगे भी नहीं" (Ignorabimous) स्वीकार करने योग्य नहीं है ‡ यह बात स्वयं हैकल को भी स्वीकार है कि जीवन विज्ञान का विषय नहीं है, फिर भी उसने विज्ञान ही के नाम से उसके प्रकृति जन्य होने के सिद्ध करने का साहस किया है। उसके शब्द ये हैं— 'The freedom of the will is not an object critical Scientific inquiry at ale § अर्थात् इच्छा

---

* Life & Matter by Sir Oliver Lodge p. 11 & 12 लाज महोदय के शब्द ये हैं:—"Really it has nothing to say on these topics, it relates to amount alone."

† प्रकृति और जीवन के सम्बन्ध में एक मनोरंजक प्रश्नोत्तर नीचे दिया जाता है:—

"What is matter? No mind. What is mind? No matter."

‡ Life and matter by Sir O. Lodge P. 12.

§ Riddle of the Universe by Earnest Haeckle P. 11.

शक्ति (जीव) की स्वतंत्रता, कदापि विवेचनात्मक वैज्ञानिक परीक्षा का विषय नहीं है" जब किसी विषय के लिये कहा जाता है कि विज्ञान की सीमा में है या नहीं तो स्वाभाविक रीति से यह प्रश्न उठता है कि विज्ञान की सीमा क्या है ?

विज्ञानकी सीमा

सर आलिवर इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं कि "दृश्य वस्तुओं का प्रकटीकरण ही विज्ञान का आधार है परन्तु वह (प्रकटीकरण) प्रकृति और गतिशक्ति की सीमा में रहते हुये करना चाहिये।" और यह भी कि "विज्ञान का काम केवल यह है कि जो कुछ हुआ है उसे बतलाये। निषेध करना उसका काम नहीं है" ‡

डिक्शनरियों में विज्ञान को व्यवस्थित ज्ञान (Systematized knowledge) कहा जाता है। हक्सले के मतानुसार कृतपरिचय और व्यवस्थित विवेक का नाम (Trained and Organized common sense) विज्ञान है। प्रोफ़ेसर जेम्स आर्थर की सम्मति है कि विज्ञान का मुख्योद्देश्य यह है कि ज्ञातव्य जगत् का संक्षिप्त विवरण देवे। जगत् में घटित घटनाओं से जानकारी प्राप्त करके अन्वेषक उन्हें क्रमबद्ध करता है, और उनमें सामान्य निर्देशक (Common denominator) का पता लग जाता है और फिर उन घटनाओं के घटित होने की अवस्थाओं पर विचार करके उन्हें "यथासंभव सुगम रीति से प्रकट करके उनसे सामान्य नियमों की स्थापना करता है और अन्त को उन्हीं का

‡ Life and matter by Sir. O. Lodge p. 31-32.

नाम प्राकृतिक नियम रखता है। * इस सब का परिणाम "वौट-मली" की सम्मति के अनुसार यह है कि विज्ञान निर्देशक नियमों का नाम है। विज्ञान हमको "कैसे" का उत्तर देता है "क्यों" का नहीं, अर्थात् जगत् की किसी घटना के सम्बन्ध में यह ज्ञान देगा कि किस प्रकार यह घटित हुई। यह क्यों घटित हुई, इसका उत्तर देना विज्ञान की सीमा से वाहर है—क्यों का उत्तर देना "मजहव" का काम है। लाज, हक्सले, और वौटमली सब की सम्मतियों को एकत्र करने से विज्ञान की सीमा यह निर्धारित होती है कि "वह अपने को प्रकृति और गतिशक्ति की सीमा में रखते हुये विश्व में घटित घटनाओं को वतला देवे कि किस नियम से और किस प्रकार से घटित हुई।"

हैकल का एक द्रव्यवाद विज्ञानको सीमा से वाहर है।

अव विज्ञान की इसी निश्चित सीमा के भीतर देखना चाहिये कि हैकल का एक द्रव्यवाद कौन सा स्थान रखता है अथवा सर्वथा इस सीमा के वाहर है। हैकल ने अपने वाद के प्रकाश में कुछेक सिद्धान्त स्थिर किये हैं। वे ये हैं:—† (१) यह जगत नित्य और असीम है। (२) जगत का द्रव्य (वही हैकल का एक द्रव्य) अपने दो गुणों प्रकृति और गतिशक्ति के साथ नित्य है और अनादि काल से गति में हैं। (३) यह गति अखंडशः क्रम के साथ असीम काल से काम कर रही है। सामयिक परिवर्तन (जीवन, मरण, विकास ह्रास) इसके द्वारा हुआ करते हैं।

* Sceince and Religion by Seven Men of Sceince p. 60,

† Riddle of Universe by Ernest Haekle. p. 11

(४) समस्त प्राणी अप्राणी जो विश्व में फैले हुये हैं, सभी एक द्रव्यवाद से शासित और उसी के अधीन हैं।

(५) हमारा सूर्य्य असंख्य नष्ट होने वाले पिण्डों में से एक है और हमारी पृथ्वी भी ऐसे ही छोटे-छोटे पिंडों (नष्ट होनेवालों में से है, जो सूर्य्य के चारों ओर परिभ्रमण करते हैं। (६) हमारी पृथ्वी चिरकाल तक ठंढी होती रही थी तब उस पर जल का प्रादुर्भाव हुआ। (७) एक प्रकार के मूल जीव से क्रमशः असंख्य योनियों के उत्पन्न होने में करोड़ों वर्ष लगे हैं। (८) इस जीवोत्पत्ति परम्परा के पिछले खेवे में जितने जीव उत्पन्न हुये, रीढ़वाले प्राणी गुणोत्कर्ष द्वारा सब से बढ़ गये। (९) इन रीढ़वाले प्राणियों की सब से प्रधान शाखा दूध पिलाने वाले जीव थलचरों और सरीसृपों से उत्पन्न हुये। (१०) इन दूध पिलाने वाले जीवों में सब से उन्नत और पूर्णता प्राप्त किं पुरुष (Ord r of primates,) जो लगभग ३० लाख वर्ष के हुये होंगे, कुछ जरायुज जंतुओं से उत्पन्न हुये। (११) इस किं पुरुष शाखा का सब से नया और पूर्ण कल्ला मनुष्य है जो कई लाख वर्ष हुये कुछ वनमानसों से निकला था। हैकल ने इन नियमों का वर्णन करते हुये रेमौंड के जगत सम्बन्धी सात प्रश्नों* में से ६

* इमिल ड्यू, बाइस रेमौंड (Emil du Bois Raymond) ने १८८० ई० में बरलिन में एक व्याख्यान दिया था और उसी में इन सात प्रश्नों को उठाया था। इनमें से उसने १, २ और ५ को हल करने के अयोग्य ठहराया था, शेष में से ३, ४ और ६ को समझा था कि इनका हल होना सम्भव है पर अत्यन्त कठि-

का हल अपने एक द्रव्यवाद से बतलाया है। वे सात प्रश्न ये थेः—
(१) द्रव्य और शक्ति का वास्तविक तत्व। (२) गति का मूल कारण। (३) जीवन का मूल कारण। (४) सृष्टि का इस कौशल के साथ क्रम विधान। (५) संवेदना और चेतना का मूल कारण। (६) विचार और इससे सम्बद्ध वाणी की शक्ति। (७) इच्छा का स्वातंत्र्य। एक द्रव्यवाद के उपर्युक्त ७ प्रश्नों में से ६ का हल उस (हैकल) ने अपने एक द्रव्य से बतलाते हुये ईश्वर और जीव की स्वतन्त्र सत्ता से इन्कार किया है और चेतना की उत्पत्ति जड़ प्रकृति से संभव समझी है।

अब देखना यह है कि हैकल का वाद कहां तक विज्ञान की सीमा में हैं। यह स्पष्ट है कि किन्हीं भी वस्तुओं का नित्यत्व विज्ञान की परीक्षा का विषय नहीं हो सकता, इसी लिये उसके प्रारम्भिक नियम विज्ञान की सीमा से बाहर हैं। अन्त के नियम विकासवाद के अन्तर्गत हैं। विकासवाद अब तक केवल "वाद" है और रहेगा भी वाद ही। वैज्ञानिक नियम नहीं बन सकता, क्योंकि करोड़ों वर्ष पहले की बात का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उनकी विवेचनात्मक वैज्ञानिक परीक्षा असंभव है। हैकल ने अपने प्रारम्भिक नियमों के ही आधार पर ईश्वर और जीव की स्वतन्त्रता से इन्कार किया है। प्रारम्भिक नियम विज्ञान की सीमा से बाहर है, इस लिये ईश्वर और जीव की सत्ता का निषेध भी विज्ञान का न विषय हो सकता है, क्योंकि प्रकृति और गति

नता के साथ। ७ वें और अन्तिम प्रश्न को भी हल के अयोग्य ठहराया था।

शक्ति दोनों की सीमा से बाहर है, और न उसकी सीमा में आ सकता है, क्योंकि वस्तुओं का निषेध भी विज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, जैसे कि पहले कहा जा चुका है। अतः यह स्पष्ट है कि हैकल का एक द्रव्यवाद और उसी के सिलसिले में ईश्वर और जीव की सत्ता का निषेध दोनों विज्ञान की सीमा से बाहर है। इनको हम हैकल के केवल दार्शनिक विचार कह सकते हैं।

दर्शन और विज्ञान में क्या अन्तर है।

दर्शन और विज्ञान में अन्तर क्या है? ❀ "किसी घटना को स्वीकार करने से पूर्व विज्ञान क्रम पूर्वक एक परीक्षा के बाद दूसरी परीक्षा करता हुआ उसकी दृढ़ता की जांच और पुनः जांच करता है, और इस प्रकार परीक्षित और निश्चित घटनाओं को ही स्वीकार करता है। परन्तु "दर्शन" की अवस्था इससे भिन्न है। दर्शन परीक्षित घटनाओं की पहुँच से बाहर झपट लगाता है और इस प्रकार झपट लगाकर की हुई कल्पनाओं के ठीक सिद्ध करने के लिये पीछे से घटनाओं की खोज करता है" ❀इस अन्तर पर दृष्टि डालते हुए कोई भी हैकल के उपर्युक्तवाद और कल्पनाओं को वैज्ञानिक नहीं कह सकता, हां वे दार्शनिक अवश्य कही जा सकती है।

❀ Materialism by Darab Dinsha Kanga Mg. P. 24.

दूसरा परिच्छेद

कर्त्ता के गुण कार्य्य में होते हैं

एक विषय और भी ध्यान देने योग्य है । और वह यह है कि जब हम कहते हैं कि कललरस में उन गुणों के होने की कल्पना नहीं की जा सकती, जो उसके उपादान में नहीं हैं, तो इस पर कहा जा सकता है कि कुछेक वस्तुयें सामूहिक रूप से ऐसे गुण रखती हैं, जो उनके अणुओं में नहीं हैं और इसके समर्थन में घड़ी और सूर्य्य के उदाहरण दिये जाते हैं। हम इन उदाहरणों पर एक दृष्टि डालना चाहते हैं।

घड़ी का उदाहरण

कहा जाता है कि घड़ी में चलने की और समय बतलाने की योग्यता सामूहिक रूपही में है। उसके निर्माता अवयव इन गुणों से शून्य हैं। प्रथम तो घड़ी के समस्त पुरजों में जो कंपनशील अणुओं से बने हैं, कंपन (या गति) रहती है, परन्तु असली बात जिसके विपक्ष में यह उदाहरण दिया जाता है, यह है कि घड़ी के पुरज़े भी चेतनाशून्य (जड़-ज्ञान रहित) हैं, और इसी लिये उनसे बनी हुई (सामूहिक रूप में) घड़ी भी चेतनाशून्य और ज्ञान रहित है। एक सज्ञान पुरुष जानता है कि इस समय घड़ी में क्या बजा है, परन्तु इस (बजने) का ज्ञान न घड़ी के पुरज़ों को है, न सामूहिक रूप से घड़ी को। घड़ी स्वयं नहीं जानती कि कै बजे हैं। इस लिये यह उदाहरण विषम हैं। अच्छा दूसरा उदाहरण लीजिये।

सूर्य्य का उदाहरण

कहा जाता है कि सूर्य्य के उपादान तो सूक्ष्म हैं, परन्तु सूर्य्य वृहदाकार वाला है, और उसके इस वृहदाकार वाले होने ही का यह परिणाम है कि वह स्वयं प्रकाशक है, और उसमें सदैव प्रकाश बना रहता है । किस प्रकार प्रकाश उसमें बना रहता है, इसके सम्बन्ध में वादी कहता है कि उसके आकर्षक आकुञ्चक और भूकंपिक अधिगमन से ताप इतनी मात्रा में उत्पन्न हो जाता और होता रहता है, कि जो चिरकाल तक स्थित रहता है और उसके प्रकाश का हेतु हो जाता है। यह उदाहरण भी विषम है। प्रथम तो सूर्य्य जिन अणुओं से बना है, उनमें हैड्रोजन के अणु बहुतायत से होते हैं । उसके सिवा सूर्य्य में यदि सामूहिक रीति से प्रकाश चिरकाल तक रहता है, तो कौन कह सकता है कि हैड्रोजन के अणु कभी तापशून्य हो जाते हैं। परन्तु यदि यह भी मान लिया जावे कि निर्माण-कर्ता अणुओं में जितनी प्रकाश की मात्रा है, सामूहिक रूप से आकर्षणादिक उत्पन्न हो जाने के कारण सूर्य्य का प्रकाश उस मात्रा से बहुत कुछ बढ़ जाता है, तो इससे भी उस पक्ष का समर्थन नहीं हुआ कि जड़ से चेतना उत्पन्न हो सकती है। ताप निर्माण अणुओं में है, वही ताप सूर्य्य में बढ़ी हुई मात्रा में हो जाता है । जिस श्रेणी की वस्तु (ताप) निर्माण-कर्ता अणुओं में रहती है, उसी श्रेणी की वस्तु (ताप) सूर्य्य में। उदाहरण तो ऐसा खोजना चाहिये कि जिससे जड़ उपादान द्वारा चेतना की उत्पत्ति प्रमाणित हो सके, परन्तु ऐसा उदाहरण मिल नहीं सकता।

तीसरा परिच्छेद ।

मस्तिष्क और आत्मा

मस्तिष्क और चित्तके सम्बन्ध में यौरुप के मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों में मतभेद है। एक दल कहता है कि मस्तिष्क और चित्त में सत्ताभेद नहीं, ये दोनों पर्य्याय वाचक हैं, दूसरा दल कहता है कि मस्तिष्क जड़ और "माइण्ड" (आत्मा) का यन्त्र मात्र है। इस दलके अनुयायी "माइण्ड" को जीवात्मा कहते हैं। तीसरा विचार यह है कि मस्तिष्क और चित्त दोनों से पृथक आत्मा है और ये दोनों उसके यन्त्रमात्र हैं। जड़वादी नास्तिक जो आत्मा को स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते पहले दो में एक न एक प्रकार का मत रखते हैं, परन्तु आस्तिकजगत अन्तिम वाद का समर्थक है। इसी जगह हम यह बता देना चाहते हैं कि भारतीय दर्शन और उपनिषद् इस विषय (शरीर के आन्तरिक व्यापार के सम्बन्ध) में क्या शिक्षा देते हैं, जिससे विषय के तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त होने में सुगमता हो।

आंतरिक व्यापार और दर्शन और उपनिषद्

जीवात्मा नित्य चेतन और स्वतन्त्र सत्ता वान् है शरीर उसे अपने गुणों ज्ञान और प्रयत्न को क्रियात्मक रूप देने के लिये मिलता है।

शरीर के भेद

शरीर के ३ भेद हैं [१] स्थूल शरीर जिससे हम सब बाह्य क्रियायें किया करते हैं, और जिसमें चक्षु आदि १० इन्द्रियों के गोलक अथवा करण हैं, (२) सूक्ष्म शरीर-यह अदृश्य शरीर प्रकृति के उन अंशों से बनता है, जो स्थूलभूतों के प्रादुर्भाव

होने से पहले सत् रज और तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति में विकार आने से उत्पन्न होते हैं। (देखो पुस्तक में कपिल का मत) सूक्ष्म शरीर के १७ अवयव हैं, ५ ज्ञान इन्द्रियों की आन्तरिक शक्ति + ५ प्राण + ५ तन्मात्रा सूक्ष्मभूत + १ मन + १ बुद्धि। ये १७ द्रव्य मिलकर सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं। समस्त जगत् सम्बन्धी आंतरिक क्रियाएँ इसी शरीर के अवयवों के द्वारा हुआ करती हैं। (३) कारण-शरीर यह कारणरूप प्रकृति का ही वह अंश होता है, जो विकृत नहीं होता। यह शरीर ईश्वरोपासना का साधन है, इसके विकास के परिणामही से मनुष्य योगी होता और समाधिस्थ होने की योग्यता प्राप्त करता है।

सूक्ष्म शरीर की कार्य्य प्रणाली

आत्मा की प्रेरणा बुद्धि के माध्यम से मनको होती है, जो समस्त ज्ञान और कर्म इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, मनकी प्रेरणा से समस्त इन्द्रियें अपना २ कार्य्य करती हैं। सूक्ष्म शरीर के १० करण (५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ उनके विषय सूक्ष्म भूत) मस्तिष्क में रहते हैं। ५ प्राण समस्त शरीर में फैले हुए रहते हैं। श्वासोच्छ्वास, भोजन का मेदे में पहुँचाना, रक्तप्रवाह आदि उनके कार्य्य हैं, जो निरन्तर होते रहते हैं। बुद्धि मस्तिष्क में, मन, चित और आत्मा शरीर के केन्द्र हृदयाकाश में रहते हैं। मृत्यु केवल स्थूल शरीर की होती है, सूक्ष्म और कारण शरीर आत्मा के साथ मृत शरीर से निकल कर "यथा कर्म यथाश्रुतम्" दूसरी योनियों में आया जाया करते हैं, और आत्मा के साथ बराबर उस समय तक रहते हैं, जब तक जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर लेता। मुक्ति प्राप्त

करने पर इनका और जीवका वियोग होता है और उस समय ये शरीर वापिस जाकर प्रकृति के उन्हीं अंशों में मिल जाते हैं, जहां से आए थे।

इन्द्रियों के व्यापार

जरमनी के वैज्ञानिक "पाल क्लैशजिक" (Paul Flechsigof Leipzig) ने वतलाया कि मस्तिष्क के भूरे मज्जाक्षेत्र (grey matter or correx of the brain) इन्द्रियानुभव के चार अधिष्ठान या भीतरी गोलक हैं, जो इन्द्रिय-संवेदना को ग्रहण करते हैं, उसने उनका इस प्रकार विवरण दिया कि:—

(१) स्पर्शज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में।
The sphere of touch in the vertical lobe.
(२) घ्राणका गोलक सामने के लोथड़े में (the Sphere of Smellin the frontal lobe.
(३) दृष्टिका गोलक पिछले लोथड़े में (The Sphere of Sight in the occipital lobe.
(४) श्रवण का गोलक कनपटी के लोथड़े में (The Sphere of hearing in the temporal lobe)

और यह भी वतलाया कि इन चारों भीतरी इन्द्रिय गोलकों के बीच में विचार के गोलक (Thought centres or centres of association, the real organs of mental life) हैं, जिनके द्वारा भावों की योजना और विचार आदि जटिल मानसिक व्यापार होते हैं। इस पर जड़ाद्वैतवादियों की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा, और इन महानुभावों ने समझ लिया कि अब जीवात्मा का काम इनसे चल गया और उसकी स्वतन्त्रसत्ता न होने का

एक पुष्ट प्रमाण इनके हाथ आ गया, परन्तु उनको यह ज्ञान न था कि ये चार इन्द्रियों के गोलक तो सूक्ष्म शरीर ही के अवयव हैं, जिन्हें सूक्ष्म इन्द्रिय कहते हैं और वे चार विचार के गोलक अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त अहंकार) हैं और ये सब प्राकृतिक और चेतना शून्य हैं और आत्मा के औज़ार मात्र हैं।

चौथा परिच्छेद।

वैज्ञानिक भी जीव के प्राकृतिक आधार होने के समर्थक नहीं।

यह बात आत्मवादियों के लिये और भी सन्तोष की है कि अब सब वैज्ञानिक भी जीवात्मा के प्राकृतिक आधारवाद को स्वीकार नहीं करते। उनमें से अनेक ऐसे हैं जो स्पष्ट रीति से जीवात्मा और परमात्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं और वैज्ञानिक होने की स्थिति ही में ऐसा मानने के लिये अपने को विवश समझते हैं। कुछेक के मत यहां दिखलाये जाते हैं:—

न्यूटन की सम्मति

इंगलेन्ड का प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन अपने जगत् प्रसिद्ध पुस्तक "प्रिन्सिपिया" (Principia) में, जिसमें उसने ग्रह उपग्रह और सूर्यादि का विचार किया है लिखता है:—"समस्त यह प्राकृतिक जगत् (जिसकी उसने गहरी अन्वेषणा की है) सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् जगत् के रचयिता की रचना है"।

सर आलिवरलाज

सर आलिवरलाज मस्तिष्क को चित्त और आत्मा का करणमात्र समझते हैं, *उन्होंने स्पष्ट रीतिसे कहा

*Life and matter P. 53

है "भौतिक विज्ञान, अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँचाया हुआ भी यही उत्तर देता है कि उसके ज्ञान की सीमा में सम्प्रति आकाश (ईथर) और शक्ति हैं और उनके सिवा अन्य वस्तुओं को वह कुछ नहीं जानता*। लाज फिर एक जगह लिखते हैं कि प्रकृति में गति शक्ति 'निर्बंधशील शक्ति के रूप में रहती है, और वह (प्रकृति) शक्ति के द्वारा उत्तेजित की जाती है, परन्तु मार्ग प्रदर्शन और नियन्त्रण का गुण न तो प्रकृति में है, और न गतिशक्ति में। गतिशक्ति न तो निदेशक सत्ता है और न उसमें निर्देशक उपकरण है। उसमें "मात्रा" मात्र है। † फिर जीवन के सम्बन्ध में उनका कथन है कि "मैं वाद के तौर से नहीं, किन्तु घटित घटना के तौर से अनुभव करता हूँ, कि स्वतः जीवन (आत्मा) ही मार्ग-प्रदर्शक और नियन्त्रक साधन है, अर्थात् प्राणी और पौधे मात्र अनैन्द्रियिक द्रव्यों को प्रदर्शित और प्रभावित करते और कर सक्ते हैं। ‡ प्राण शक्ति (Vitality). के सम्बन्ध में उनका कथन है कि जीवन (आत्मा) और प्रकृति (शरीर) के मध्यवर्ती, सम्बन्ध का नाम प्राण, प्राणशक्ति अथवा जीवत्व है, और इस प्रकार यह प्राणशक्ति प्रकृति के अन्तर्गत है। परन्तु जीवन शब्द स्वयं जीवात्मा के लिये चरितार्थ होता है, और आत्मा ही इस मध्यवर्ती सम्बन्ध (प्राण) को प्रकृति के साथ जोड़ता है § फिर

---

* Do P. 51

† Life and Matter P. 50

‡ Do P. 66.

§ Do P. 68.

जीव* के स्वतन्त्र परतन्त्र होने के सम्बन्ध में लाज कहते हैं कि "हम स्वतन्त्र हैं और परतन्त्र भी हैं। जहांतक हमारा सम्बन्ध निकटस्थ ज्ञेय और समीपस्थ परिस्थिति से है, वहां तक क्रियात्मक उद्देश्यों के लिये हम स्वतन्त्र हैं और उनके उपस्थित किये हुये उद्देश्यों में से जिसे चाहें हम अपने लिये पसन्द कर सकते हैं; परन्तु विश्व का एक भाग होने की स्थिति से हमें नियम और व्यवस्था की मर्य्यादा में रहना पड़ता है, यही हमारी परतन्त्रता है।†

लाज का यह "स्वातन्त्र्यवाद" वैदिक कर्मफलवाद का रूपान्तर मात्र है। वैदिक कर्मवाद का सार यह है कि प्राणी कर्म करने में स्वतंत्र परंतु फल भोगने में नियम और व्यवस्था के आधीन है लाज का भी स्वातंत्र्यवाद यही बतलाता है। अस्तु हमने देख लिया कि सर आलिवर लाज एक उच्च वैज्ञानिक होने की स्थिति से किस प्रकार हैकल के जड़ाद्वैतवाद के विपक्षी और उसके विरुद्ध आत्मवाद के समर्थक हैं। ‡

---

* जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता, उसका पूर्वजन्म बालकों को विशेष रीति से और कभी कभी युवकों का भी पूर्वजन्म की स्मृति का रहना, एक दूसरे स्थान पर सर आलिवर लाजने प्रमाणित किया है। (Reason and Belief by Sir Oliver Lodge p. 66)

† Life and matter P. 86.

‡ जी, बी. शा (G; B. Shaw), बर्गसन (Bergson) और लगभग आधे प्राणविद्या के विद्वान् (Vitalist Bialogist)

जान स्टुअर्ट मिल

जान स्टुअर्ट मिल भी आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थक था। उसने स्पष्ट रीति से कहा है कि "हमारी आत्मशक्ति प्रकृति को प्रभावित कर क्रियाओं को कराती है। ❀

प्रोफेसर टेट।

प्रोफेसर टेट (Prof. Tait) ने डेकार्ट के प्रसिद्ध सिद्धान्त "मैं विचार करता हूं, इस लिये मैं हूँ" (Cogito ergo sum-I think therefore I am) का ही दूसरे शब्दों में समर्थन किया है। टेट का कथन है कि निर्वचशीलता अथवा संरक्षकता ही (आत्मा की) वास्तविक सत्ता की कसौटी है। †

पाँचवाँ परिच्छेद

डाक्टर वालेस

डाक्टर वालेस ने हैकल के अणुवादक का प्रबल विरोध किया है। आत्मा और परमात्मा को वे किस प्रकार जानते और मानते थे यह बतलाने से पूर्व उन्होंने जीवन की जो परिभाषा की है पहले उसका हम उल्लेख करते हैं:—

और गर्भविद्या के पंडित (Embryologists.) भी लाज से इस बात के स्वीकार करने में सहमत हैं कि, चेतना शरीर से पृथक और स्वतन्त्र वस्तु है (Religion of Sir O. Lodge)

❀ Religion of Sir O. Lodge. p. 82.

† Do. p. 51.

जीवन क्या है ?

डाक्टर डीब्लेन विलि (Dr. De BlainVille) की परिभाषानुसार जीवन एक संयोग वियोगात्मक निरन्तर द्विगुण आभ्यांतरिक गति का नाम है। परन्तु हर्बट स्पेन्सर के मतानुसार आंतरिक सम्बन्धों का बहिरंग सम्बन्धों के साथ निरन्तर समायोग का नाम जीवन है डाक्टर वालेस ने इन दोनों परिभाषाओं पर विचार करते हुये अपनी सम्मति दी है कि दोनों में से एक भी परिभाषा अर्थ व्यंजक और परिच्छेदक नहीं है, क्योंकि ये परिभाषायें सूर्य्य तथा अन्य ग्रहों से भी, जो परिवर्तन होते रहते हैं, सम्बद्ध हो सकती हैं। उनकी सम्मति में इनकी अपेक्षा अरस्तू का किया हुआ जीवन लक्षण जीवन सत्ता से अधिक लागू होता है; और वह यह है:—"जीवन, पालन, पोषण, वृद्धि और विनाश के संघात का नाम है"। परन्तु वालेस इसको भी यथार्थ लक्षण नहीं समझते। उनका कथन है कि ये सब लक्षण केवल संगृहीत विचारों को प्रकट करते हैं, वास्तविक चेतनामय जीवन की सत्ता पर प्रकाश नहीं डालते। उनका मत है कि जीवन का अद्भुत और अलौकिकपन शरीर के अन्तर्गत है, जो जीवन को प्रादुर्भूत करता है। आवश्यक चिन्ह, जो उच्च प्राणियों के जीवन में पाये जाते हैं, ये हैं:—

(१) उनके समस्त शरीर अत्यन्त मिश्रित परन्तु अस्थिर प्राकृतिक अणुओं से पूर्ण हैं। उनमें से प्रत्येक अणु का विकास या ह्रास निरन्तर जारी रहता है। काम के अयोग्य कण बाहर से आये नये कणों (अणुओं) से परिवर्तित होते रहते हैं। जो नये कण शरीर के भीतर इस प्रकार प्रविष्ट होते हैं, उन पर यांत्रिक और रासायनिक क्रियायें होनी प्रारम्भ हो जाती हैं। इन क्रियाओं

का परिणाम यह होता है कि निकम्मे कण शरीर से बाहर निकलते रहते और उत्तम और काम के योग्य कण, शरीर का भाग बनकर भीतर और बाहर के समस्त पुराने कणों को पूर्ववत् नया करते रहते हैं।

(२) उपर्युक्त कार्य्य कर सकने के उद्देश्य से समस्त शरीर जालीदार तन्तुओं से भरा हुआ है जिनके द्वारा वायु और तरल पदार्थ शरीर के समस्त भागों तक पहुँचते हैं, और इस प्रकार शरीर के पालन पोषण सम्बन्धी भिन्न भिन्न कार्य्य होते रहते हैं। प्रोफेसर बर्डन सेण्डर्सन के कथनानुसार जीवित शरीरों की जीवनरहित शरीरों की अपेक्षा परिच्छेदक विशेषता यह है कि जीवित शरीरों के अवयव अपनी मर्यादा न छोड़ते हुये सदैव परिवर्तनशील रहते हैं और उन परिवर्तनों में जो विशेषता होती है वह यह कि इनके साथ और इनके परिणाम रूप से अनेक यांत्रिक कार्य्य होते रहते हैं। एक अर्वाचीन लेखक लिखता है कि जीवन का मुख्य और मौलिक कार्य्य, शक्ति व्यापार है। *जीवित शरीर का मुख्य कार्य्य यह होता है कि शक्ति का ग्रहण करके उच्च संभवनीय अवस्था में इसका संग्रह रक्खे और सोद्योग होकर उसका व्यय किया करे।

(३) तीसरा चिन्ह, जो कदाचित् सब से विलक्षण और अद्भुत है, यह है कि जीवित प्राणियों में प्रत्युत्पत्ति अथवा वृद्धि की शक्ति होती है। यह शक्ति "आत्मविभाग"† के रूप में नीचे

---

* What is life by E. G. Allen.

† अणु क्षुद्र जीवों में एक जाति है जिसके कीट अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर लेते हैं और उनमें से प्रत्येक विभाग

योनियों में और प्रत्युत्पादक घटकों की शकल में उच्च योनियों में पाई जाती हैं। ये घटक यद्यपि प्रारंभिक अवस्था में भौतिक अथवा रासायनिक हेतुओं से अन्य योनियों के घटकों से अभिन्न से प्रतीत होते हैं, परन्तु उनमें एक ऐसी अलौकिक उत्पादक शक्ति होती है जिससे वे अपने ही अनुरूप प्राणी, जो रूप रंग आदि में उन्हींके सदृश होता है, उत्पन्न कर सकते हैं ‡। जीवन के इन चिन्हों और कार्य्यों पर विचार करते हुए "जीवन क्या है ?" इस प्रश्न का उत्तर, वालेस ने, इस प्रकार दिया है:—

"जीवन उस शक्ति का नाम है जो मुख्यतः वायु, जल, और उस तत्व से जो उनमें विलीन हैं, वनता है, और जो संगठित परन्तु अत्यन्त गूढ़ रचना है और नियत आकार और कार्य्य रखता है। आकार और कार्य्य, तरल पदार्थों और वायु के अभिसरण द्वारा विकास और ह्रासकी नित्य अवस्था में सुरक्षित रहते हैं और अपने सदृश प्रत्युत्पत्ति करते हुए शिशु, युवा और वृद्धि अवस्था को प्राप्त होते हुए मरकर उपादान भूतों में विलीन हो जाते हैं, और इस प्रकार निरन्तर अपने सदृश व्यक्ति वनाते रहते हैं और जब तक वाह्य स्थित से उनका बचा रहना सम्भव है, वे सम्भवनीय (Potential) अमरत्व को रखते प्रतीत होते हैं....ये जीवन के लक्षण

उसी कीट की सदृश एक नया कीट बन जाता है। इस कार्य्य-प्रणाली को जीवन विद्या (Biology) की परिभाषानुसार "आत्म विभाग" (Fission process of self division) कहते हैं।

‡ man's place in nature p. 15 to 158

जंगम और स्थावर दोनों पर घटित होते हैं"*

परिचमी वैज्ञानिकों में से उन वैज्ञानिकों को भी जो चेतना की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते और चेतना को शरीर के मेल का परिणाम नहीं समझते, चेतनाशक्ति (आत्मा) के कार्य्य को मुख्य स्थान देकर वर्णन करने में संकोच होता है, और वे प्रत्येक कार्य्य को प्राकृतिक साधना द्वारा ही वर्णन करते हैं। यही सबब है कि वालेस को भी जीवन का इतना लम्बा चौड़ा लक्षण करना पड़ा अन्यथा इतना कह देना मात्र पर्य्याप्त हो सक्ता था कि आत्मसत्ता का शरीर में होना और उसके गुणों का शरीर के स्थिर रखने और सार्थक बनाने के लिए क्रियात्मक रूप ग्रहण करना ही जीवन है" अस्तु अब चेतना की एकाणुवाद से उत्पत्ति के सम्बन्ध में डाक्टर वालेस के विचार देखने चाहियें।

हैकल का एकाणुवाद

जीवन के इन चिन्हों और उसकी अपूर्वता और अलौकिकता पर दृष्टि डालते हुए भी कुछेक ऐसे पुरुष हैं, जो पत्थर को विकासमय बतलाने वालों के सदृश, प्राकृतिक अणुओं में चेतना बतलाते हुए, जीवन की चेतना पूर्ण सत्ता को, उन्हीं (अणुओं) के मेल का परिणाम बतलाते हैं।

एकाणुवाद नास्तिकता का रूपान्तर है

ऐसे पुरुषों में हैकल मुख्य है। हैकल का एकाणुवाद नास्तिक मत है। हैकल ने स्वयं इसको स्वीकार किया है। हैकल लिखता है:—"नास्तिकवाद देवी देवतावों की सत्ता का निषेधकवाद है······यह ईश्वर की सत्तारहित सांसारिक नियम (नास्तिकवाद) एकाणुवाद अथवा वैज्ञानिकों के जड़ाद्वैतवाद से सहमत है।

* World of P. 3 and 4.

(वल्कि) यह (अणुवाद) उस (नास्तिकवाद) के वर्णन का एक दूसरा प्रकारमात्र है"* हैकल के लेख स्वमताभिमानपूर्ण हैं, और वह जब प्रकृति अथवा प्राकृतिक जगत् को नित्य और असीम बतलाता है, तब अपने विभाग (प्राणीविद्या) की सीमा का उल्लंघन करता है, क्योंकि जब योरुप के उच्च ज्योतिष के वैज्ञानिक सिद्धकर रहे हैं कि "यह हमारा प्राकृतिक जगत् असीम है और हमें उसकी पूर्ण सीमा का ज्ञान प्राप्त नहीं है और न हम इसके प्राप्त हो जाने के समीप हो रहे हैं" तो हममें से कोई भी नहीं है जो उसके आधाररहित स्वमताभिमान से, जिसमें निषेध और सर्वज्ञता के भाव सम्मिलित हैं सहमत हो सके। उसने अपने में उच्च ज्ञान होने की कल्पना केवल अपना अज्ञान छिपाने के लिये की है, जो उसे जीवन की वास्तविकता के सम्बन्ध में है। वह (हैकल) अत्यन्त कठिन और रहस्यपूर्ण प्रश्न को कि, किस प्रकार (शरीर में विना जीव की सत्ता के) भोजन पचता, शरीर का पालन होता और उसकी वृद्धि होती है, हल नहीं कर सकता है। †......इस प्रकार हैकल और उसके अणुवाद का निरादर करते हुये डाक्टर वैलेस भी हक्सले के इस कथन को उद्धृत करते हुये कि "जीवन शरीर रचना का हेतु है" कहते हैं कि "यदि जीवन शरीररचना का हेतु है, तो उस शरीर की रचना से पूर्व विद्यमान होना चाहिये और उसका विचार हम उसके जीवात्मा (Spirit) से अभेद्य होने ही के द्वारा कर सकते

* Riddle of Universe p. 103.

† The world of life by Dr. A. R Wallace p. 4-8.

हैं"* इसका आशय स्पष्ट है कि, डाक्टर वैलेस चेतना को शरीर के मेल का परिणाम नहीं समझते, किन्तु चेतना की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं।

चेतना और अचेतना में अन्तर

हैकल ने प्रकृति से चेतना की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिये बहुत हाथ पांव फेंके हैं, परन्तु समस्या कठिन थी इस लिये पूर्त्ति नहीं कर सका हैकल के चेतना सम्बन्धी अज्ञान का यह एक नमूना है कि वह चेतन और अचेतन व्यापार के भेद बतलाने में भी असमर्थ है। उसने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "चेतन और अचेतन के अन्तर्व्यापारों के बीच कोई भेद सीमा निर्धारित करना असम्भव है। कौन व्यापार ज्ञानकृत (चेतन) है, और कौन अज्ञानकृत (अचेतन), यह सदा ठीक २ बतलाया नहीं जा सकता† अस्तु, अब एक और विलक्षण बात सुनिये।

* The World of life p. 9.

† Riddle of universe by E. Haeckle p. 95, हैकल के शब्द (अंगरेजी अनुवादानुसार) ये हैं। "It is impossible to draw a hard and fast line in such cases between conscious and unconscious psychic function."

छठवाँ परिच्छेद ।

विलहेमवुराट

जरमनी के सबसे बड़े वैज्ञानिक वुराट (Wilhalm Wundt of Leipzig.) ने, जो प्राणि-विज्ञान और अङ्गविच्छेद शास्त्र के भी पूरे २ अभ्यासी थे अपनी एक पुस्तक (Lectures on Human and Animal Psychology) में १८६३ ई० में लिखा कि मुख्य २ मनोव्यापार अचेतन आत्मा (unconscious soul) में होते हैं।... ३० वर्ष बाद १८९२ ई० में उसी पुस्तक के संशोधित संस्करण में उसने अपने अनुभव और ज्ञानवृद्धि के आधार पर अपने पहले मत के भ्रम को दूर करते हुए, पुस्तक की भूमिका में उसने स्पष्ट लिख दिया कि "पहिले संस्करण में जो भ्रम (मनोव्यापारों के अचेतन आत्मा में होने आदि के) मुझसे हुए थे, उनसे मैं मुक्त हो गया। कुछ दिनों बाद जब मैंने विचार किया तब मालूम हुआ कि पहले जो कुछ मैंने कहा था वह सब युवावस्था का अविवेक था. मेरे चित्त में बराबर खटकता रहा और मैं जहां तक हो सके, शीघ्र उस पाप से मुक्त होने के लिये राह देखता रहा" इस प्रकार वुराट के ग्रन्थ के दो संस्करण में किये हुये मनस्तत्त्व निरूपण एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध हैं। पहले संस्करण के निरूपण तो सर्वथा भौतिक हैं और जड़ाद्वैतवाद लिये हुये हैं, (जो हैकल को इष्ट था) परन्तु दूसरे संस्करण के निरूपण अध्यात्मिक और द्वैतभावापन्न हैं, पहले में तो मनोविज्ञान को वुराट ने एक भौतिक विज्ञान मानकर उसका निरूपण उन्हीं नियमों पर किया था, जिन नियमों पर शरीर-विज्ञान के अन्य सब अंगों का होता है, पर तीस वर्ष पीछे उसने

मनोविज्ञान को आध्यात्मिक विषय कहा और उसके तत्त्वों और सिद्धान्तों को भौतिक विज्ञान के तत्त्वों और सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न बतलाया। अपनी मनःशरीरसम्बन्धी व्याख्या में स्पष्ट कह दिया कि प्रत्येक मनोव्यापार का कुछ न कुछ सहवर्ती भौतिक (शरीर) व्यापार अवश्य होता है; पर दोनों व्यापार सर्वथा स्वतंत्र हैं, अर्थात् शरीर और आत्मा दोनों पृथक २ हैं।*

विरचो और रेमोंड

इसी प्रकार जर्मनी के दो और प्रसिद्ध वैज्ञानिकों विरचों और रेमोंड (R. Virchos and E. do. Bois Remond) ने पहले २ बहुत दिनों तक भूतातिरिक्त (चेतना) शक्ति, शरीर और आत्मा की पृथक् सत्ता आदि का घोर विरोध किया, पर पीछे उन्होंने (अनुभव और ज्ञान वृद्धि के बाद) चेतना को भूतातिरिक्त व्यापार कहा और आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया। †

कांट का मत

इसी प्रकार जर्मनी के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक कैंट (Immanual Kant) ने पहले अपनी युवावस्था में स्थिर किया था कि ईश्वर, आत्मस्वातन्त्र्य और आत्मा का अमरत्व शुद्ध बुद्धि के निरूपण से असिद्ध हैं। पीछे (ज्ञान और अनुभव वृद्धि के बाद) वृद्धावस्था में उसने प्रमाणित किया कि ये तीनों विषय व्यवसायात्मिका बुद्धि के स्वयं सिद्ध निरूपण हैं और अनिवार्य हैं। ‡

* Riddle of Universe p. 82 and 83.

† Riddle of Universe, p. 76-77.

‡ Do p. 75 and 76.

वेयर इसी प्रकार युवावस्था के अल्पज्ञानोत्पादक विचारों का ज्ञान वृद्धि और अनुभव के बाद वेयर (Carl Eiust Baer) आदि ने भी मत परिवर्तित किया था और इन्होंने अन्त में आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया इस प्रकार आधे दर्जन से अधिक चोटी के दार्शनिक और वैज्ञानिकों के मत परिवर्तन से हैकल को शिक्षा ग्रहण करके अपने दार्शनिक सिद्धान्तों पर पुनः विचार करके उनका अनुकरण करना चाहिए था, परन्तु हैकल तो जड़ाद्वैतवाद के प्रवर्तक होने की लोकैषणाग्रस्त था उसने इन मत परिवर्तनों से उल्टी शिक्षा ग्रहण की, वह कहता है कि इन (वुण्ट आदि के) मत परिवर्तनों के सम्बन्ध में लोग कह सकते हैं कि युवावस्था में बुद्धि के अपरिपक्व होने के कारण इन्होंने सब बातों की ओर पूरा पूरा ध्यान नहीं दिया था, पीछे बुद्धि के परिपक्व होने और अनुभव बढ़ने पर इन्हें अपना भ्रम मालूम हुआ और इन्होंने उस अवस्था में इस प्रकार वास्तविक ज्ञान का मार्ग पाया (और यह कहना स्वाभाविक होता) परन्तु हैकल कहता है कि यह क्यों न कहा जाय कि युवावस्था में अन्वेषणश्रम की शक्ति अधिक रहती है, बुद्धि अधिक निर्मल और विचार अधिक स्वच्छ रहते हैं पीछे वृद्धावस्था में जैसे और सब शक्तियाँ शिथिल हो जाती वैसे ही मस्तिष्क भी निकम्मा हो जाता है (अर्थात् मनुष्य सठिया जाता है) * परंतु हैकल, वुण्ट आदि पर सठिया जाने का इलजाम लगाते हुए भूल गया कि ६६ वर्ष की आयु में जब उसने अपना प्रसिद्ध पुस्तक (Riddle of Universe)

---

* Riddle of Universe p. 83 & 84.

लिखकर अपने आविष्कृत जड़ाद्वैतवाद को प्रकट किया था तब, वह भी सठिया गया था, उसका भी मस्तिष्क उसी प्रकार निकम्मा हो चुका था जिस प्रकार अन्य शक्तियाँ शिथिल हो चुकी थीं। परंतु वह अपनी इस (६६ वर्ष की) अवस्था को परिपाक्व अवस्था कहकर अपना बड़प्पन प्रकट करता है, उसके शब्द ये हैं कि "I Now in my 66th year venrure to claim that it is mature" अतः स्पष्ट है कि हैकल जिस कसौटी से अन्यों को जांचता था उसका प्रयोग अपने लिये करने से बचता था। अस्तु हैकल ने अपने जड़ाद्वैतवाद के वर्णन में एक आवश्यक विचार उठाया है कि गर्भ के प्रारम्भिक घटक में समस्त शरीर (बीजवत्) रहता है या नहीं।

सातवां परिच्छेद।

गर्भमें समस्त जीव बीजवत् रहता है

सुश्रुत ने धन्वंतरि के अवलम्बन से लिखा है कि बांस के कल्ले या आम के फल के समान बालक के सब अंग एक साथ गर्भ में पैदा हो जाते हैं।* चेतन शरीर (मनुष्य अथवा अन्य प्राणी) भौतिक शरीर और आत्मा के मेल का परिणाम होता है, शरीर से आत्मा का मेल कब होता है यह बात बृहदारण्यकोपनिषद् के आधार पर कही

* सर्वांगप्रत्यंगानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वंतरि।
गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोप लभ्यते, वंशांकुरवच्चूतफलवच्च॥
[सुश्रुत, शरीरस्थान]

जा चुकी है कि गर्भ की स्थापना रज, वीर्य्य और आत्मा तीनों के मेल ही का परिणाम है, यदि जीव, रज और वीर्य्य के संघात में प्रविष्ट न हो जावे तो गर्भ की स्थापना नहीं हो सकती। गर्भ शरीरवत् भीतर से बढ़ता है बाहर से नहीं। भीतर से कोई बीज नहीं बढ़ सकती जब तक उसके भीतर जीव न हो, जिस प्रकार आम के बीज में आम का वृक्ष बनाने की योग्यता है जिस प्रकार वट के बीज में वट के वृक्ष के अंकुरित करने की शक्ति है इसी प्रकार पशु के वीर्य्य (बीज) में पशु, पक्षी के वीर्य्य में पक्षी और मनुष्य के वीर्य्य में मनुष्य बनाने की योग्यता होती है, आम अथवा वट किसी भी वनस्पति के बीज को ले लेवें उस बीज में उस वृक्ष का जिसका वह बीज है पूर्वरूप अत्यन्त सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहता है, यदि ऐसा न होता तो किसी भी बीज से कोई भी वृक्ष अथवा वनस्पति उत्पन्न हो जाया करती परन्तु प्रत्यक्ष यही है कि आम के बीज से आम, गेहूँ के बीज से गेहूँ और बबूल के बीज से बबूल ही पैदा होता है अतः यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि प्रत्येक बीज में उस वृक्ष का पूर्वरूप सूक्ष्मरूप में रहता है। स्वयं मनुष्य अथवा अन्य प्राणी के बीज (वीर्य्य) में भी उस २ प्राणी का पूर्वरूप जिसका वह बीज है, और वही बीज जीव की विद्यमानता के कारण, भोजन मिलने पर भीतर से बढ़ती है और सभी अंग प्रत्येक क्रमशः बढ़ते हैं। प्रथम मास तक रज और वीर्य घटकों का संघात विकसित होता हुआ ऐसी अवस्था में रहता है कि हम शरीर के अवयवों को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी नहीं देख सकते जिस प्रकार कि बीज में उपस्थित वृक्ष के पूर्वरूप को नहीं देख सकते हैं। गर्भ सम्बन्धी ये विचार

चिरकाल से संसार में माने जाते थे और योरुप में भी अरस्तू से लेकर जिसे वहां विज्ञान का जन्मदाता कहा जाता है, १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक माने जाते थे, अवश्य वहां के विद्वानों ने इस मन्तव्य में कुछ फेरफार कर लिया था। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध वैज्ञानिक हालर (Haller) ने इस वाद को स्वीकार करते हुए हिसाब लगाया था, कि ६००० वर्ष बीते जब ईश्वर ने जगत की रचना के दिनों में छठे दिन (बाइबिल के अनुसार)२ खरब प्राणियों के बीजवत् पूर्वरूप उत्पन्न करके उन्हें बुद्धिमत्ता के साथ हव्वा (आदम की पत्नी) के गर्भ में भर दिया *। हालर के इस कथन को सुश्रुत के गर्भवाद के साथ जिसे योरुप में 'Formation theory' कहते थे, "लीबनीज" (Leibnitz) जैसे दार्शनिकों ने भी पूर्णतया स्वीकार किया था †। १९वीं

* सन् १६०० ई० में इटली के अंग विच्छेद शास्त्र के विद्वान "फैबरी सियस-एब ऐक्लेपेगडन्टी" (Fabricius ab Apuapendente of Italy) और १६८७ ई० में प्राणीशास्त्र के एक विद्वान् "मैरसीलो मैलपीघो" Marcello Malpighi of Bologna) ने गर्भ के सम्बन्ध में पुस्तक लिखी और गर्भ के चित्र भी प्रकाशित किये थे। इन दोनों विद्वानों ने भी गर्भ में पूरे शरीर के पूर्व रूप का होना स्वीकार किया था (Riddle of Universe p. 44)

† यह वाद Theory of Scatulatiou के नाम से प्रसिद्ध हुआ था (Do. P. 49)

शताब्दी के उत्तरार्ध में योरुप में जड़वाद का प्रचार बढ़ने से आत्म शक्तियों का निरादर होने लगा इसी बीच में विकासवाद का भी जन्म हुआ फिर तो खुले तौरसे सुश्रुत के इस गर्भवाद का विरोध हुआ। कैसपर फ्रीडरिक-उल्फ (Caspar Friedrich Wolff,) ओकन (Oken) नेकिल (Prckel Earl) और वेयर (Ernst Baer) ने जड़वाद के प्रकाश में गर्भविकास का विवरण दिया, वेयर का विवरण अधिक मान की दृष्टिसे देखा गया। १८३८ ई० में घटकवाद के आविष्कार के साथ रज और वीर्य्य के घटकों की कल्पना हुई। जोनेसमूलरके दो शिष्यों रेमैकं (Robert Remak) और कोलीकर (Albort Kolliker of Wurzburg of Berlin) ने इस कल्पना को और भी अधिक पुष्ट किया इस के बाद डार्विनने विकासवादके द्वारा इस वाद को और भी अधिक पुष्ट किया जिसका परिणाम यह हुआ कि अब प्रायः समस्त योरुप में यही गर्भसम्बन्धी अन्तिम मत, 'तारतम्यपूर्वक गर्भ विधानवाद' के नाम से माना जाता है। परन्तु यह वाद सुश्रुत के वाद का विरोधी वाद किस प्रकार हो सकता है? समस्त शरीर का एक साथ क्रमशः बनना न माना जाकर यदि यह माना जाय कि कोई अवयव विशेष पहले बनता है तो यह बतलाना कठिन हो जायगा कि वह अवयव विशेष बिना अन्य अवयवों और उनके सहयोग के स्थिर किस प्रकार रह सकता है इसलिये इस सिद्धान्त के सम्मुख शिर झुकाना ही पड़ेगा कि गर्भ में समस्त शरीर बीजवत् रहता और क्रमशः बढ़ता है।

पितृपरम्परा अंकुरघटकमें हैकलके मतानुसार माता पिताके गुण आजाते हैं* परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं। गुणी में गुण होते हैं, इसलिये ये गुण तो जीवात्मा के साथ संस्कार के रूप में आते हैं और अपना प्रभाव आन्तरिक करणों पर डालते हैं। माता पिता से जो कुछ रजो वीर्य्य के साथ (अंकुरघटक में) आता है वह उनकी आकृति और स्थूल शरीर ही के गुण और दोष (सबलता, निर्बलता, रोगादि) होते हैं; अतः उन्हें पैतृक रोगादि का नाम दिया जाता है। डाक्टर अलबर्ट ऐबराम (Dr Albert Abram) ने हाल ही में जो रक्त सम्बन्धी आविष्कार किया है और जो "Oscillophora" के नाम से प्रसिद्ध हुआ है उस आविष्कार से पिता और पुत्र के रक्तों के परीक्षण से आविष्कार यह बता देने में समर्थ हुआ है कि अमुक पुत्र अमुक पिता का है। डाक्टर ऐबराम का कहना है कि वे

* रजः कीटाणु एक सूक्ष्म घटक है जिसका व्यास $\frac{1}{120}$ इंच होता है इसी प्रकार शुक्र कीटाणु भी सून या आलपीन के आकार का रोयेंदार अत्यन्त सूक्ष्म घटकमात्र है और वीर्य्य के एक बून्द में न मालूम कितने लाख होते हैं। इतनी सूक्ष्म वस्तु के लिये जिस की जाँच रसायन शालाओं में इस दृष्टि से कि उनमें माता पिता के मानसिक गुण हैं या नहीं, नहीं हो सकती, इस प्रकार की सम्मति देना स्वमताभिमानमात्र है। इसके सिवाय इस प्रकार की परीक्षा विज्ञान की सीमा से भी बाहर है। फिर उसके लिये यह कहना कि इनमें मानसिक गुण भी माता पिता के हैं, कल्पना मात्र है।

अपने आविष्कार से व्यक्तियों के पुरुष स्त्री भेद, और स्वास्थ्यावस्था भी, रक्त के परीक्षण द्वारा बतला सकते हैं। यह आविष्कार भी इसी विचार की पुष्टि करता है कि रजो वीर्य्य के साथ शारीरिक गुण दोषादि ही आते हैं मानसिक गुण दोषों का सम्बन्ध रजो वीर्य्य से नहीं। वे व्यक्ति की आत्मा के साथ संस्कार के रूप में आते हैं जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यही पितृपरम्परा है। मानसिक गुण व्यक्ति के अपने होते हैं जो पहले जन्म में प्राप्त किये हुये होते हैं। माता पिता के केवल शारीरिक गुण रजोवीर्य्य द्वारा आते हैं; अवश्य गर्भस्थापना के बाद गर्भस्थ अथवा उत्पन्न बालक पर माता पिता के आचार विचार के प्रभाव पड़ा करते हैं, परन्तु प्रभाव इसी जन्म के होते हैं उनको पितृपरम्परा की सीमा से बाहर समझना चाहिये। मानसिक गुण व्यक्तियों के अपने होने का एक पुष्ट प्रमाण यह भी है कि अनेक धार्मिक और विद्वान पिता माता के अधार्मिक और मूर्ख संतान देखी जाती है और इसी प्रकार कभी २ इसके विपरीत भी अर्थात् अधार्मिक माता पिता के अच्छी शिक्षित और धार्मिक सन्तान होती हैं, यदि वे जीव के साथ आये (मानसिक) गुण व्यक्तियों के न होकर माता पिता के होते तो सन्तान सदैव माता पिता के सदृश ही होती परंतु सदैव ऐसा नहीं होता इसलिये अंकुरघटक में मानसिक गुण दोषों के आने की कल्पना, क्लिष्ट कल्पना ही समझी जासकती है।

The Vedic Magazine for August 1921. p. 121 and 122.

माता पिता से सन्तान का आकृत भेद

सन्तान का माता-पिता से न केवल गुण भेद हुआ करता है किन्तु कभी कभी आकृति भेद भी हुआ करता है। यह क्यों है एक वैज्ञानिक "वीजमैन" (Weismann) को जब इसका उत्तर जड़वाद से न मिला तो उन्होंनेजीवात्मा के नित्यत्व के वाद (Theory of continuity of the Germ plasm) की स्थापन की, *परन्तु जीवात्मा का नित्यत्व न मानकर उसके स्थान पर बीजात्मा के नित्य मानने से भी जड़ाद्वैतवाद के मार्ग में एक रोड़ा अटकता था इसलिये हैकल ने इस वाद को "अत्युक्ति" कह कर रद् किया है अब हैकल इस आकृत भेद का क्या उत्तर देता है वह सुनिये:—

"विचार और (आकृत) विभेद के सम्बन्ध में यह भी है कि और ऊपर की पीढ़ियों (दादा, परदादा आदि पूर्वजनों) के मानसिक संस्कार भी साथही उसे (उत्पन्न बालक को) प्राप्त हो जाते हैं, "कुलपरम्परा सम्बन्धी प्राकृतिक नियम आत्मा पर भी ठीक वैसेही घटते जैसे अङ्गविधान पर" । † यह कल्पना "असम्भव कल्पना" कही जा सकती है, सन्तानोत्पत्ति का मूलकारण हैकल के मतानुसार केवल पुरुष और स्त्री घटकों का सम्मेलन है, यह घटक पुरुष और स्त्रीयों के शरीरही में तय्यार होते हैं इनमें अनेक पीढ़ियों के मानसिक और शारीरिक गुण कहां आसकते हैं ? मानसिक गुण

---

*The Riddle of the universe p. 115.

† The Riddle of universe p. 16 इस वाद का नाम हैकल ने Laws of progressive heredity and of the correlative functional adaptation." रक्खा है ।

तो इनमें माता पिता के भी नहीं होते, उनके केवल शारीरिक गुण उनमें होते और होसकते हैं जैसा कि ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है. डाक्टर "एशराम" ने भी अपने रक्तवाद में पिता और पुत्रकाही सम्बन्धी प्रकट करने की योग्यता बतलाई है,- दादा, पर दादा का हाल इस अविष्कार के द्वारा नहीं बतलासकता, परन्तु हैकल कल्पना करने में सिद्धहस्त था. इसलिये सम्भव असम्भव ऐसी कोई भी कल्पना करने में उसे संकोच नहीं होता था जो जड़ाद्वैतवाद की विधायक हो, आकृति भेदका असली कारण गर्भस्थापना के समय माता के विचार होते और होसकते हैं। आकृति के साथही योनि का प्रश्न सन्मुख आजाता है।

आठवाँ परिच्छेद

स्थिर योनिका प्रश्न

योनियां दो प्रकार से मानी जाती हैं (१) स्थिर (२) अस्थिर, स्थिर योनिवाद का तात्पर्य्य यह है कि जगत के प्रारम्भ ही से सब प्रकारकी योनियां रची हुई चली आती है जैसे मनुष्य, पशु, पत्ती कीटपतङ्गादि (२) अस्थिर योनिवादका अर्थ यह है कि प्रारम्भ में कोई एक योनि थी और उसीसे अन्य योनियोंका विकास हुआ है, यह अस्थिर योनिवाद ही विकासवाद का मुख्य अंग है, इस वाद के शेष अंग इसी मुख्य अंगकी स्थापनाके लिये विकासवाद का अंग बनाये गये हैं, डार्विन के विकासवाद के प्रारम्भ तक पृथ्वी के अन्य देशों सदृश, स्थिरयोनिवाद योरुप में भी माना जाता था, १७३५ ई० में स्वीडेन के वैज्ञानिक "लिने" (Earl Linne) ने अपनी एक

पुस्तक (Classiclal systema naturae) में प्राणियों का वर्गविभाग करते हुये प्रकट किया था कि संसार में उतनीही योनियां दिखाई देती हैं जितने ढांचें सृष्टिके आरम्भ में थे । १८१२ई० में क्यूविंयर ने अपनी एक पुस्तक Fossils bones of the four-footed Vertebrates) अप्राप्य जीवों का विवरण देते हुए "लिने" के प्रकट किये हुये मत ही की पुष्टि की । अर्थात् योनियां अचल और स्थायी हैं, उसने सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का भी विवरण अपनी पुस्तक में दिया कि सृष्टि के प्रारम्भ में सब वर्ग के जीव उत्पन्न होते हैं और प्रलय में सबका संहार होजाता है, उस के बाद फिर से सब जीवों की नई सृष्टि होती है ।

१७९०ई० में जर्मनी कवि और वैज्ञानिक गेटे (W. Goethe) ने अपनी एक पुस्तक (Metamorphosis of plants) में समस्त पौधों की उत्पत्ति एक आदिम पत्ते से बतलाई ।१८०२ में फ्रांसीसी वैज्ञानिक लामार्कने एक पुस्तक (Observations on living Organisms by Jean Lamarck) योनियों के परिवर्तन के सम्बन्ध में लिखी, परंतु डार्विन से पहले अस्थिर योनिवाद यूरुप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ डार्विन के विकासवाद के अनुसार प्रारम्भिक जीव से लेकर मनुष्य की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है:—

विकासवाद में योनिपरिवर्तन का क्रम

सबसे पहले आदिम मत्स्य फिर फेफड़वाल मत्स्य, फिर जलस्थ लचारी जंतु मेंढक आदि सरीसृप और स्तन्य जन्तु, स्तन्यजीवों में अण्डज स्तन्य फिर अजरायुज पिण्डज (थैलीवाले) और जरायुज जन्तु फिर किम्पुरुष जिनमें पहले बन्दर, फिर बनमानुस उत्पन्न

पतली नाकवाले वनमानुसों में पहले पूँछवाले कुक्कुटाकार वनमानुस हुये फिर उनसे बिना पूँछवाले नराकार वनमानुस हुए, इन्हीं नराकार वनमानुसों की किसी शाखा से जिसका अभी ज्ञान नहीं है, वनमानुसों के से गुने मनुष्य उत्पन्न हुये और फिर उन्हीं से बोलनेवाले मनुष्य की उत्पत्ति हुई बतलाई जाती है। योनियों के परिवर्तन अथवा अस्थिर योनिवाद का मुख्य आधार केवल यह कहा जाता है कि क्रमपूर्वक योनियां एक दूसरे से मिलती और उन्नत होती हुई पाई जाती है, उन्नति का हेतु यह होता है कि जिस अवयव की आवश्यकता प्राणी को अनुभव हुई वह उत्पन्न और जिसकी अनावश्यकता हुई वह नष्ट होकर उन्नत योनियां बनती जाती है। प्रथम तो यह क्रम पूरा नहीं है, स्वयं हैकलको स्वीकार है कि रीढ़वाले जन्तुओं की उत्पत्ति की शृंखला तो मिलती जाती है परन्तु उनसे पहले बिनारीढ़वाले जन्तुओं की शृंखला मिलाना कठिन है। भूगर्भ के भीतर उनके कोई चिन्ह (ढांचा आदि) नहीं मिल सकते इससे उनके क्रमकी खोज में प्राग्जन्तु विज्ञान से भी कुछ सहायता मिल नहीं सकती* । इस कठिनता को विकासवादानुयायी अच्छी तरह समझते हैं, कल्पनाओं के करने में निपुण हैकल को भी यह कठिनता इन शब्दों में स्वीकार करनी पड़ी, "प्राणिवर्गोत्पत्ति विद्या का विषय परोक्ष होने के कारण अधिक कठिन है, उन क्रियाविधानों के धीरे २ होने में जिनके द्वारा उद्भिदों और प्राणियों के नये २ वर्गों की क्रमशः सृष्टि होती है, लाखों वर्ष लगते हैं......उन क्रियाविधानों का परिज्ञान हमें

* Riddle of Universe p. 68.

अनुमान और चिन्तन द्वारा तथा गर्भविधान और निःशेष जीवों के भूगर्भस्थित अस्थिपंजरों की परीक्षा द्वारा ही विशेषतः होता है"†

सबसे मुख्य बात तो यह है कि यह वाद प्राकृतिक नियमों का विरोधी है‡

संसार का यह अटल नियम है कि संसार में उत्पन्न जो प्रत्येक वस्तु या प्राणी है उसके लिये विकास के साथ ह्रास अनिवार्य्य है। एक समय सूर्य्य में उष्णता बढ़ी अब क्रमशः

---

† Riddle of Universe p. 58 and 59.

‡ एक योनि से दूसरी योनि बनने का क्रम यह बतलाया जाता है कि प्राणी जिन अवयवों का प्रयोग करता रहता है, वे स्थिर अथवा नवीन उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे काम नहीं लेता वे नष्ट होजाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य और उसके पूर्वज एक प्रकार के वनमानस थे उनकी पूछ नष्ट होगई बतलाई जाती है परन्तु यह बात मनुष्य के सम्बन्ध में ठीक नहीं मालूम होती मनुष्यों में चंवर या चौरी के प्रयोग प्रचलित होने से यह नहीं कहा जा सकता कि उसने पूंछ की आवश्यकता नहीं समझी, अथवा गौण समझो या ऐसी दशा में या तो पूंछ नष्ट ही न होती अथवा यदि मनुष्य योनि बनने से पहले नष्ट हो गई थी तो आवश्यकता अनुभव करने के हेतु से नवीन उत्पन्न होजाना चाहिये थी परन्तु नहीं होती।

घटती है, पृथिवी पर एक समय तो अग्नि का, दूसरे समय जल का आधिक्य हुआ परन्तु दोनों का एक समय ह्रास होगया, बालक उत्पन्न होकर बढ़ता है, युवा होकर फिर बूढ़ा होना शुरू होजाता है और अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाता है जो ह्रासकी अन्तिम सीमा है, वृक्ष उगते हैं बढ़ते हैं, समय आता है कि नष्ट होजाते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक कीट पतंग पत्थर पक्षी में यह दोनों नियम सामानान्तर रेखा की तरह, काम करते दिखाई देते हैं। परन्तु यह अन्तरयोनि विकासवाद ह्रास शून्य बतलाया जाता है यही इसकी मुख्य त्रुटि है। एक २ योनि अथवा एक २ प्राणिवर्ग के भीतर विकास और ह्रास दोनों होते हैं और वे दोनों सब को स्वीकृत हैं उनसे कोई इन्कार नहीं कर सकता। परंतु एक योनि विकसित होकर दूसरी योनि बन गई यह कल्पनामात्र है। आज तक समुद्रों में इन्द्रियहीन अमीबा कीट उसी प्रकार देखा जाता है, यह वर्ग इस अवस्था में क्यों शेष है? इसका विकास क्यों नहीं हुआ? योनि का विकाक केवल उसी अवस्था में माना जा सकता है कि विकसित होने पर वह अविकसित अवस्था में बाकी न रहे जब वह योनि, जिस विकासवाद में आदिम योनि बतलायी जाती है, अब भी ज्यों की त्यों अविकसित रूप में बाकी है तो उसके लिये तो विकास खपुष्प के तुल्य ही हुआ। क्रमपूर्वक योनियों के मिलने पर (यद्यपि पूरा क्रम मिला नहीं है), कहा जाता है कि विकासकी भित्ति स्थापित है, इसका सुगमता से यह उत्तर भी तो दिया जा सकता है कि एक ही रचयिताकी रचना होने से इन में मेल होना अवश्यक ही था जिस प्रकार एक कुम्भकार के बनाये हुये बर्तनों में मेल होता है।

योनिविकास के साथ ज्ञानवृद्धि की कल्पना कल्पनामात्र है

एक और बात है जो विकासवाद में सम्मिलित कर ली गई है कि योनियों के शारीरिक विकास के साथ उसी क्रम से ज्ञानका भी विकास होता है और इसी ज्ञानके विकास के आधार पर कहा जाता है कि प्रत्येक ज्ञान जो संसार में इस समय है वह सब प्रारम्भिक साधारण ज्ञानके विकास का परिणाम है, परन्तु विकासवादियों का यह दावा सब जगह कल्पना में भी नहीं आ सकता, विशेष कर सूक्ष्म कलाओं में यह नियम चरितार्थ होता हुआ नहीं दिखलाई देता, और नहीं बतलाया जा सकता कि चित्रकारी तथा गानविद्या आदि किस प्रकार विकसित हुए हैं।

लाज भी इससे सहमत नहीं

यही बात सर आलिवर लाजने भी कही है कि सूक्ष्मकला चातुर्य्य विकासवाद का परिणाम नहीं है। बालफोर (Balfour) महोदय इस (लाज के) मतसे सहमत हैं * :—

डाक्टर वालेस, जो विकासवाद के, डार्विन के साथ, सह-आन्वेषक माने जाते हैं, वे भी इससे सहमत नहीं कि योनि विकास के साथ ज्ञानका भी विकास होता है। वे प्रचलित पश्चिमीय सभ्यता पर विचार करते हुये (और उसकी तुलना उस सभ्यता से करते हुये) जिसका वर्णन ऋग्वेद में हुआ है, लिखते हैं :—

"हमको स्वीकार करना चाहिये कि वे मस्तिष्क, जिन्होंने

* Life and matter by Sir O. Lodge p. 143.

ऐसे विचारों को जो इन वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं विचारा, और उपपन्न भाषा में प्रकट किया, किसी अवस्था में भी हमारे उत्तम से उत्तम धार्मिक शिक्षकों, कवियों, हमारे मिलटनों और हमारे टेनीसनों से, न्यून नहीं थे" †

डाक्टर वालेसने न केवल भारतवर्ष की सूक्ष्म कलाओं और इमारत आदि से सम्बद्ध शिल्पविद्याओं को आजकल की सूक्ष्म-कलाओं और शिल्पों के तुल्य ठहराया है किन्तु मिश्र, यूनान और असीरिया जाति की भी; भिन्न २ विद्याओं और सभ्यताओं को, आजकल की विद्याओं और सभ्यताओं से निम्न कोटि का नहीं ठहराया और ऐसी अवस्था में उन्हें वाधित होकर स्वीकार करना पड़ा कि "इसलिये क्रमपूर्वक ज्ञानवृद्धि के कोई प्रमाण नहीं हैं, उनके शब्द यह हैं:—There is. therefore, no proof of continuously increasing intellectual power." ‡

प्रोफेसर ए इरमैन भी सहमत नहीं।

मिश्र के प्राचीन लेख जो भोजपत्र के सदृश एक पत्र पर, जिसे पैपाइरी (Papyri) कहा जाता है, अंकित हैं, उस समय के विचार, विश्वास और आकांक्षाओं को प्रकट करते हैं, जिस समय को, मिश्र की जगत्प्रसिद्ध मीनारों के निर्माणकाल से भी पहला बतलाया गया है। इन तथा इस प्रकार के मिश्र के अन्य

† Social Enviroment and moral progress by, Dr. Wallace. p. 14.

‡ The Social Environment and moral progress P. 8 to 26.

प्राचीन लेखों को पढ़ कर प्रोफैसर इरसैन ने अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है :—

"परन्तु जब कोई विचरता है कि नील नदी की घाटियों के निवासी भी मनुष्य ही थे, और हमारी जैसी ही इच्छायें, उद्वेग और उत्साह रखते थे। उन्हीं में से एक पुरुष क्रियात्मक समाजशास्त्र के प्रश्नों को हल करने के लिये उसी प्रकार यत्नवान है जैसे आज हम हैं, तब क्या प्राचीन मिश्र की ऐतिहासिक शिक्षायें, अपने असली स्वरूप में और अपने सच्चे अर्थों में, हम तक यहां लाई जा सकती हैं ? (यदि लाई जावें तो) उनसे जो वास्तविक शिक्षा मिलेगी, (यदि हम इस संभावना को चित्त में दृढ़ता से धारण रक्खेंगे कि मिश्र के इतिहास की त्रुटियां जो तीन या चार सहस्र वर्षों के भीतर अर्थात् उस काल से सम्बद्ध है जिसने मिश्र के मीनार-निर्माताओं को सिकन्दर के समकालीन पुरुषों से पृथक् किया था,) वह यह होगी कि वह समय मिश्र जाति के अधःपतन का अन्धकारमय युग था, * (अर्थात् उन्नत-काल प्रचलित यौरुपीय उन्नतकाल से कहीं बढ़कर होगा) तो फिर क्रमशः ज्ञानवृद्धि कहां रही ?

मीटर लिंक की सम्मति भी इसके विरुद्ध है।

सृष्टि उत्पत्ति का क्रम जो पश्चिमी विद्वान् बतलावे और जो भारतीय ऋषि लिख गये हैं और जिसका कुछ उल्लेख मनुस्मृति में भी है इन सब पर विचार करते हुये मीटर लिंक महोदय जो पश्चिमी विद्वानों में बहुत ऊँचा आसन रखते हैं, अपनी एक नई पुस्तक में लिखते हैं:—"उदाहरण के लिये क्या यह आकस्मिक घटना थी कि पृथिवी व्यस्तता (Chaos) से उत्पन्न होकर प्रचलित रूप में

समा गई, और प्राणियों से ठीक उसी प्रकार भरपूर हो गई जैसा कि कहा जाता है ?—मनुस्मृति के अनुसार, आकाश (ईथर) से वायु उत्पन्न होता है और वायु परिवर्तित होकर प्रकाश (अग्नि) को जन्म देता है और वायु और प्रकाश के मेल से जल उत्पन्न होता है और जल ही समस्त प्राणियों का जन्मदाता है' जब यह जगत् अंधकार (प्रकृति) से प्रादुर्भूत हुआ तो भागवतपुराणानुसार, जिसे हिन्दू वेदवत् समझते हैं, अति सूक्ष्म आदिम तत्त्व से औषधि बीज रूप में उत्पन्न हुई उससे वृक्ष उत्पन्न हुये और वृक्षों से जीवन उन विलक्षण जन्तुओं में पहुंचा जो जलमें पंक (Slime) से उत्पन्न हुये थे,-फिर जीवन भिन्न प्रकार के अनेक रूपों और तुजन्ओं में, जैसे औषधि से कृमि (Worms) कृमि से कीट (Insect) उससे सांप के सदृश जन्तुओं उनसे कुछुए आदि (Tortoisres) उनसे पशुओं और जंगली पशुओं में पहुँचा। यह विवरण निम्न श्रेणी का है—मनु फिर कहते हैं कि उत्पन्न जन्तु अपने पूर्वजों के गुण प्राप्त करते गये जिससे अन्त अन्त के उत्पन्न प्राणियों में अधिकतर योग्यता आती गई (मनुस्मृति १। २०) यहाँ तक वर्णन करने के बाद मीटर लिंक प्रश्न करते हैं कि "डारविन के समस्त विकसवाद और भूगर्भविद्या से, क्या यही प्रमाणित नहीं हुआ और क्या उसका पूर्वरूप कम से कम ६००० वर्ष पहले नहीं कह दिया गया था ? और क्या यह (मनु का बतलाया हुआ) आकाश जिसे हम अचातुर्य से ईथर करते हैं। जगत् की उत्पति का सिद्धांत वही नहीं है जिस पर अब भौतिक विज्ञान लौट रहा है ?" × × × "कहांसे हमारे इतिहास काल से पहले इन पूर्वजों ने, जिनके लिये भयानक अंधकार और अविद्य में होना

कल्पित किया जाता है, असाधारण ज्ञान प्राप्त किया था जो कठिनता से हमें प्राप्त है ? और यदि उनके विचार कुछेक विषयों में, जिनका सत्य होना आज भी हम प्रमाणित करते हैं, ठीक थे, तो क्या हम अपने से यह प्रश्न उचित रीति से नहीं करसकते कि उन्हें (भारतीय ऋषियों का) प्रकृति का ज्ञान हमारी अपेक्षा अधिक और ठीक प्राप्त था ? इसके सिवा और भी अनेक विषयों में वे ऐसा ही (प्राकृतिक ज्ञान के सदृश) परिमित ज्ञान रखते थे जिसकी तसदीक़ हम आज तक नहीं कर सक्के हैं (अर्थात् वह और उतना ज्ञान हमें अभी प्राप्त नहीं है)—एक बात अवश्य निश्चत है कि उन पूर्वजों को उस दर्जे तक पहुँचे हुए होने के लिये उनके समक्ष अवश्य बहुत से परिक्षणों, पारंपर्य (Traditions) और अनुभवों के कोष होंगे जिनका हम इस समय विचार भी नहीं करसक्के ? और इसलिए (मीटर लिंक सलाह देते हैं) हम सबको उचित है कि उन पूर्वजों के दिए हुए ज्ञान पर अधिक विश्वास और उनका उससे अधिक मान करें जितना हम अब तक करते रहे हैं, *इत्यादि २—मीटर लिंक महोदय ने और भी अनेक बातें इसी प्रकार की अपनी पुस्तक में लिखी हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि मीटर लिंक भारतीय ऋषि मुनियों को आज के विद्वानों की अपेक्षा अनेक विषयों में अधिक ज्ञान रखनेवाले समझते थे। फिर क्रमशः ज्ञानवृद्धि कहां प्रमाणित हुई ?—

—◈—

नवां परिच्छेद

मेसोपोटेमिया की सभ्यता भारत और मिश्र के सदृश थी

जबकि भारतवर्ष और मिश्र की प्राचीन सभ्यताओं के लेखवद्ध प्रमाण उपस्थित हैं तब मेसोपोटेमिया के प्रसिद्ध नगरों नैनवा और बैबीलोन के केवल खंडर ही अवशिष्ट थे। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लेयार्ड (Layard और रौलिन्सन Rowlnson) आदि विद्याप्रेमियों ने इन नगरों के खंडरों में से एक पुस्तकालय निकला जिसकी पुस्तकें कागजपर नहीं किन्तु ईंटे और पत्थरों पर लिखी हुई थीं। वे पुस्तकें पढ़ी गईं और उन का अनुवाद किया गया। उनसे उन प्राचीन जाति का इतिहास, कानून, लोकाचार और दैनिक जीवन किस प्रकार का था, ये सब बातें ज्ञात हुईं, उन सब पर विचार करने के बाद डाक्टर वालेस ने लिखा है कि उस प्राचीन जाति में (इतिहासादि) सब बातें प्राचीन भारत निवासियों और मिश्रियों से मिलती जुलती हैं।*

जब प्राचीन से प्राचीन जातियों में उच्च सभ्यता उच्च ज्ञानका होना स्वयं पश्चिमी विद्वानों के लेखों से प्रकट होता है तो फिर क्रमशः ज्ञान की वृद्धि कहाँ प्रमाणित हुई ? इसके साथ ही एक बात और भी है:—

---

* स एष पूर्वेषामपि गुरुःकालेनानवच्छेदात्

॥ योगदर्शन २।३१

यदि क्रमशः ज्ञान वृद्धि स्वाभाविक रीति से होती तो इस समय भी अनेक जातियां अज्ञानी क्यों है ?

यदि इस बात को प्रमाणित कल्पना कर लिया जावे भक्ति क्रमशः ज्ञानवृद्धि योनि विकास के साथ ही स्वयमेव होती है तो इस समय पृथिवीतल की सभी जातियों में उच्च सभ्यता होनी चाहिये थी परन्तु इस समय भी पृथिवीतल पर अनेक जातियाँ हैं कि जिनको पशुही कहा जा सकता है और उनमें सभ्यता क्या वस्तु होती है उसका ज्ञान तक पाया नहीं जाता। ध्रुव के समीपवर्ती उन जातियों को देखें कि जिनके कर्तृत्व सेलनामक पशु को मार कर उसके मांस और जलमें उत्पन्न एक प्रकार की काई के सदृश वनस्पति से अपना पेट भरते हैं, उसी सेल पशु की खाल ओढ़ते और उसी की चरबी से कभी कभी दीपक जलाते हैं, अथवा जावा बोर्नियो और सिलीबीज द्वीपों की मनुष्यभक्षक जंगली जातियों को देखें तो विकास के एक नियमानुसार यह उच्च योनि को तो प्राप्त होगये परन्तु दूसरे नियमानुसार इनमें क्रमशः ज्ञान-वृद्धि क्यों नहीं हुई ?

परीक्षणों से भी स्वभाविक ज्ञान-वृद्धि प्रमाणित नहीं होती।

अतः स्पष्ट है कि स्वाभाविक रीति से ज्ञान-वृद्धि नहीं होती इसके सिवा नैनवा, वैब-लोन के प्रसिद्ध राजा असुरवानीपाल, फ्रेडरक द्वितीय, जेम्स चतुर्थ और महान् अकवर के समय में जो परीक्षण किये गये और जिनमें कुछेक बालक बिलकुल मनुष्यसमाज से इस प्रकार पृथक रक्खे गये थे कि वे न किसी प्रकारकी बातें मनुष्यों की सुन सकें और न और किसी प्रकार मानुषी क्रियाओं को देख सके।

कुछेक स्त्रियां उनके पालन-पोषण और रक्षण के लिये नियत थीं जो समय २ पर विना कुछ बोले अथवा संकेत किये उन बालकों का, दूध पिलाना आदि, काम करके एक ऐसे स्थान पर चली आती थीं जहां से बालकों को अपनी दृष्टि में रक्खें। ऐसे सभी परीक्षणों का एक जैसाही परिणाम प्रायः सभी समयों में निकला, और वह परिणाम यही था कि बालक बहरे और गूँगे थे और उनमें मनुष्यत्व की एक बात भी नहीं आ सकी थी यह परीक्षण फिर भी, यदि कोई चाहे तो किये जा सकते हैं।

ज्ञानवृद्धि के लिये निमित्त अपेक्षित है

एक पुरुष शिक्षा पाने से क्यों शिक्षित बन जाता है दूसरा मनुष्य शिक्षा न पाने से क्यों मूर्ख रह जाता है ? इस सब का कारण यह है कि मनुष्य की ज्ञानवृद्धि (स्वाभाविक रीति से नहीं किन्तु) नैमित्तिक रीति से किसी निमित्त (गुरु अथवा अध्यापक) के प्राप्त होने से होती है। यह निमित्त इस समय तो हमारे अध्यापकवर्ग हो सकते हैं, परन्तु सृष्टि के आरम्भ में जगत्कर्ता के सिवाय और कोई निमित्त नहीं होता, उसी से ज्ञान प्राप्त हुआ करता है।

इलहाम अथवा ईश्वरीय ज्ञान।

वही ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) कहलाता है, और इस नैमित्तिक ज्ञान का दाता होने से वह (ईश्वर) आदि गुरु कहलाता है, * इस नैमित्तिक ज्ञान के सिद्धान्त को अन्य विद्वानों के सिवाय आज कल के अनेक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

* स एष पूर्वेषामपि गुरुःकालेनानवच्छेदात् ॥
योगदर्शन २।३१

फ्लिंट का मत। "ऐश्वर्य नियमों का प्रकाश और सज्ञान सृष्टिरचना नैमित्तिक ज्ञान (इलहाम) प्राप्त हो जाने के लिये पर्य्याप्त नहीं हैं जो दुःखों से छूटने के लिये अपेक्षित है। गहरी से गहरी और उच्च से उच्च बुद्धि के लिये भी वे सचाइयां अपेक्षित हैं जो नैमित्तिक ज्ञानमात्र से प्राप्त होती हैं।" *

फिलिप की सम्मति "वेदानुयायी आर्य्यों के उच्च और शुद्ध विचारों का केन्द्र प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान था †। हम यहाँ अधिक सम्मतियां, न देकर केवल एक वैज्ञानिक की सम्मति और उद्धृत करना चाहते हैं यह सम्मति नवीन और १९१४ ई० में दी गई थी।"

डाक्टर फ्लीमिंग का मत "यदि हम निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो वह मनुष्यों के निर्बल मस्तिष्कों में बुद्धि के धीमें प्रकाश से नहीं आ सकता, वह केवल सर्वज्ञ ईश्वर के साक्षात् प्रदत्तज्ञान से मनुष्यों के परिमित मस्तिष्कों में आया करता है" फ्लीमिंग के शब्द यह हैं:—

"If we are to obtain more solid assurances it cannot come to the mind of man groping feebly in the dim light of an assisted reason but only by a communication made directly from this supreme mind to the finite mind of man." ‡

---

* Theism by R. Plint page 310 and 320.

† Phillip's Teachings of the Vedas, P. 231.

‡ Science and religion by seven men of science.

हैकलका अन्तिम मत

यह बात कदाचित् कम रुचिकर न होगी यदि यहां पर हैकल का मत भी प्रकाशित कर दिया जावे। "रिडिल" * के पढ़नेवाले अच्छी तरह जानते हैं कि इस पुस्तक में उस हैकल ने "इलहाम" का कितना खंडन किया था परन्तु इस पुस्तक के लिखने के बाद उसकी सम्मति भी हकसले की तरह, जड़ाद्वैतवाद के सम्बन्ध में उतनी दृढ़ नहीं रही थी जितनी उस पुस्तक के लिखते समय थी, स्वयं हैकल ने एक "मेगज़ीन" (मासिक पत्र) के लेखक से अपने जड़ाद्वैतवाद और उपर्युक्त पुस्तक के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हुए कहा था, "यह विस्तृत और कभी न समाप्त होनेवाला दार्शनिकवाद है, शायद यह सदैव अपूर्ण ही रहेगा और यह कूट प्रश्न कभी हल न होगा, मैंने जीवन के प्राकृतिक नियम और विश्व के उचित आशय के पकट करने की चेष्टा की है परन्तु फिर भी प्रश्न बाकी ही रहेंगे और वह (प्रश्न) यही है जैसा तुम कह रहे होः—"हम कहां से आते हैं" "हम क्या हैं, और कहां जाते हैं," हैकल के शब्द ये हैं:—

"It is a vast and never ending programme of philosophy. Perhaps it will always remain incomplete and the riddles always unanswered. I have striven for a reasonable interpretation of life nature and the world. But the riddles remain.

---

* The article in the T. P's Magazine quoted in the materialism by Darab Dinsha Kanga p. 52.

They are as you observe a trinity:—

"Whence do you come?"

"What are we?"

"Whither do we go?"

हैकल के इन शब्दों में, उस स्वमताभिमान की, गन्ध भी नहीं है, जो उसकी पुस्तक 'रिडिल' में पग २ पर देखा जाता है। बात यहीं समाप्त नहीं होती। हैकल ने "इलहाम" के सम्बन्ध में जो दूसरा मत दिया है वह भी सुनने के योग्य है। जीव और ईश्वर की सत्ता की चर्चा करते हुए वह कहता है यदि यह स्वीकार कर लिया जावे कि कोई उच्च शक्ति ईश्वर है तो उससे ज्ञान प्राप्त होने की संभावना हो सकती है। हैकल के शब्द ये हैं:—

"They may or may not receive such information but their is no Scientific Ground for dogmatism on the subject nor any reason for asserting the inconceivability of such a thing"*

इनका आशय यह है कि उन्हें ऐसा ज्ञान प्राप्त हो या न हो परन्तु इस विषय (की संभावना) का विरोधी कोई वैज्ञानिक हेतु नहीं है और न कोई कारण है जो ऐसे विषय के विचार कोटि में आने का बाधक हो। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली जावे तो फिर "इलहाम" की संभावना हो सकती है जैसा कि कहा जा चुका है। दूसरे शब्दों में यही बात

*The article in the T. P. O. Magazine quoted in the Materialism by Darab Dinsha Kanga P. 153.

इस प्रकार की कही जा सकती है कि ईश्वर की सत्ता के स्वीकार करने से क्रमशः ज्ञानवृद्धि, हैकल के मतानुसार, आवश्यक नहीं रहती

दसवाँ परिच्छेद

क्या विकासवाद नास्तिकवाद है?

यहां एक अनिवार्य प्रश्न यह उठता है कि क्या विकासवाद नास्तिकवाद है ? "डार्विन" का जहां तक सम्बन्ध है वह तो ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता था . जैसा कि आगे के पृष्ट प्रकट करेंगे, परन्तु इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि जड़वादियों के अधिकार में पहुँच कर विकासवाद भी उसी प्रकार जड़वाद से प्रभावित हो गया जिस प्रकार १९वीं शताब्दी का विज्ञान प्रभावित था। वास्तव में विज्ञान और धर्म में विरोध नहीं है, परन्तु जिस प्रकार मध्यकालीन योरुप के ईसाई पादरी विज्ञान के विरोधी थे उसी प्रकार अपनी बारी में जड़ाद्वैत-वादी (नास्तिक) वैज्ञानिक, धर्म के विरोधी बन रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विकासवाद के आविष्कार डार्विन (और डाक्टर वालेस को भी उसके साथ सम्मिलित कर लें तो उन) के नास्तिक न होने पर भी जड़वादी वैज्ञानिकों की कृपा से विकास-वाद पर नास्तिकवाद अपना अधिकार किए हुए है।

डार्विन ईश्वर वादी था

अच्छा अब डार्विन का मत सुनिए। "वर्गों के आदि कारण" नामक पुस्तक के प्रथम संस्करण में इस बात का विचार करते हुए कि प्रारम्भ में एक ही

मनुष्य (आदम के सदृश) उत्पन्न हुआ था, वह लिखता है कि—

"I should infer from analogy that probably all the organic beings have descended some one primordial form into which life was first breathed"*

इसका आशय यह है कि:—

"सादृश्य से यह अनुमान किया जाता है कि प्रायः समस्त जीवधारी किसी एक प्रारम्भिक जीव से उत्पन्न हुए हैं जिसमें पहले पहल जीवन फूँका गया था। परन्तु जब उसके सम्मुख यह दूसरा विचार भी पहुँचा कि प्रारम्भ में अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है, तो उसने इस अथवा अन्य किसी हेतु से, उपर्युक्त पुस्तक के दूसरे संस्करण में उपर्युक्त वाक्यों के स्थान में निम्न वाक्य प्रकाशित किए" :—

"There is a grandeur in this view of life having been Originally breathed by the creator into a few forms or into one".

इन दूसरे वाक्यों का तात्पर्य यह है कि "इस पक्ष में उत्क-

---

*टिंडल ने इस शब्द (Primordial form) का अपने प्रसिद्ध बेलफास्ट के भाषण में, उल्लेख करके डार्विन से प्रश्न किया है कि किस प्रकार उसने इस प्रारम्भिक आकार का प्रवेश कल्पना किया है इत्यादि।

Lectures and Essays by J. Tyndall p. 30.

पंता है कि प्रारम्भ में रचयिता द्वारा जीवन एक ही में फूँका गया अथवा अनेक में" :—

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि डार्विन ईश्वर द्वारा जीवन का प्राकृतिक शरीर में फूँका जाना स्वीकार करता था। "ईश्वर द्वारा" ये शब्द उसने दूसरे संस्करण में समझ बूझ कर उत्तरदायित्व के साथ बढ़ाए थे। जब जीवन शरीर में फूँका गया था तो वह शरीर के मेल का परिणाम नहीं था किन्तु शरीर से पृथक् कोई वस्तु थी, वह जो कुछ भी हो, परन्तु शरीर से अवश्य स्वतंत्र वस्तु था, तो क्या अब यह स्पष्ट नहीं हो गया कि डार्विन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता था। उस का मत हैकल के जड़ाद्वैतवाद के सर्वथा विरुद्ध था। उसका विकासवाद भी नास्तिकवाद नहीं था परन्तु सम्प्रति डार्विन का विकासवाद बहुत परिवर्तित और संशोधित रूप में योरुप में माना जाता है। जो कुछ हो अब यह बात अच्छी तरह से साफ़ और प्रमाणित हो गई, कि योनि अथवा शरीर के विकास के साथ बिना निमित्त कारण के ज्ञान का विकास नहीं हो सकता। और इस प्रकार विकासवाद जहां तक योनियों के विकास (अस्थिर योनि वाद) से सम्बन्ध है कल्पनामात्र है और स्वीकार करने के अयोग्य है, हां यह अवश्य है कि एक २ योनि के भीतर विकास और ह्रास दोनों (केवल विकास नहीं) नियम चरितार्थ होते रहते हैं।

कुछेक वैज्ञानिकों के मत, जड़ाद्वैतवाद के सम्बन्ध में जो ऊपर दिये गये हैं, उनसे भी इसी परिणाम की पुष्टि होती है। एक बात और भी इस प्रकरण में कह देना आवश्यक है कि कुछेक विषय ऐसे हैं जिनका विकास होकर ह्रास हो चुका है, वे अब तक

विकसित नहीं। उदाहरण की रीति से अध्यात्म विषय ही को लेवें तो प्रतीत होगा कि वह भारतीय सभ्यता-काल में जितना उन्नत हो चुका था उतना अब उन्नत नहीं है, अनेक मानसिक शक्तियां योग के द्वारा प्राप्त की जाती थीं, परन्तु अब वे अविकसित ही रहती हैं। इस प्रसङ्ग में एक प्राचीन आविष्कार का उल्लेख कर देना कदाचित् अनुचित न होगा। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में हम सूर्य्यकांत और चन्द्रकांत* का विवरण पाते हैं उनमें से

सूर्य्यकांत और चन्द्रकांत

पश्चिमी विद्वानों की खोजों से सूर्य्यकांत (आतिशी शीशे) का तो पता चल गया है परन्तु चन्द्रकांत का नहीं, चन्द्रकांत के सम्बन्ध में कुछेक लेख यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) चन्द्रकांत से उत्पन्न जल राक्षसों (रोगाणुओं) का नाशक, शीतल, आह्लाददायक, ज्वरनाशक, दाह और विष को शान्त करनेवाला, शुद्ध तथा गर्मी का मारने वाला कहा गया है†

(२) चन्द्रकांत मणि को घड़ा बनाकर चांदनी में रखने से ‡उसमें से जल की धारा निकलने लगती है।

---

* इस मणिको रात्रि में चन्द्रमा के सम्मुख इस प्रकार रखने से कि उसकी किरणें उस पर पड़ें, उस (मणि) में से पानी निकलने लगता है॥

† रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम्। चन्द्रकांतोद्भवं वारिपित्तघ्नं विमलं स्मृतम्॥ सुश्रुत सूत्रस्थान ४५।३०

‡ एषमृगांकोऽपि निजोपलमयकलशमुखात्। अच्छाच्छा-

(३) फैजी ने भी लिखा है कि एक दूसरा चमकता हुआ सफ़ेद पत्थर भी है जिसे चन्द्रकांत कहते हैं, उसे जब चन्द्रकिरणों के सम्मुख रखते हैं तो उसमें पानी गिरता है; †इससे स्पष्ट है कि यह मणि फ़ैजी के समय में भी थी, परन्तु आजकल के पश्चिमी विद्वान इससे अनभिज्ञ हैं। यदि विकास के साथ ह्रास न होता और क्रमशः उन्नति ही होती जाती, तो यह न होता कि पश्चिमी विद्वान् (आज कल के विकासवादियों से अभिप्राय है) उतना भी ज्ञान न रखते जितना हज़ारों वर्ष पूर्व प्राचीन आर्य्य रखते थे। इस लिये स्वभावतः क्रमशः ज्ञानवृद्धि का वाद (विना निमित्त कारण के) कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अस्तु हमने देख लिया कि जिस प्रकार कपिल के दर्शन का परिवर्तित रूप चेतनाद्वैत (माया) वाद, केवल एक निर्गुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करने से उलझनों में पड़ा हुआ है, उससे भी कहीं बढ़ कर दूसरा प्रवर्तित रूप, जड़ाद्वैत (एकाणु) वाद विवादका विषय बन रहा है और उसके लिये अपनी सत्ता

मविच्छिन्नधारां निजकराभिमर्शात् आप दयन्॥

चम्पू रामायणअयोध्याकाण्ड श्लोक २३

† आईन अकबरी फ़ैज़ी-कृत का आंगल भाषानुवाद पृष्ठ १०। अंगरेज़ी अनुवाद इस प्रकार है:—

"There is also a Shining Stone called Chandra Kant which being exposed to the moon's-beams drops water."

का स्थापित करना असम्भव सा हो रहा है। अतः कपिल के दर्शन का शुद्ध रूप ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा और प्रकृति की नित्य सत्ता ही स्वीकार करने के योग्य है। इसीसे विश्व के गूढ़ से गूढ़तम प्रश्न हल हो सकते हैं और सेमुइललॉग के प्रश्नों के भी उत्तर, सुगमता से, दिये जा सकते हैं।

—※※—

ग्यारहवाँ परिच्छेद।

जीवात्मा और पश्चिमी अध्यात्मवाद मत

इस भूमिका के समाप्त करने से पहले दो शब्द पश्चिमी अध्यात्मवाद संघों के सम्बन्ध में कह देना, कदाचित् अनुचित न होगा, इस संघ की ओर से समय २ पर जो परीक्षण किये गये, और जिनका विवरण संघ की ओर से प्रकाशित कार्य्य-विवरणों (रिपोर्टों) में दिया गया है, उनपर और उन पर किये गये आक्षेपों पर विचार करने से कोई भी जिज्ञासु सुगमतया इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि संघ के परीक्षण जो जीवित पुरुषों के प्रभावित करने से सम्बद्ध हैं, अर्थात् जिनमें एक अथवा एक से अधिक पुरुष अपना प्रभाव किसी माध्यम पर अप्रकट (आत्म) साधनों से डालते हैं, और जिसे संघ की परिभाषा में "परिचित ज्ञान" कहते हैं, स्वीकार किये जाने योग्य हैं, परन्तु वे परीक्षण जो मृतात्माओं के बुलाने, उनसे प्रश्नोत्तर करने, उनका चित्र उतारने आदि से सम्बद्ध हैं, विवादास्पद हैं। किये हुए आक्षेपों में प्रमाण दिये गये हैं, और घटनाओं का उल्लेख किया गया है, कि किस

प्रकार कतिपय पुरुषों ने इस प्रकार के संघों का माध्यमादि बनना अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि निकट भविष्य ही में इन प्रश्नों का एक अथवा दूसरी प्रकार से हल होगा, क्योंकि पक्ष और विपक्ष दोनों ही उद्योगशील बन रहे हैं, और अधिक संभावना यही है कि यह परीक्षण असफल सिद्ध होंगे, क्योंकि आवागमन का प्रसिद्ध भारतीय सिद्धान्त जो अब फिर नये सिरे से पश्चिमी जगत् में प्रतिष्ठित हो रहा है, वह भी इन परीक्षणों का विरोधी है, जो कुछ हो हमें इनके निर्णय करने के लिये कुछ काल प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

स्थान—नारायण-आश्रम
रामगढ़ (नैनीताल)
ज्येष्ठ, शुक्ला ५ सम्वत्
१९७९ विक्रमी।

नारायण प्रसाद
वानप्रस्थी।

आत्म-दर्शन

* ओ३म् *

आत्मदर्शन

—***—

प्रथम अध्याय

कतिपय प्राचीन तथा पूर्वीय जातियों में प्रचलित आत्म विचार।

पहला परिच्छेद

प्रारम्भ

सूर्य्यसिद्धान्तादि ज्योतिष-ग्रन्थों में वर्णन है कि यह सृष्टि जिसमें स्थित प्राणियों की सत्ता पर, हम एक दृष्टि डालना चाहते हैं, दो अरब* वर्ष के लगभग हुये जब उत्पन्न हुई थी, और अभी दो अरब वर्ष से अधिक कालतक स्थित रहकर प्रलय को प्राप्त होगी। बीते हुये विस्तृत काल में पृथ्वी के भिन्न २ देशों में अनेक जातियों का अभ्युदय और पतन हुआ। किन्हीं किन्हीं

---

* सृष्टिकी अवधि ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष की है जिसमें से अब तक एक अरब ६७ करोड़ २६ लाख ४६ हजार २१ वर्ष बीत चुके हैं। यह सृष्टि संवत् है, जो प्राचीन कालसे प्रचलित चला आता है।

जातियों का तो अब पृथ्वीतल पर चिन्ह भी बाक़ी नहीं है, कुछ घिसे घिसाये अंक कागज के पृष्ठों पर उनकी सत्ता की सूचना देने के लिये अवश्य बाक़ी हैं। कुछेक प्राचीन जातियाँ पश्चिमी सभ्यतामानियों द्वारा निकटभूत * ही में नष्ट हुईं और कुछ नष्ट हुआ चहती हैं। इन जातियों द्वारा समय समय पर अनेक विद्याओं का प्रचार हुआ। प्रचलित विद्याओं में से, जो प्राकृतिक गति के अनुकूल थीं, अब तक किसी न किसी रूप में, बाक़ी हैं। अन्य सब नष्ट भ्रष्ट हो गईं।

अवशिष्ट विद्याओं में से सबसे अधिक विवाद परोक्ष का विषय होने से, अध्यात्मिक विद्याओं पर, प्राचीन काल से अब तक होता चला आया है।

अध्यात्मविद्याओं में मुख्यता विवादास्पद ईश्वर और जीव की सत्ता है। हम इन पृष्ठों में इस समय केवल जीव की सत्ता का विचार करना चाहते हैं। जीव की सत्ता पर विवाद उपनिषत्काल से लेकर अब तक चल रहा है। यदि एक समय नचिकेता † इसी प्रश्न की जिज्ञासा के लिये यमाचार्य की सेवा में उपस्थित हुआ था और आचार्य ने विषय की गहनता यह कहकर प्रदर्शित की थी कि प्राचीन काल में देवताओं (उत्कृष्ट विद्वानों) ने भी इसमें विचिकित्सा की थी, तो आजकल भी पश्चिम के धुरन्धर वैज्ञानिक हैकल, हक्सले इत्यादि भी उसी प्रकार संदिग्धावस्था में

* बृटिश गायना की प्राचीन जाति का अन्तिम पुरुष १६१५ ई० में मृत्यु को प्राप्त हुआ था, अब प्राचीन गायना निवासियों का चिन्ह पृथ्वीतलपर बाकी नहीं रहा।

† देखो कठोपनिषद् प्रथमवल्ली श्लो० २०

विषय के अथाह-सागर में डुबकियाँ लगा रहे हैं। अस्तु हम चाहते हैं कि इस विषय का विस्तृत इतिहास जितना मिल सकता है, विचार और ज्ञानवृद्धि के उद्देश्य से लिखें, उस समय से जब पृथ्वीतल पर मनुष्य जाति का प्रथम बार प्रादुर्भाव हुआ था और अब तक जीवात्मा की सत्ता किस २ प्रकार भिन्न २ देशों और जातियों में मानी जाती रही है, इस पर भी एक दृष्टि डालें।

दूसरा परिच्छेद

असीरियन और वैवलोनियन जातियों के आत्म सम्बन्धी विचार जो उनकी प्रार्थनाओं से प्रकट होते हैं।

असीरियन और वैवोलोनियन जाति के पुस्तकालय जो पृथ्वी की तह में से, पश्चिमी विद्वानों के उद्योग से, खोदकर निकाले गए हैं, संसार की अद्भुत वस्तुओं में से एक है। इनमें विलक्षणता यह है कि ईंटों पर लिखे हुए लेख ही इस पुस्तकालय के पुस्तक हैं। उनकी भाषा आज कल पृथ्वी तल पर न कहीं बोली जाती और न समझी जाती है। प्राचीन भाषा वेत्ताओं ने उन लेखों के पढ़ने का सराहनीय यत्न किया है। परन्तु यत्न अभी तक इतना असफल है कि कभी २ एक ही लेख का आशय एक व्यक्ति कुछ समझता है तो दूसरा कुछ समझने लगता है कभी २ एक ही व्यक्ति एक वार कुछ तो दूसरी वार कुछ और समझता है। अस्तु इस प्राचीन जाति की कुछ प्रार्थनायें यहाँ अंकित की जाती हैं।

(१) दया की रेखायें, जो तेरे मुखड़े पर नित्य चमक रही हैं, मेरे दुखों को दूर करें।

(२) मेरी भूलें, मेरे पाप दूर हो जावें।

(३) मुझे उनकी समीपता प्राप्त होवे क्योंकि मैं उन उच्च देवों का उपासक हूँ और उनकी शक्ति के सन्मुख सिर झुकाता हूँ।

(४) वह शक्ति सम्पन्न मुखड़ा मेरी सहायता की ओर फिरे, और तारों के सदृश चमके और मुझे प्रसन्न और अत्यन्त सम्पत्तिवान् बनावे।

(५) वह पृथ्वी की तरह, प्रत्येक प्रकार की भलाई और प्रसन्नता प्रदान करे।

(६) उस दिन जब मेरे लिये मृत्यु आज्ञा हो, जिससे मुझे नष्ट होना पड़े, हे ईश्वर ! मुझ पर दया की दृष्टि करना।

(७) मेरे अपराध क्षमा हों और मैं पापों से छूट जाऊँ॥*

अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका कि इस प्राचीन जाति का धर्म प्रवर्तक कौन था और उसके धर्म के मुख्य २ सिद्धान्त क्या थे ? इन प्रार्थनाओं से ईश्वर और जीव दोनों में, इस जाति का विश्वास प्रकट होता है।

तीसरा परिच्छेद।

पारसी मत और आत्मविचार।

पारसी मत के एक आचार्य्य सासान प्रथम ने जीवात्मा को

---

* Last Essays by Max Muler Vol. II p. 66 and 67.

नित्य प्रकट करते हुए उसका एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना बतलाया है। *पांचवें सासान ने इसी शिक्षा का विस्तार करते हुये उसका समर्थन किया।

एक और जगह पर आत्मा का वर्णन करते हुये उसको एक अमिश्रित द्रव्य और प्रयत्नशील कहा है और बतलाया है कि परस्पर बात चीत करते हुए मनुष्य "हम" और "तुम" शब्दों से उसी का संकेत करते हैं वह शरीर का निर्माण करता है, न शरीर के मेल का परिणाम है और न प्राकृतिक अणुओं में (पानी में लवण के सदृश) मिला हुआ है। †

एक और स्थान पर लिखा है कि आत्मतत्त्व और आत्मसत्ता का ज्ञान केवल आत्मा को प्राप्त होता है। शरीर की अन्य किसी शक्ति (इन्द्रियादि) से यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मृत्यु होने पर जीव मरता नहीं है वह समस्त अच्छी और बुरी बातों को (जो उसने की थीं) जानता है यदि यह ज्ञान अच्छी बातों (कर्मों) का है तो उसे प्रसन्नता होती है अन्यथा क्लेश। शरीर के अवयवों के नष्ट हो जाने से आत्मा के ज्ञान में कुछ भी हानि नहीं होती। जो पुरुष (अपने ज्ञान और कर्मों की दृष्टि से) उच्चतम होते हैं उनकी मुक्ति हो जाती है उस से निम्न श्रेणी के पुरुष जो शारीरिक बन्धनों से छुटकारा प्राप्त कर चुके हैं देवताओं में सम्मिलित हो जाते हैं, और वे पुरुष जो अधिकतर शुभ कर्म तो करते हैं परन्तु शरीर के बन्धनों से मुक्त नहीं हुये हैं

* सासान प्रथम के पत्र का खंड १६

† दसातीर खंड ६७-६८।

उन्हें उच्चगति प्राप्त करने के लिये मनुष्ययोनि में वार २ आना पड़ता है, इस चक्र को "फरहंगसार" कहते हैं और जो प्राणी अशुभ कर्म भी करते हैं उन्हें पशुयोनि में जाना पड़ता है इस चक्र को "नंगसार" कहते हैं।*

चौथा परिच्छेद।

मिश्रके प्राचीन विचार।

आदिम मिश्र निवासी जीव को अमर मानते थे। मिश्र का सभ्यताकाल पश्चिमी विद्वानों के मतानुकूल ईसा से ४००० वर्ष पहले का है। मिश्र निवासी मनुष्य की आयु की मर्यादा १०० वर्ष की वतलाते थे और जीव के अमरत्व सम्बन्धी उनके विचार इस प्रकार थे :—

"छै" (६) तत्त्व ऐसे हैं जो नष्ट नहीं होते केवल संयुक्त वियुक्त होते रहते हैं।

(१) पहला तत्त्व "का" है अर्थात् "मनुष्य का ईश्वरीय अंश" यह अंश बिना शरीर के जीवित रह सकता है परन्तु इसके विना शरीर जीवित नहीं रह सकता। उसके लिये भोजन अपेक्षित था। जब कभी वह मिश्र के मृत पुरुषों में, जिन्हें "मम्मी" कहा जाता था, जाता था तब उसे वहां के लोग समझते थे कि वढ़ रहा

* सासान नखुस्तका पत्र (खंड १८-१६) फारसी भाषा की दसतीर में।

है। उसकी सत्ता स्वतन्त्र थी और मनुष्य शरीर से पृथक् होकर वह अन्तिम निर्णय दिवस से पूर्व उन्हें नहीं मिलता था।

(२) दूसरा तत्त्व "अब" अर्थात् "हृदय" है। यह भी अमर माना जाता था। मनुष्य के मरने पर जब शव में उसे सुरक्षित रखने के लिये मसाला भरा जाता था तो हृदय निकाल लिया जाता था और उसकी जगह एक बनावटी हृदय शव में रक्खा जाता था, वह साधारणतया एक हरे रंग के कड़े पत्थर पर एक तुच्छ जन्तु को, जिसे गुबरीला कहते हैं, चित्र खोदकर बनाया जाता था। शरीर से पृथक् होकर हृदय परलोक की यात्रा करते हुये, मनुष्यों से अन्तिम निर्णय दिवस निर्णयशाला में मिला करता था।

(३) तीसरा तत्त्व "बा" अर्थात् "जीव" है। इस तत्व का शरीर एक पक्षी के और शिर मनुष्यों के सदृश बतलाया जाता था। *मृत्यु होने पर जीव उड़कर देवताओं के पास चला जाता था परन्तु समय २ पर अपने शव "मम्मी" को देख आया करता था यह भी भोजन की आवश्यकता से स्वतंत्र नहीं था।

(४) "सहू" चौथा तत्व बतलाया जाता था, "सहू" मनुष्य शरीर की ऊपरी खाल (त्वचा) का प्रतिनिधि रूप है। उसको

* जीव की यह कल्पना, यूनानियों के पंखवाले और रोम के तितली के आकारवाले जीव की कल्पना से मिलती जुलती है। मध्यकालीन जीव की वह कल्पना कि जीव एक छोटे नंगे बालक के सदृश है और मरते समय जीव के मुँह से निकला करता था सम्भव है इसी मिश्री कल्पना के आधार पर की गई हो।

मिश्रवासी "मम्मीवेद" अर्थात् शव के लपेटने की वस्तु कहते थे।

(५) पांचवां तत्व "काहिव" अर्थात् "छाया" भी एक स्वतंत्र तत्त्व समझा जाता था, जब उसका स्वामी (मनुष्य) मरता तब छाया तत्त्व देवलोकीय राज्य में चला जाता था।

(६) छठा तत्व "उसीरिस" मम्मी का दूसरा भाग अर्थात् मृत पुरुष विना जीव और जीवन के है इस तत्व के साथ एक प्रकार की चेतना होती जो विचार और इन्द्रियानुभव तक सीमित रहती है। इस तत्व की कल्पना के सम्बन्ध में मिश्रवासियों का कथन था कि "मम्मी" दुवारा नहीं उठती वह अपना कार्य पूरा कर चुकती है, वह सदैव अपने ही स्थान पर रहती है। यह तत्व "मम्मी" का स्थानापन्न होता है और परलोकगत रूहों के निवास स्थान पर चला जाता है। इस यात्रा का सविवरण वृत्तान्त एक पुस्तक में मिलता है जिसका नाम "मरे हुओं की पुस्तक" (The Book of the dead) है। यात्रा के अन्त में "उसीरिस" "द्विगुण सत्यशाला" में पहुंच जाती हैं और कतिपय न्यायाधीशों द्वारा उनका न्याय होता है। न्याय का प्रकार यह होता है कि मृत पुरुप का हृदय, दूसरे पलड़े में रक्खे हुए "सत्य के चिन्ह" वाली तराजू में तोला जाता है। यदि तौल ठीक उतरी तो "थोठ" देवता की आज्ञानुसार हृदय मृत पुरुप के पास पहुंच कर शरीर में यथास्थान जुड़ जाता था।

इस क्रिया के साथही अन्य सब तत्व भी "'उसीरिस" को मिल जाते थे इस प्रकार पूर्णता को प्राप्त 'उसीरिस' का देवगण अपने लोक में ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु यह निरन्तर स्थित जीवन दुष्टाचारियों के लिये अप्राप्य है, उनके तत्वों का पुनः सम्मेलन

नहीं हो सकता। यद्यपि ऐसे पुरुषों का जीव नष्ट नहीं हो जाता, तो भी देवताओं के लोक और संगति में न रहने से "बेआब" सा रहता है॥।

पांचवां परिच्छेद

कनफ्यूशस का मत।

कनफ्यूशस सम्पादित चीन का इतिहास, जिसे चीन की भाषा में " शूकिंग " (Shooking = Book of History) अर्थात् इतिहास की पुस्तक कहते हैं ईसवी सन् से २३५६ वर्ष पूर्व तक का इतिहास है †। इसके अतिरिक्त दो और भी पुस्तकें जिनके नाम "इहकिंग" (Ihking-Book of changes) और " शीकिंग " (She King-Book of Odes) हैं इनमें से अन्तिम पुस्तक कनफ्यूशस की सम्पादित है। इनमें चीन के प्राचीन मतों का वर्णन था परन्तु कनफ्यूशस स्वभावतः सांसारिक पुरुष था, परलोक सम्बन्धी बातों से उसे बहुत थोड़ा सम्बन्ध था अतः उसने प्राचीन मत को पुनर्जीवित करते हुए परलोक सम्बन्धी

॥ डाक्टर वीडिमेन की पुस्तक "मिश्र में अमरत्व विचार" (The Doctrine of immortality in ancient egypt by Dr. Wiedemann) के आधार पर यह वृत्तान्त अंकित हुआ है।

† चीन निवासियों के लिखे हुए इससे पूर्व के वृत्तान्त भी हैं परन्तु पश्चिमी लेखक उन्हें इतिहास का दर्जा नहीं देते। इसी लिये उन पुस्तकों का अंगरेजी भाषा में भी अभाव है।

बातों को एक प्रकार से छोड़ ही दिया था। कनफ्यूशस के प्रत्य-त्तवादी होनें का कुछ अनुमान उसके एक उत्तर से हो सकता है जो उसने अपने एक शिष्य को मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ पूछने पर दिया था:—"जब तुम जीवन ही को नहीं जानते तब मृत्यु को किस प्रकार जान सकते हो"।* अस्तु जो कुछ हो इन पुस्तकों में कनफ्यूशस का मत इस प्रकार पाया जाता है।

मनुष्यों को भाग्य (Destiny), परोपकार, सदाचार, अधिकार और विश्वास के नियमों के साथ, स्वर्ग से प्राप्त होता है। ......भाग्य ही जीवन देता और भाग्य ही मृत्यु को प्राप्त कराता है। ......मनुष्यों के सदृस वस्तुओं का भी भाग्य है परन्तु वे भाग्य को नियमित नहीं रख सकतीं, ...भाग्य का स्वर्ग (Heaven) से वही सम्बन्ध है जो स्वभाव (Nature) का मनुष्य से। ....परन्तु प्रज्ञावान् पुरुष के अधिकार स्वर्ग † से कम नहीं होते ‡। कनफ्यूशस प्राणियों में पृथक् जीवात्मा का होना मानता था, और उसका विश्वास था कि दिवंगत पुरुष की आत्मा विना शरीर के ही बाकी रहती है। इतिहास की पुस्तक में जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है प्रारम्भ ही से इस प्रकार की आत्माओं की पूजा का विधान मिलता है, ये

* Confucianism by Robert K. Donglas p. 68.

† कनफ्यूशस का तात्पर्य्य स्वर्ग (Heaven) से ईश्वर की सत्ता से मिलता जुलता प्रतीत होता है परंतु ईश्वर के लिये उसने 'शैंगटी' शब्द का प्रयोग किया है।

‡ Confucianism by Robert K. Danglas p. 75-78.

आत्मायें न केवल पुरुषों की होती हैं, अपितु वायु, अग्नि, पहाड़ और नदी आदि की भी होती हैं; और सभी की पूजा होती है, इनका दर्जा स्वर्ग और मनुष्यों के बीच का है। इन आत्माओं के साथ-साथ ही पिचाशों की भी सत्ता मानी जाती है। कलफ्यूशस मृत-पितरों और शरीर रहित आत्माओं को इस प्रकार "बलि" प्रदान करता था, मानो वे साक्षात् उसके सम्मुख उपस्थित हैं। इन आत्माओं का काम यह समझा जाता था कि वे अपने उत्तराधिकारियों की रक्षा करती हैं और उनके गृहकार्य्यों पर दृष्टि रखती हैं। मृत राजाओं की आत्माओं से उनके उत्तराधिकारी राज्यकार्य्यों में उनकी अनुमति लिया करते थे, और इस प्रकार अनुमति लेने के बाद अपनी आज्ञाओं को उन (आत्माओं) के बल पर निर्भर होना प्रकट भी कर देते थे। और इन आत्माओं के द्वारा ईश्वर से कुछ प्राप्त होने की प्रार्थना भी करते थे।

पूजा में सब से उच्च स्थान प्राचीन चीन में "टी" (Te) या "शैंगटी" (Shang te-God) अर्थात् ईश्वर का था और ईश्वर की पूजा स्वर्ग और भूमि को बलिप्रदान करने के द्वारा की जाती थी।*

लाउजी का मत

चीन में कनफ्यूशस मत के सिवा एक दूसरा मत ताउमत (Taouism) के नाम से प्रचलित है यह मत भी लगभग उतना

* Confucianism by. Robert K. Donglas p. 79-84.

ही पुराना है जितना कि कनफ्यूशस मत। इस मत का प्रवर्तक लाउज़ी * (Lautoze) था, लाउज़ी कनफ्यूशस से ५० वर्ष पूर्व जन्मा था परन्तु वह चिरकाल तक एकांत निवास करता रहा। इसलिये उसके मत का प्रचार कनफ्यूशस के बाद हुआ; लाउज़ी के संबंध में अनेक अलौकिक बातें, उसके अनुयायियों द्वारा रचे ग्रन्थों में, लिखी पाई जाती हैं जैसे कहा जाता है कि लाउज़ी ८१ वर्ष तक अपने माता के गर्भ में रहा और जब उत्पन्न हुआ तो उसकी दाढ़ी और मूछें सफ़ेद हो चुकी थीं† उसकी आयु बहुत लम्बी चौड़ी कही जाती है। २०० वर्ष तक तो उसके पास एक ही नौकर रहा था और उसके वेतन का झगड़ा उस समय हुआ था जब वह पश्चिम की यात्रा शुरू करना चाहता था इत्यादि। कनफ्यूशस और लाउज़ी के विचारों में बहुत अन्तर था। कनफ्यूशस का मत तो चीन के पुरातन मतों का ही नवीन रूप था परन्तु लाउज़ी का मत भारतीय उपनिषदों के आधार पर खड़ा किया गया था। ताउमत, लाउज़ी के एक पुस्तक के आधार पर, चला था जो ५००० अक्षरों में पूरी हुई थी पुस्तक का विषय ताउ (Taou-way) अर्थात् मार्ग और "तिह" (Tih-virtue) अर्थात् भलाई था। किन्हीं २ का मत उसके अनुयायियों में से

---

* इस नाम का शुद्ध उच्चारण क्या है इस में मत भेद है कोई "लाउज़ी" कोई "लाउट्ज़ी" कोई "लाउटी" कहते हैं।

† लाउज़ी शब्द का अर्थ है "बूढ़ा लड़का" यह नाम उसका इसी लिये पड़ा था कि वह ८१ वर्ष तक माता के गर्भ में रहा और वह बूढ़ा होकर पैदा हुआ था।

यह है कि उसने ९३० पुस्तकें रची थीं परन्तु यह बात उतनी ही प्रतिष्ठित हो सकती है। जीतना यह कहना कि १८ पुराण व्यास-रचित हैं। उपर्युक्त ५००० अक्षरों वाली पुस्तक का नाम "ताउ तिह किंग" (Taou tih king) अर्थात् "भलाई के मार्ग का पुस्तक" था। पुस्तक के १४वें अध्याय के आरम्भ में लाउजी ने अपने त्रैतवाद को इस प्रकार लिखा है:—जो चक्षुग्राह्य होने पर भी दिखलाई नहीं देता "खि" अथवा "खी" (Khi) है। वह जो श्रोत्रग्राह्य होने पर भी कानों से सुनाई नहीं देता "हि" अथवा "ही" (Hi) है वह जो पहुँच की सीमा में होने पर भी स्पर्श नहीं किया जाता "वी" (wie) है। इस प्रकार खि, हि, वी यद्यपि तीन व्यक्ति पश्चिमी लेखकों द्वारा कल्पना किये गये हैं परन्तु एक ही सत्ता (ईश्वर) के तीन गुण प्रतीत होते हैं जिन्हें उपनिषदों में अरूप, अशब्द और अस्पर्श कहा गया है * "ताउ" शब्द भी यद्यपि मार्गवाचक हैं परन्तु लाउजी की पुस्तक से प्रतीत होता है कि उसने इसे और किसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। वह कहता है कि

* पश्चिमीय लेखकों में से "एमियट" (Amoit) ने इस त्रैतवाद को ईसाई त्रैतवाद का रूप दिया है। "रिमूसैट" (Remusat) ने एक पग और आगे बढ़ाकर "खि" का उच्चारण जै (I) कल्पना करके J. V. H. अक्षरों से "जहोवा" [यहूदियों में ईश्वर का नाम] नाम सिद्ध करने का यत्न किया है यद्यपि इन लेखकों को यह स्वीकार है कि ताउमत भारतीय "वेदान्त" मत का ही रूपान्तर है फिर भी जहाँ तहाँ उसे पश्चिमी शिक्षा के अनुरूप सिद्ध करने का यत्न किया है।

समस्त द्रव्य ताउ से उत्पन्न होते उसी के अनुरूप रहते और अन्त में उसी में मिल जाते हैं इससे प्रतीत होता है कि उसने "ताउ" शब्द को जगत् के अनादि निमित्त कारण ईश्वर के लिये ही प्रयोग किया है। यह उत्तम पुरुष के लिये लिखता है कि उसमें प्रत्येक सद्गुण होता है वह उदारता पूर्ण और सार्वलौकिक होने के साथ २ स्वर्गीय पुरुष के सदृश होता है और मूर्त्तिमय "ताउ" होता है और अमरता उसी का भाग है। ताउ के लिये उसने एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि स्वर्ग और पृथ्वी और स्वयं देवताओं का भी कारण वही है, उसी को जगदेव कहना चाहिये। उसके लेखों से यह भी प्रकट होता है कि वह "ताउ" को ईश्वर मानने के साथ जीव भी उसी को मानता है, उसका कथन है कि वह (ताउ) प्रत्येक प्राणी के शरीर में प्रविष्ट होता है, वह प्रविष्ट होता, बढ़ता, भोजन करता और उत्पन्न करता है और इस प्रकार पूर्णता को प्राप्त होता है। वह सब कुछ है और कुछ भी नहीं। वह विश्वरूप है वही "अणोरणीयान् महतो महीयान्" है। समस्त प्राणियों की रक्षा करता और बल देता है वही स्वर्ग है, वही पृथ्वी है*। एक और पुस्तक जो लाउजी के बाद लिखी गई थी और जिसका नाम "दंड और फल की पुस्तक" है। उसमें अनेक उत्तम शिक्षाओं का वर्णन है, उसी में एक जगह लिखा है कि छोटे और बड़े अपराधों की संख्या कई सौ है, उन सब को छोड़ देने ही से प्राणी अमर हो सकता है। फिर अमरता के भी दो भाग हैं एक स्वर्ग की

* Taouism by Robert K. Donglas p. 179-216.

अमरता, दूसरी पृथ्वी की अमरता; स्वर्ग की अमरता प्राप्त करने के लिये १३०० अच्छे कर्म करने चाहियें, और पृथ्वी की अमरता के लिये केवल ३०० । इसी पुस्तक में लिखा है कि मृत पितरों की आत्माओं को बुरा मत कहो* ।

* Taouism by Robert K. Donglas p. 258-267.

दूसरा अध्याय

कतिपय प्राचीन पश्चिमी जातियोंमें प्रचलित विचार

पहला परिच्छेद

सर्वजीवत्ववाद (THEORY OF ANIMISM)

इस वाद का सार यह है* कि जीव यद्यपि अमर है तथापि प्रकृति (पञ्चभूतों) से पृथक् नहीं हो सकता, हां प्रकृति को योनि और गति देना उसका काम है। विश्व इस प्रकार के जीवों से भरा हुआ है। जीव को इस वाद के अनुयायी अमर कहते थे परन्तु अधिकांश में उसकी सत्ता उसकी स्मृति पर निर्भर होती थी। सदा के अमरत्व के विचार से वे अनभिज्ञ थे। जीव की स्थिरता उसकी स्मृति की स्थिरता पर निर्भर थी, अर्थात् जब तक दिवंगत प्राणी का प्रेम, उस के शरीरादि के उत्तम प्रभाव,

---

* क्रोली साहिब की पुस्तक "जीव सम्बन्धी विचार" (The Idea of soul by A. E. Crawlay p.208-212) के आधार पर यह वाद लिखा गया है।

अवशिष्ट जगत् में बाकी रहते थे, उसका आत्मा भी जीवित समझा जाता था। स्मृति के नाश हो जाने से जीव का भी नाश हो जाता था।

इस वाद के ही प्रभाव से केनाडा के प्राचीन निवासी मानते थे कि यदि शरीर में छुरी भोंक दी जावे तो जीवों से रक्तस्रोत प्रवाहित होने लगेगा।

योरुप के मध्यकालीन युग में न केवल जीवित शरीर जलाये गए, किन्तु जीवों के भी नरक की अग्नि में जलने का विश्वास प्रचलित था। एक जाति विशेष में जिसे "काफ़िर" नाम दिया गया है, यह विश्वास प्रचलित था कि जुलाब देने से न केवल शरीर मल रहित होता है, अपितु आत्मा के अशुद्ध विचार भी निकल जाते हैं। इसी विचार के प्रभाव से काफ़िर जाति के पुरुष, अपने बालक बालिकाओं के हृदय से ईसाई मतके प्रभाव को, जो उन पर मिशन स्कूलों में पढ़ने से पड़ता था, निकालने के लिये, उन्हें जुलाब दिया करते थे।

चीन, ब्राज़ील और आष्ट्रेलिया के आदिम निवासी शरीर के काटने बिगाड़ने का प्रभाव जीव पर होना मानते थे। परन्तु यदि जीव शरीर से निकल चुका तो शव के काटने आदि का कोई प्रभाव उस पर नहीं हो सकता।

"फ़िजी" निवासियों के मतानुसार मरने पर जीव के अणु उसी प्रकार छिन्न भिन्न हो जाते थे जिस प्रकार शरीर के।

इन जातियों के विश्वासानुसार जीव एक फड़फड़ाने या उड़नेवाली वस्तु है जो शीघ्रता से आता और शीघ्रता से ही चला जाता है, परन्तु उसका पकड़ना अथवा रोकना कठिन है, इसलिये उसे

अथवा पक्षियों, तितलियों पतंगों, मक्खियों; छिपकली और सर्प, उड़ने अथवा शीघ्रता के साथ चलने वाले क्षुद्र जन्तुओं से उपमा दी जाती थी, ये सब चिन्ह जीव के हैं जो चेतना के प्रभाव के साथ २ बहता है और जो एकाग्रचित्त ही से रोका जा सकता है।

जीव की अमरता का प्रारम्भिकरूप इन जातियों के मतानुसार यह है कि यद्यपि प्राणी मरजाता है परन्तु उसकी स्मृत अन्यों के मस्तिष्कों में बाकी रहती है।

जिस प्रकार जीव के अमरत्व का उन्हें अधूरा ज्ञान था उसी प्रकार वे स्थिर मृत्यु के विचार से भी अनभिज्ञ थे।

अपनी स्थिति के अनुकूल वे इस प्रकार के विषयों पर अधिक विचार करने से बचते थे।

तो भी मृत्यु सम्बन्धी उनके विचार ये थे कि मृत्यु प्राकृतिक हेतुओं से कठिनता से हो सकती है। यदि कोई जादूगरी से किसी को रोगी न कर देवे अथवा मार न देवे अथवा किसी अत्याचार से कोई मारा न जावे तो वह प्राणी असीम काल तक जीवित रह सकता है।

जीव अवस्थानुसार शरीर से पृथक होता और हो सकता है, उसका शरीर से सम्बध, उनके सरल अन्तःकरणानुसार, एक गुप्त भेद है, जीव जब शरीर में होता है तो शरीर की वृद्धि के साथ साथ ही बढ़ता है और शरीर से चला भी जाता है और शरीर मिलने पर प्रकट हो जाता है।

जब आंखें बंद करता है तब प्राणी जीव को और जब खोलता है तो शरीर को देखता है।

दूसरा परिच्छेद

प्राचीन अन्य देशी जातियों में आवागमन।

आर्य्यों की प्रथानुसार आवागमन का सिद्धान्त प्राचीन जातियों में प्रचलित था। इस सिद्धान्त के अनुयायी मनुष्य, पशु पक्षी और वृक्षों की आत्मा में कोई भेद नहीं करते थे, मनुष्य का आत्मा सुगमता से पशु पक्षी और वृक्ष योनियों में जा सकता है। शरीर जीव का स्थायी निवास गृह होता है। कर्मफल पाने की दृष्टि से जीव का एक से दूसरे शरीर में जाना अनिवार्य है।

प्राचीन मिश्र और मिश्र से जाकर प्राचीन यूनान में भी आवागमन प्रचलित था। मिश्र में आवागमन किस प्रकार माना जाता था, टेलर साहिब का मत इस विषय में उपर्युक्त कथन से कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि प्राचीन मिश्र में आवागमन नहीं, किन्तु गुप्त भेदों से सूरत बदल जाने का वाद प्रचलित था * टेलर साहब के इस मत के सर्वथा विरुद्ध वाकर साहिब का मत है, जिन्होंने स्पष्ट रीति से आवागमन का प्राचीन मिश्र में माना जाना प्रमाणित किया है †।

कुछ काल के बाद आवागमन के स्थान पर कहीं २ मुर्दों के जी उठने का मत प्रचलित हुआ। प्रथम यह मत

---

* Tylor's primitive culture Vol. 11.

† Reincarnation by E. D. Walker P. 197-200.

एशिया में प्रचलित हुआ। परन्तु वहाँ उसका प्रचार नहीं हुआ। उसके बाद "पाल" के प्रभाव से पूर्णरूप से इस वाद का प्रचार ख्रीष्ट मतावलम्बियों में हुआ और प्रचार ही नहीं हुआ अपितु उनका मुख्य सिद्धान्त बन गया।

इस परिवर्तन के बाद भी आवागमन यहूदियों की फ़िलासफ़ी का एक अंग बना रहा।

मैनीकियन (तीसरी शताब्दी में परशिया में प्रचलित एक पन्थ) नैस्टोरियन (पांचवीं शताब्दी में रूम में प्रचलित एक ईसाई पंथ) और "हरमन" पर्वत की गुफाओं में रहनेवाले पुरुष भी आवागमन को मानते रहे*।

अस्तु आदिम निवासी जीव को आंशिक अमर और आंशिक मरणधर्मा मानते हुए भी, पुनर्जन्म को विशेष जातियों के लिए एक प्रकार की रिआयत समझते थे। उदाहरण के लिए टौंगा द्वीप में पुनर्जन्म का अधिकार कुछेक विशेष जातियों को ही माना जाता था। यही अवस्था उत्तरी अमरीका के आदिम निवासियों की थी, जहां माना जाता था कि सरदारों, चिकित्सकों और कुछ अन्यों को अधिकार था कि अपने मृत पितर की आत्माओं के साथ तम्बाकू पियें, गावें और नाचें, परन्तु सर्वसाधारण मरने के बाद जीवन ग्रहण करने के अधिकारी नहीं माने जाते थे। उनके मृत पितर कबरों में ही पड़े सड़ा करते

---

* The Belief in personal immortality by E. S. P. Haynes P. 13.

थे* । इसी प्रकार कांगो निवासी मानते थे कि स्त्रियों के लिए पुनर्जन्म की कोई आशा नहीं ।

निकारा गोआ (गायना) के निवासियों के लिए प्रसिद्ध है कि उनका सिद्धान्त था कि यदि एक पुरुष उत्तम रीति से अपना जीवन व्यतीत करे तो मृत्यु के पश्चात् देवताओं में वास करता है, परन्तु यदि रोगी होकर मरता है तो उसको शरीर के साथ दुबारा मरना पड़ेगा† । दुबारा मरने से उनका तात्पर्य यह है कि "क़यामत" के दिन न्याय होने पर जो पापी ठहरेगा उसको पंथाचार्य की एक बड़ी लाठी से दुबारा मरना पड़ेगा । यह लाठी इसी उद्देश्य के लिए उसे मिलेगी । जो लोग इस प्रकार की लाठी की मार से बच जावेंगे और वे यदि ऐसे पुरुष होंगे जिन्होंने विशेष २ पन्थपरम्पराओं का पालन नहीं किया तो फिर स्वयं अपने २ देवताओं द्वारा डुबाए जाकर मारे जावेंगे ।

इन जातियों में जीवात्मा सम्बन्धी मन्तव्य इस प्रकार माने जाते थे:—"वह जीव पतला, अप्राकृतिक, एक प्रकार की भाप झिल्ली, अथवा जाला, अथवा छाए की सदृश व्यक्तियों में जीवन और विचार का संचारक, स्वतंत्र और ज्ञानवान् शरीर के अधिष्ठा-तृत्व का इच्छुक, परन्तु उसके छोड़ देने में असमर्थ, सरलता से स्थान २ पर प्रकाशित, सूक्ष्म अप्रत्यक्ष अदृश्य, तो भी शारीरिक बल का प्रदर्शक, विशेषतया मनुष्यों में प्रकट, जागृत और स्वप्ना-

---

* History of Virginia by Captain Smith; quted by Mr. Tylor (Primitive culture Vol. 11.)

† Tylors Primitive culture Vol.P. 22.

वस्था में स्थित, अप्रत्यक्ष सत्ता रखते और शरीर के सदृश होते हुए भी शरीर से पृथक् होने अर्थात् मरने के बाद स्थित, शरीर छोड़ने पर उस शरीर से सम्बन्धित प्राणियों पर प्रकाशित, अन्य पुरुषों और पशु पक्षियों के शरीरों अथवा अन्य प्राकृतिक पदार्थों में बैठने, उनपर अधिकार कर लेने तथा उनके द्वारा काम करनेमें समर्थ है* ।

इन पश्चिमी प्राचीन जातियों का जीव सम्बन्धी एक दूसरा विचार यह था कि वह सूक्ष्म शरीर वाला हो कर प्राणियों के शरीर में आता है और उनके मरने पर नंगे बालक के सदृश हो कर मृत पुरुष के मुँह से निकल जाता है। रूहानी (जीव की) आवाज चींचीं करने अथवा धीमी बरबराहट के सदृश होती है। "रूह" की इसी प्रकार की बोली पश्चिमी अध्यात्मवादी भी बतलाते हैं उनका कथन है कि मरने पर जैसा कि मृत पुरुष का सूक्ष्म शरीर रह जाता है उसी के अनुसार उसकी आवाज भी धीमी रह जाती है† ।

क्लाड साहिब ने एक छोटी सी पुस्तक सर्वजीवतत्त्ववाद पर लिखी है। उसमें उन्होंने पश्चिमी अध्यात्मवादियों के लिये वर्णन किया है कि वे न केवल जीव का फोटो उतारते हैं किन्तु उसकी तोल की भी परख करते हैं। और उनकी इस परख के अनुसार जीव की तोल तीन और चार औंस के मध्य में बतलाई जाती है। अस्तु जीव के अमरत्व से सम्बन्धित इन प्राचीन

* Tylor's Primitive culture Vol I P. 429.

† Crawley's Idea of the soul. P. 207.

जातियों में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दो विचार पाये जाते हैं एक मरण पश्चात् जीव का बिना स्थूल शरीर के रहना, दूसरा आवागमन के मन्तव्यानुसार उसका भिन्न २ योनियों को प्राप्त होना।

ये विचार यद्यपि इन जातियों में प्रचलित थे, परन्तु इनके आधार रूप "कर्म" और "फल" का ज्ञान उन्हें न था।

टेलर साहिब के लेखानुसार भावी जीवन का विचार इन जातियों में अधिकत्तर मृतक पितृपूजा के प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है, जिस पूजा के द्वारा वे अपना सामाजिक सम्बन्ध, मृत पितरों से स्थिर रखते थे। उनका विचार था कि इस पूजा से प्रसन्न होकर मरे हुए पितर अपने (छोड़े हुए) परिवार अथवा जत्थे की रक्षा करते रहते हैं और परिवार के मित्रों की सहायता करते और शत्रुओं को दण्ड देते रहते हैं। उनका विचार यह भी था कि जहां इस प्रकार मृत पितरों की पूजा नहीं होती उस परिवार अथवा जत्थे को मृत पितरों की आत्मायें कष्ट दिया करती हैं।

इस प्रकार की पूजा के चिह्न, चीन, अरब, जापान, रोम, स्पेन आदि देशों में अब भी पाए जाते हैं * इस पूजा का प्रभाव ईसाई मत में अब भी पाया जाता है। मसीह की स्मृति

---

* हिन्दुओं में प्रचलित "मृतक श्राद्ध" भी इन्हीं जातियों में से आया प्रतीत होता है क्योंकि उनकी प्राचीन धर्मपुस्तक वेदादि में इसका विधान नहीं है।

(Doctrine of cowmunion of Saints) तथा "समस्त आत्माओं के दिन" (All Souls day) के पवित्रोत्सव उदाहरण रूप हैं। स्पेन में इन उत्सवों के सिवा अब भी मृत पुरुषाओं के लिए उनके मृत्यु के दिन, उनकी क़ब्रों पर रोटी और शराब रक्खी जाया करती है *

पूर्वीय योरुप के ग्रीक चर्च के अनुयायियों में भी यही प्रथा "जनाजे के भोज" (Funeral feast) के नाम से प्रचलित हैं।

* 'Hayne's Personal immortality P. 18-20.

तीसरा अध्याय

यूनान देश के दार्शनिक और आत्मविचार।

पहला परिच्छेद

यूनान के आदिम निवासियों का मत विवरण * इलियड और उडेसी नामक प्राचीन पुस्तकों में मिलता है, उन्हीं से लेकर प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "रिपब्लिक" के तृतीय अध्याय में इस मत का स्पष्टीकरण किया है। इस मत के अनुयायी परलोक को प्राणियों की छायामात्र से आबाद मानते थे, और उसे प्रकाशशून्य बतलाते थे, उनका विश्वास था कि वहां जाने वाला, वहां पहुँचकर, पहले की सब बातें भूल जाता है और उसका ज्ञान स्वप्न के सदृश हो जाता है। इसके बाद ईसवी सन् के प्रचलित होने से प्रायः ७०० वर्ष पूर्व यूनान में एक दूसरे मत का प्रादुर्भाव हुआ। इसका जन्मदाता "पीसिस ट्रूटाइडे"

---

* इलियड और उडेसी यहां के रामायण और महाभारत के सदृश यूनान की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, उनमें उसी प्रकार की और उनसे बहुत मिलती जुलती कथायें भी हैं जैसा रामायण और महाभारत में वर्णित है।

(Peisistratidae) था और इसका जन्म "थ्रेस" में और प्रचार एथेंस, इटली के दक्षिणी भागादि के प्रायः उन स्थानों में हुआ जो थ्रेस के प्रसिद्ध युद्ध गायक आर्फ़ियस (Orpheus) के निकटवर्ती थे। क्योंकि इस मत का पूज्य देवता यही गायक माना जाता था।

आर्फ़ियस का मत

आर्फ़ियस यद्यपि इसी लोक में था परन्तु उस का सम्बन्ध परलोक से भी होना कहा जाता है परलोक से सम्बन्ध का कारण यह बतलाया जाता है कि "आर्फ़ियस वहां अपनी पत्नी" "यूरिडाइस" को लौटा लाने के लिये पहुँचाया गया था। आर्फ़ियस के पुजारियों ने "डायोनिसस" युद्ध सम्बन्धी इतिहास भी प्रकट किया था जिसे वे ज़ियस (Zeus) का नवजात बालक समझते थे।

आर्फ़ियस की पूजा ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में ऐथेंस में, कहा जाता है कि खूब प्रचलित थी। ऐथेंस में इस मत के प्रचार का प्रभाव यह हुआ कि जत्थे २ के पृथक् देवताओं की पूजा बन्द हो गई। आर्फ़ियस के सिवा "इल्यूसिस" (Eleusis) का डिमेटर भी इस मत का पूज्य देवता ठहराया गया, इस देवता के पूजाभिधान से इस मत में मानों गुप्त भेदों के प्रवेश का श्रीगणेश हुआ। अमरता और भविष्यत् का सुख उनके भाग में आया हुआ समझा जाता था जो इस मत में दीक्षित होते थे।

कुछ काल के बाद इस मत का सम्मेलन एक और मत के साथ हुआ जो वहां "डायुनिसस" के मत के नाम से प्रचलित था। इस सम्मेलन का कारण "पीसिस टेटस" का यह निश्चय था

जिसके द्वारा उसने "डायुनिसस" को भी इल्यूसिस के देवताओं की गणना में ठहराया। निदान इस समय से लेकर मसीह की पहली शताब्दी तक ये मत इसी प्रकार कुछ फेर फार के साथ जारी रहे। इन मतों के प्रभाव से जो शिक्षायें यूनान के साहित्य में सम्मिलित हुईं उनका विवरण इस प्रकार है:—

दुराचारी पुरुष कीचड़ से भरे कुंडों में रक्खे जाते हैं और इसके विपरीत सदाचारी उच्च अवस्था प्राप्त करते हैं।

सदाचारियों की उच्चावस्था यह होती है कि उनके शिरों के चारों ओर चमकदार वृत्ताकार रेखायें होती हैं ये रेखायें उनके कंधे और लिपटे हुए बालों से ढकी रहती थीं।

ग्रीक साहित्य में बहुधा पवित्र अग्नि की उच्चता बखानी गई है और यह भी वर्णित है कि परलोक में मनुष्यभक्षी राक्षस भी होते हैं।

आर्फ़ियस के इस मत की विशेषता "जीव के अमरत्व" का विचार था जैसा ऊपर कहा जा चुका है और इसीलिए उस के मत का संकेत यूनान के प्रसिद्ध विद्वान् होमर, हेरोडोटस, प्लेटो आदि प्रायः सभी के लेखों में पाया जाता है।

यूनान के दार्शनिक भवन की आधार शिला थैलिस (Thalis) ने रक्खी थी। थैलिस ही वहाँ का प्रथम दार्शनिक समझा जाता है।

सिलिटस का संप्रदाय

थैलिस ही के जीवसम्बन्धी विचार "सर्वजीवत्त्ववाद" से मिलते जुलते हैं उसके मतानुसार संसार की प्रत्येक वस्तु चेतनापूर्ण और देवता या राक्षसों से भरपूर है और प्रत्येक प्राकृतिक गति आन्तरिक जीव

की परिचायक है। थैलिस के सिवाय इस सम्प्रदाय के मुख्य दार्शनिक एनैक्सिमैंडर (Anaximader) और एनक्सेमिनिज (Anaximenes) हुये थे परन्तु इन दार्शनिकों ने अधिक विचार प्रचार प्राकृतिक जगत् की उत्पत्ति और उसका उपादान कारण क्या है, इस विषय में किया है।

इलिया का संप्रदाय

जेनोफ़ेनस (Zenophanes) मेलसिस (Melesus) और पारमेनिडिस (Parmenides) इस स्कूल के मुख्य दार्शनिक थे इन दार्शनिकों के विचार शंकर के अद्वैतवाद की छायामात्र है। इस सम्प्रदाय में आत्मा की पृथक सत्ता और उसके अमरत्व पर विचारों की खोज व्यर्थ ही है।

हिरेक्लिटस

(Heraclitus) दुःखवादी था, जगत् को नित्य मानता था। अग्नि ही मुख्य तत्त्व है जिसके परिवर्तन से समस्त वस्तुयें बनती हैं और अन्त में अग्नि में ही लीन हो जाती हैं।

पाईथागोरस (Pythagoras)

आर्फ़ियस के मत के प्रचारकाल ही में पाईथागोरस का प्रादुर्भाव हुआ। यह यूनान के उच्च कोटि के दार्शनिकों में था। इसके मत के प्रचार से आर्फ़ियस की शिक्षा फीकी पड़ गई पाईथागोरस जीव के अमरत्व और आवागमन का प्रचारक था, अपने सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिये उसने नियम पूर्वक कई संस्थाओं की स्थापना की थी। आर्य्यों की प्रथानुसार वह आवागमन को कर्म फल देने के लिये ही मानता था। उसकी एक कल्पना यह भी थी कि जीव १००० वर्ष तक कष्ट भोगने के लिये संसार में आता है। इस

अवधि के बीतने पर उसे "लेथी" ※ नदी का पानी पीना होता था। प्राचीन यूनानियों के मतानुसार इस नदी का पानी पीने से पीने वाला अपनी पहली अवस्था को भूल जाता था।

एनंक्सागोरस
Anuxa Goras

एक और दार्शनिक सम्प्रदाय का प्रचारक था उसकी फ़िलोसोफ़ी "नोअस" (nous) के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह अपनी इसी फ़िलोसोफ़ी ही की बदौलत एथेंस से निकाला गया था। इसके विचार अद्वैतवाद से मिलते जुलते हैं सृष्टि के उपादान कारण का विचार करते हुए इसने प्रकट किया था कि उपादान कारण के सदृश सृष्टि की उत्पत्ति के लिये चेतन (निमित्त) कारण की भी आवश्यकता अनिवार्य्य है।

'डीमोक्रीटस'
Democritus

यह यूनान के उन दार्शनिकों में से था जिसने यूनान के दर्शन शास्त्र में जड़वाद का प्रवेश किया था। इसने अपने मतके स्पष्टी करण के लिये कुछ नियम बनाये जो संख्यामें छै थे और वह उन्हीं का प्रायः प्रचार करता रहा, वे नियम ये थे:—

(१) अभाव से अभाव ही होता है। भाव से अभाव नहीं हो सकता। जगत् में जो परिवर्तन होते हैं वे अणुओं के परिवर्तन से होते हैं।

※ पुराणों में वर्णित "वैतरणी" नदी की स्थानापन्न यह "लेथी" नदी प्रतीत होती है। अनेक पौराणिक गाथायें यूनानियों के मतों में नामों के भेद से, सम्मिलित पाई जाती हैं।

(२) अचानक (विना कारण के) कुछ नहीं होता प्रत्येक घटना सकारण होती है।

(३) जगत् में केवल दो सत्तायें विद्यमान हैं (१) अणु (२) आकाश।

(४) अणु अगणित हैं और उनके रूप भी असीम हैं। उनके संघर्षण* से जो पार्श्विक गति और भ्रमण उत्पन्न होते हैं। उन्हीं से जगत् की रचना प्रारम्भ होती है।

(५) संख्या, आकृति और समुदाय की दृष्टि से वस्तु विभिन्नता का कारण अणुओं की विभिन्नता है।

(६) जीवात्मा, सूक्ष्म, चिकने और गोल, अग्नि के अणुवों से बना है। ये अणु अन्य सब अणुओं से अधिक वेगवान् होते हैं और समस्त शरीर में प्रविष्ट रहते हैं उन्हीं की गतियों का परिणाम जीवन है।

इमपेडोक्लिस
Empedocles

"डीमीक्रीटस" के जड़वाद का समर्थक था, इसने अणुओं में राग † द्वेप होने की भी कल्पना की। उसका विचार था कि इसके विना संयोग

---

* विना निमित्त कारण के संघर्षण का प्रारम्भ किस प्रकार हो सकता है ?

† जिन दार्शनिक अथवा वैज्ञानिकों ने जीव की सत्ता नहीं मानी उनको विवश होकर उनके गुणों की कल्पना प्राकृतिक सत्ताओं में करनी पड़ी। इस के विना काम चल ही नहीं सकता था।

वियोग नहीं हो सकता। उसकी शिक्षा में "समर्थावशेष"* का मत भी एक विलक्षण कल्पना के रूप में पाया जाता है। उसने प्रकट किया कि आरम्भ में मनुष्य पशु और पक्षियों के समस्त अवयव आंख, कान, नाक, धड़, भुजा आदि सब पृथक २ उत्पन्न हुये पीछे से इन का सम्मेलन विलक्षणता से हुआ, अर्थात् कहीं तो किसी अन्य के धड़ से किसी अन्य के अवयव मिल गये, और कहीं २ ठीक मेल हो गया, अर्थात् कहीं तो मनुष्य के धड़ से हाथी का शिर मिला और कहीं ठीक रीति से मनुष्य के धड़ से मनुष्य का ही शिर मिला। इस प्रकार की विलक्षण सृष्टि बनी। इनमें से जो उत्पन्न प्राणी परस्थिति के अनुकूल थे "समर्थावशेष" के नियमानुकूल बच रहे, और बाकी नष्ट हो गये। इस प्रकार कटछँट कर सृष्टि ठीक अवस्था में आ गई।

दूसरा परिच्छेद

सुकरात और उसके बाद के दार्शनिक

सुकरात। सुक़रात, जिसे योरुप में विज्ञान का पिता समझा जाता है, उस का मत आत्मा के सम्बन्ध में इस प्रकार था:—सुकरात ने शिमी (Sammis) को उत्तर देते हुये कहा कि:—

* डार्विन का "समर्थावशेषवाद" इसी मूल का उन्नत रूप है। यह उन्नति कहना चाहिये, कि २००० वर्ष में हुई।

"मुझे विश्वास है कि मृत पुरुष भी एक प्रकार का जीवन रखते हैं जैसा कि पूर्वजों ने कहा है—वह जीवन पापियों की अपेक्षा सत्पुरुषों के लिये श्रेष्ठतर है" * ।

(२) "जब तक हम यह शरीर रखते हैं और जब तक यह कुत्सित साधन (शरीर) हमारी आत्माओं से सम्पर्क रखता है उस समय तक हम इच्छित उद्देश्य को कदापि न प्राप्त कर सकेंगे ।" †

(३) "चित्तकी शुद्धता, शरीर से आत्मा को पृथक् करते हुये और पृथक् करने की भावना को दृढ़ करते हुये आयु बिताना ही है ।"

(४) "शरीर से पृथक् होना और छूटना ही मृत्यु है ।"‡

शिबी ने कहा:—

(५) तब हम इस बात में सहमत हो गये कि जिन्दे मुर्दे से और मुर्दे जिन्दे से पैदा होते हैं और इसी लिये इस बात में भी हम सहमत हो गये कि यही यथेष्ट प्रमाण है कि मृत पुरुषों की आत्मा पहले कहीं अवश्य थी जहां से वह फिर जन्म लेती है §

(६) उस (सुक़रात) ने कहा कि "हाँ निसन्देह ऐसा ही है । हमने इस सिद्धान्त के स्थिर करने में भूल नहीं की है,

---

* Trial & Death of Socrates P. 115.

† Do. P. 120.

‡ Do. P. 122.

§ Do. P. 130.

मनुष्य मर कर अवश्य पुनः जन्म लेते हैं और उन्हीं मुर्दों से जीवित पुरुष उत्पन्न होते हैं और मृत पुरुषों का आत्मा अमर है" *

(७) सुक़रात—'तो आत्मा किस से सादृश्य रखता है'?

सिवी—यह तो स्पष्ट ही है कि आत्मा दैवी और शरीर मरणधर्म्मा है।'

सुक़रात—........"जो कुछ मैंने कहा, क्या उस सबका यह परिणाम नहीं निकला, कि जीवात्मा दैवी, नित्य, बोधगम्य, समान, अविनाशी और अजर है, जब कि शरीर विनाशी, जड़, बहुविध, परिवर्तनशील और छिन्न भिन्न होने वाला है? सिवी! क्या तुम इसके विरुद्ध और कोई तर्क रखते हो?

सिवी—नहीं। †

(८) फिर सिवी को उत्तर देते हुये सुकरात ने कहा "कि जीवात्मा जो अदृश्य है जो अपने सदृश शुद्ध, निर्मल, अदृश्य लोक में पवित्र और ज्ञानमय ईश्वर के साथ रहने को जाता है जहाँ यदि भगवान् की इच्छा हुई तो मेरा आत्मा भी शीघ्र जायगा। क्या हम विश्वास करें कि जीवात्मा जो स्वभाव ही से ऐसा शुद्ध निर्मल, और निराकार है वह हवा के झोंकों से उड़ जायगा? और क्या वह शरीर से पृथक् होते ही छिन्न भिन्न हो जायगा? जैसा कि कई कहते हैं।.... ‡

---

* Trial and Death of Socrates p. 131 and 132.

† Trial and Death of Socrates p. 146 and 147.

‡ Trial and Death of Socrates p. 148.

सुक़रात ने यूनान के दर्शन का झुकाव बाहर (प्रकृति) की ओर से हटाकर भीतर (आत्मा) की ओर कर दिया। वह सदैव अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करता था कि "अपने को जानो" और यह कि "आचार परम धर्म है।" आचारयुक्त जीवन तप से प्राप्त होता है, तप इन्द्रिय संयम और दम को कहते हैं।

अफलातून (प्लेटो)

प्लेटो आत्मा के अमरत्व का उत्कृष्ट प्रचारक था। सुक़रात की मृत्यु के बाद वह इटली चला गया था। इस यात्रा में उसे पाइथागोरस के मन्तव्यों का ज्ञान हुआ, वह आदर्शवाद से भी प्रभावित था। और अपने शिष्यों को सिखलाया करता था कि मेज के ख्याल में मेज से अधिक वास्तविकता है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "फेडो" (Phaedo) प्रश्नोत्तर रूप में है। पुस्तक में उसने आत्मा के अमरत्व पर अच्छा विचार किया है। उसका कथन है कि जीवात्मा अभाव से उत्पन्न नहीं हो सकता, इसलिये उसकी पूर्वसत्ता होनी चाहिए, और वह भी अनादिकाल से। इसी विचार की पुष्टि वह इस प्रकार करता है, कि केवल जीव ही उन आदर्शों का विचार कर सकता है जो वस्तुओं की सत्ता के कारण हैं, और जिनके द्वारा वस्तुओं की उत्पत्ति हुआ करती है। परन्तु जीवोत्पत्ति के विचार को उसने कभी क्षणमात्र के लिए भी स्वीकार नहीं किया। वह सदैव उसकी निरन्तर सत्ता का उपदेष्टा और अभाव से भाव होने का सर्वथा विरोधी रहा। उसका जीवन के सम्बन्ध में यही विचार था कि शरीर से पृथक् होने के बाद उसी प्रकार अनन्तकाल तक बना रहता है, जिस प्रकार शरीर में आने से पूर्व अनादिकाल से अपनी सत्ता रखता था। "आर्चर हिन्ड" (Archair Hind) ने जो

"फेडो" का संस्करण प्रकाशित किया था उसकी भूमिका में उपर्युक्त विचारों को प्रकाशित करते हुए यह भी लिखा है कि प्लेटो का विचार था कि बुद्धिमान् विज्ञान वेत्ताओं को मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिये।

प्लेटो (देखो रिपब्लिक का तीसरा भाग) अपने शिष्यों को परलोक सम्बन्धी ऐसे बिचारों से जिनका आर्फियसकी शिक्षा से सम्बन्ध है, बचाने का यत्न किया करता था क्योंकि वह उन्हें निस्सार समझता था। सृष्टि सम्बन्धी उसका विचार था कि "आदर्श सृष्टि सत्य और सौन्दर्य से भरपूर है परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के जगत् में इनका अभाव है" वह धर्म के आदर्श को सर्वप्रधान बतलाते हुए उस आदर्श की सत्ता ईश्वर को समझता था। वह समाज को बड़ी महत्ता देता था, और व्यक्ति के कुछ अधिकार नहीं समझता था, उसका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज के लिए जीता है। अफ़लातून को प्रकृति का भी अनादित्व स्वीकार था।

अरस्तू ३८४-३२२ ईसा से पूर्व

जीवात्मा सम्बन्धी अरस्तू के जो विचार हैं उसके तीन भाग हैं:—

(१) एक भाग जीवन का वह है जो वनस्पतियों और पशु पक्षियों में भी पाया जाता है।

(२) दूसरा भाग इन्द्रियज्ञान का है, यह केवल पशु पक्षियों में पाया जाता है।

(३) तीसरा भाग बुद्धि का है जो केवल मनुष्यों को मिलता है, मनुष्य में आत्मा का भाग पिता से आता है।

इस प्रकार अरस्तू मानता है कि मनुष्य की आत्मा में एक भाग नाशवान् है और दूसरा भाग अमर। वह भाग जो अमर-

है बुद्धि है और वह बुद्धि (ज्ञान की शक्ति) कामनाओं से उच्च आसन रखती है। जीव और शरीर के सम्बन्ध में उसका विचार यह है कि शरीर जीव का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा आकृति का प्रकृति, दृष्टि का चक्षुओं और असली का अप्रकट से है। जीवात्मा जो आकृति रूप और शरीर का वास्तविक अन्त है न तो स्वयं शरीर ही है और न विना शरीर के विचार में आने योग्य है। डाक्टर गोम्पर्ज ने * लिखा है कि पांचवीं शताब्दी के अन्त में जीवात्मा सम्बन्धी अरस्तू के मन्तव्य एथेंस में इस प्रकार समझे जाते थे कि बुद्धि पूर्वक नियम मनुष्य में जन्म से पहले अंकुरित होते हैं और शरीर के नष्ट होने पर जहां से आए थे वापिस चले जाते हैं"।

अपने गुरु प्लेटो का अनुकरण करते हुए अरस्तू लोगों को समझाया करता कि बुद्धिमान् को मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिये, किन्तु उसे अपने को अमर समझ कर कार्य करना चाहिये तभी सफलता प्राप्त कर सकता है।

एपीक्यूरस (Empicurus)
३४१ ईसा से पूर्व

इसकी शिक्षा का सार यह था कि मनुष्य को प्रसन्नता के साथ जीवन व्यतीत करना चाहिये "खाओ, पियो और खुश रहो।"

भौतिक विज्ञान मनुष्य को अन्धविश्वास से बचाने के लिये हैं, जगत् की अन्य वस्तुओं के सदृश मनुष्य भी (जीवसहित)

* Greek Thinkers by Dr. Gomperz Vol. IV. English Translation. p. 209.

प्राकृतिक अणुओं का एक समुदाय है अर्थात् प्रत्येक जीव सूक्ष्म प्राकृतिक परमाणुओं से बना है और गिलाफ़ रूप शरीर स्थूल अणुओं का सन्धान है। शरीर और आत्मा दोनों मरण धर्म्मा हैं और एक समय नष्ट हो जावेंगे। उसका मन्तव्य था कि मूर्ख ही मृत्यु की खोज करते हैं परन्तु मृत्यु से डरना भी मूर्खता ही है, मृत्यु आने पर शरीर अथवा जीव दोनों में से एक भी बाकी नहीं रहते।

"ऐपीक्यूरस" की शिक्षा योरुप में बहुत फैली और प्रकृतिवाद के विस्तार में उस से अच्छी सहायता मिली।

उसकी शिक्षा के विस्तार का एक कारण यह भी कहा जाता है, कि "ल्यूक्रेटियस" (Lucretius) एक प्रसिद्ध कवि ने उसकी शिक्षाओं का छन्दबद्ध करके अपने पुस्तक "डिरेरमनेचर" (De Rerumnature) द्वारा विस्तृत किया था।

ज़ैनो (Zsno) जिसका नाम गत पृष्ठों में आ चुका है ईसा से २४० वर्ष पहले हुआ था इसने "त्यागवाद" की स्थापना की। यह अद्वैतवादी था, इसका विचार था कि जीवात्मा प्राकृतिक है और शरीर के साथ ही उसका भी नाश हो जाता है। प्रलय होने पर ईश्वर के सिवा सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। ज़ैनो का त्यागवाद मुख्यतया आचार से सम्बन्धित था। प्रोफ़ेसर सिजविक (Prof. Henry Sidgwick) ने अपने प्रसिद्ध आचार सम्बन्धी इतिहास की पुस्तक * में, त्यागवाद का जीव के अमरत्व से क्या सम्बन्ध था यह प्रश्न उठाया है और विषयपर कुछ और प्रकाश डाला है उनके कथन का सार यह है:—

* History of Ethics by H. Sidgwick p, 102,

"त्यागवाद में जीव की अमरता का विश्वास बहुत सन्दिग्ध था परन्तु विलकुल रद्द भी नहीं किया गया था। (इस वाद के) पुराने शिक्षकों के विषय में हमें वतलाया जाता है कि "क्लीनथीस" (Cleanthis) के मतानुसार शरीर के नष्ट होने पर जीव बाक़ी रहता है, और "क्राइसिपस" (Cryseppus) कहता है कि जीव बाक़ी तो रहता है परन्तु केवल बुद्धिमानों का अद्वैतवाद के प्रभाव से वह अन्तको उसके भी बाक़ी रहने का निषेध करता है।

"इपिक्टेटस"

(Epictetus) अमरत्व के विश्वास के, सर्वथा विरुद्ध था। दूसरी और 'सेनेका' (Seneca) अपने कतिपय लेखों में शरीर रूपी बन्दीगृह से जीव के मुक्त होने का विवरण प्लेटो की भांति देता है परन्तु एक और स्थल पर परिवर्तन और नष्ट होने के मध्य में "मार्कस औरीलियस" (Marcus Aurelius) की भांति अपनी सम्मति देता है।"

पिरहो

इसके वाद "पिरहो" (Pyrrho) के संशय-वाद का यूनान में प्रारम्भ होता है परन्तु जीव-सम्बधी विचार की दृष्टि से ग्रीक फ़िलासफ़ी प्रायः यहाँ समाप्त होती है। संशयवाद के वाद सन् २०० और ३०० ई० के मध्य में एक प्रकार के अद्वैतवाद का प्रारम्भ यूनान में हुआ, जिसका आचार्य्य प्लाटीनस (Pilotinus) था। अद्वैतवादियों के सदृश यह भी जीव को शरीर की भांति उत्पन्न सत्ता बतलाता था। इसकी शिक्षा थी कि केवल ब्रह्म ही सत्य पदार्थ है और वही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, परन्तु जगदुत्पत्ति उस के हाथ नहीं किन्तु विकास का परिणाम है। वह पहले बुद्धि उत्पन्न करता है, बुद्धि से जीव उत्पन्न होता है। उसकी शिक्षा

में प्रकृति के लिये भी कोई स्थान नहीं है। प्लाटीनस के सम्बन्ध में एक बात यह भी कही जाती है कि वह परिमितरूप से जीव का शरीर से भिन्न होना मानता था, और यह कि उसकी सम्मति थी कि जीव एक तत्त्व की भांति शरीर से सर्वथा पृथक् और अप्राकृतिक है।*

* Haynes-Immortality p, 39,

चौथा अध्याय

पहला परिच्छेद

कतिपय अन्य मत

रोम

रोम की सभ्यता का उत्कर्ष यूनान के अपकर्ष के प्रायः साथ ही हो जाता है, रोम में प्रथम "सर्वजीवत्व-वाद" प्रचलित था। मृत पुरुषों का क़बरों में आना जाना कल्पना किया जाता था। परिवार के शेष सदस्य मांस और मदिरा मृत पितरों के भेंट किया करते थे। कहीं २ आर्कियस की पूजा का भी विधान था। नरक और उसकी भयानक अग्नि के विचार भी माने जाते थे। रोमन जाति प्रायः प्रकृतिवादी सी थी। ईश्वर के सम्बन्ध में उसका विचार था कि उसके साथ हम केवल सांसारिक कारोबार से सम्बन्धित "क़ौलो क़रार" कर सकते हैं। परलोक उन्हें स्वीकार नहीं था सर्वजीवत्ववाद के मन्तव्यानुसार वे जीव को प्रकृति से सम्बन्धित समझते थे। रोमनिवासियों में "सिसरो" (Cicero) एक विद्वान् हुआ, जिसने जीव के सम्बन्ध में कुछ विचार किया, और उसके अमरत्व के विश्वास में भाग लिया। वह रोमनों को शिक्षा दिया करता था कि जीव के अमरत्व की अधिकतर सम्भावना है, परन्तु दार्शनिकों के उपस्थित किए प्रमाण, इस वाद को पुष्ट करने के लिए अपर्याप्त हैं" आगामी जन्म के सम्बन्ध में उसका विचार

था कि वह अवश्य होगा, और प्रसन्नता का होगा, और यह कि नरक कोई वस्तु नहीं है।

दूसरा परिच्छेद

इसलाम और आत्मविचार

मौलवी क़लन्दर अली — आत्मा को अप्राकृतिक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि अद्वितीय सत्ता के लिये अविभक्त होना आवश्यक है और जीवात्मा उस अद्वितीय सत्ता का चिन्तन करता है। यदि जीव शरीर (प्राकृतिक) हो तो वह अविभक्त नहीं हो सकता, और उसके विभाग होने से वह अद्वितीय सत्ता भी जो चिन्तन द्वारा उसमें विभक्त हो जायगी, अतः जीवात्मा शरीर नहीं किन्तु इससे सर्वथा भिन्न है। *

(२) 'अल्लामए शीराज़ी' ने 'हिकमते अशराक़' नामक पुस्तक की व्याख्या करते हुए जीव की सत्ता को स्वतन्त्र प्रमाणित करने के लिये सबसे पहिली युक्ति यह दी है कि हम आत्मा की सत्ता का बिना किसी प्राकृतिक माध्यम के चिन्तन कर सकते हैं; इस लिये जीव की सत्ता अवश्य है और शरीर से स्वतन्त्र है।

(३) मुहम्मदताहिर एक प्रसिद्ध इतिहास में ईसा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "हक़्तआला" (महान् ईश्वर) ने आज्ञा भेजी है कि ईमान न लाने वालों पर मैं "अज़ाब" (दण्ड) नाज़िल करता (भेजता) हूँ। तदनुकूल ईसा ने उनको सूचित

* 'अख़लाक़े दिलपिज़ीर' कलन्दरअली प्रानीपती रचित।

किया। प्रातःकाल जब वे लोग उठे तो उनमें से चार सौ या सात सौ पुरुष सुअर हो गए और गली २ में मारे फिरते थे*।

(४) मुहम्मद साहिब ने एक हदीस में जो 'तफ़सीरे अज़ीज़ी' नामक कुरान की व्याख्या में उद्धृत की गई है कहा कि तुम 'अनुमान किए गए हो सदैव रहने के लिए और निश्चय तुम कूच करते हो एक दुनियां से दूसरी दुनियां की ओर'।

(५) इमाम फ़खरुद्दीन ने कबीर नामक कुरान के व्याख्यान में अनेक कुरान की टीकाओं और हदीसों का उल्लेख करते हुए प्रकट किया है कि मनुष्यों की भांति पशु और पक्षी भी ईश्वर की याद और प्रार्थना में संलग्न रहते हैं और "क़ियामत" में उनको भी कर्मफल मिलेगा, उन (पशु और पक्षियों) में भी ईश्वर ने देव और दूतों को उनके सुधारार्थ भेजा है।

(६) अरबी भाषा की एक पुस्तक "जब्दुतुल असरा" में असीरुद्दीन ने लिखा है कि मनुष्य की आत्मा निष्क्रिय नहीं रहता उसे शरीर की अपेक्षा रहती है। यदि उसकी पतित अवस्था न हो तो वह शरीर छोड़ने के बाद अपनी सत्तामात्र से स्थित रह सकता है, और उस समय उसका पापों से छुटकारा हो जाता है।

जीवात्मा अज्ञानी है। उसे ज्ञान की अपेक्षा रहती है जिससे पूर्णता प्राप्त करे। पूर्णता प्राप्त होने तक उसे मनुष्य योनि में बराबर आना पड़ता है।

---

* रोज़तुल अस्फिया (१८९० ई०) पृष्ठ १६५

(७) फ़रीदुद्दीन अत्तार लिखते हैं कि मैं वनस्पति के सदृश अनेक वार उत्पन्न हुआ और ७७० योनियों में रह चुका हूं ※ ।

(८) शम्सुद्दीन तवरेज़ी ने अपनी पद्यमय पुस्तक 'दीवान शम्सेतवरेज़' में, और मौलाना जलालुद्दीन रूमी ने अपनी प्रसिद्ध "मसनवी" में जीवात्मा की नित्यता और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को अनेक स्थलों पर स्वीकार किया है ।

(९) अवूनसरक़ारावी ने लिखा और इमाम ग़ेजाल ने इस की पुष्टि की है कि "रूह" और जिस्म में से पहली को अम्र (हुक्म) ऐसा ही क़ुरान में भी आया है, और जिस्म को ख़िल्क (उत्पत्ति) कहते हैं—इन्हीं दोनों के संघात का नाम मनुष्य है—रूह के लिये वह यह भी लिखता है कि वह निराकार है † ।
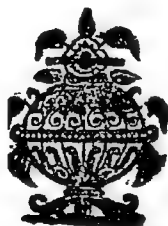
※ मिफ़ताहुल तारीख़ अध्याय ११ पृष्ठ १९८

† इल्मुलकलाम मौलाना शिवली नैमानी कृत भाग दो पृष्ट १८८

पांचवा अध्याय

योरुप के मत

पहला परिच्छेद

ईसाई योरुप ।

मिश्र, यूनान और रोम का पृथक् २ कथन करने के बाद अब समस्त योरुप में जीवसम्बन्धी विचार किस प्रकार के थे, इस पर एक दृष्टिपात करना चाहते हैं:—

ईसाई योरुप

ईसाई मतानुयायी जीव को उत्पन्न (सादि) परन्तु अमर मानते हैं। आत्मा सम्बन्धी उनके विचार प्रारम्भ से अनेक रूपों में होते हुये इस परिणाम तक पहुँचे हैं। उनका निर्णयदिवस में मुर्दों के क़बरों से उठने * का विचार पहली शताब्दी से अब तक प्रायः अपरिवर्तित चला आता है।

---

* मध्यकालीन ईसाई योरुप में मुर्दों के क़बरों से उठने (Bodily resurrection) के विचार यहां तक बढ़ी चढ़ी अवस्था में माने जाते थे कि पादरी लोग कहते थे कि यदि कोई जंगली हिंसक पशु किसी मनुष्य को मार कर खा लेगा तो उसे अपने मुंह से 'निर्णयदिवस' उगलना पड़ेगा।

परन्तु ईसा के एक सहस्र वर्ष बाद जी उठने का विचार (Belief in the Millennium) सन् १००० ई० में एक हजार वर्ष बीत जाने और ईसा के पुनः दुनियां में न आने से शिथिल सा हो गया है।

अपराधों को क्षमा करने का विचार (Belief in purgatory) जिसके आधार पर रोम के पोप "माफ़ीनामे" जारी किया करते थे, लूथर की शिक्षाओं के प्रचार से दूर हुआ।

मध्यकालीन ईसाई चर्च के अनुयायी स्वर्ग और नरक के विचारों को पूर्णतया मानते थे *। प्रारम्भिक ईसाई चर्च में

---

* यद्यपि स्वर्ग नरक के विचार माने जाते थे परन्तु इन विचारों से लोगों का विश्वास हट रहा था। यह बात एक नाटक की रचना से भली भाँति प्रकट होती है। यह नाटक डेन्टे का लिखा हुआ था और इसका नाम "डिवाइन कौमडी" (Dante's Divine Comedy) था इस नाटक का आंगल-भाषानुवाद ऐन्टरलैंग ने (Ancassin and Nicolete by Andrew Lang P. 9) नामान्तर करके किया था। नाटक का नायक स्वर्ग में जाने से इनकार करता है, हेतु यह देता है कि वहां होगा ही क्या। कुछ पुराने ढर्रे के पादरी होंगे कुछ लंगड़े, लूले और बूढ़े आदमी होंगे कुछ एक मरे हुए दरिद्र लोग। वह स्वर्ग की अपेक्षा नरक में जाने का "तरजीह" देता है और कहता है कि वहां अच्छे २ वीर योद्धा और मनोरञ्जक यात्राओं में मरे हुये पुरुष होंगे, अच्छी २ स्त्रियां होंगी, उनके

आत्मासम्बन्धी विचार विभिन्न होते हुए भी, समष्टिरूपेण, कहा जा सकता है कि उनमें १२वीं शताब्दी तक प्रायः प्लेटो के आत्मासम्बन्धी विचार प्रतिष्ठित थे। अवश्य नोस्टिक (Guostic) लोग जो ईसाइयों के एक पन्थ में थे दूसरी शताब्दी तक आर्फियस के प्रचारित आगामी जीवन सम्बन्धी विचारों में से अनेक को मानते थे।

इस बीच में योरुप में स्कोटस एरिजिना (Scotus Erigena) सेंट थामस (St. Thomas), डंस स्कोटस (Duns Scotus) और ओकम (Ockam) विचारक एक दूसरे के बाद प्रकट हुए, परन्तु इनका अधिकतर काम यही था कि उस समय के प्रबल ईसाई गिरजे के मन्तव्यों का विशेष कर ईश्वर-सम्बन्धी मन्तव्य का जिस प्रकार भी हो सके, समर्थन करें।

सेंट आगस्टिन (३५४–४३० ई०) अवश्य एक विचारक हुआ, जिसने बहुत अंश तक ईसाई मन्तव्यों को निश्चित रूप में किया। वह दार्शनिक भी था और मत का पोषक भी, इसी लिये उसके विचारों में विरोध भी है। ईश्वर और जीव के सिद्धान्त की दृष्टि से आगस्टिन अधिकांश में अद्वैतवादी था। वह कहता है कि "ज्ञान, स्मृति और विचार, आत्म की सत्ता, प्रमाणित करते हैं। तो भी यह कहना कठिन है कि आत्मा क्या वस्तु है। जो लोग

साथ एक २ से अधिक उनके इच्छुक और प्रेमकर्ता भी होंगे। अच्छे २ धनी और सभ्य पुरुष होंगे, इत्यादि (The belief in personal immortality by E. S. P. Haynes p. 37 and 38.)

उसे प्राकृतिक तत्त्वों की सम्मेलनक्रिया का परिणाम बतलाते हैं, वे भूल करते हैं, क्योंकि आत्मा तो चेतन है परन्तु प्राकृतिक तत्त्व जड़ और चेतना रहित है, कुछ लोग उसे परमात्मा से निकला हुआ बतलाते हैं वे भी भूल करते हैं। अन्य वस्तुओं की भांति ईश्वर ने उसे भी उत्पन्न किया है, परन्तु उत्पन्न होते हुए भी वह अमर * है, क्योंकि उसमें बुद्धि है। बुद्धि और सत्य एक ही है, और अविनाशी है, अतः जीव भी अविनाशी है। उसका कथन है कि आचार और धर्मसम्बन्धी नियमों का प्रकाश परमात्मा की ओर से होता है। मनुष्य निर्बल है और अपने यत्न से पाप से बच भी नहीं सकता, उसका बचाव परमात्मा ही की दया पर निर्भर है, परन्तु परमात्मा भी सारे मनुष्यों को नहीं बचाता। यह पहले से निश्चय हो चुका है कि कौन २ पुरुष बचाये जायेंगे †।"

सेंट थामस एक्वीनास (St. Thomas Aquinas) के समय तक इस विषय में प्रायः आगस्टिन प्रमाण माना जाता रहा था। ऊपर कहा जा चुका है कि १३वीं शताब्दी तक योरुप में प्लेटो के आत्मसम्बन्धी विचार ही प्रायः माने जाते रहे थे, तत्पश्चात् अरस्तू के विचार, अर्बी रंगत के ‡ साथ फिर योरुप में आये,

---

* इसका यह जीव के अमरत्व का मन्तव्य अद्वैतवाद के विरुद्ध है।

† क्या यह भी निश्चय हो गया है कि कौन २ से मनुष्य नरक में डाले जावेंगे ?

‡ अरस्तू की शिक्षा यूनान से अरब में गई और वहाँ "अरब" के दर्शन के रूप में प्रकट हुई। दसवीं और बारहवीं

और वे इतने परिवर्तित रूप में थे कि अरस्तू के नाम से प्लेटो के विचार ही योरुप में माने जाने लगे, परन्तु वादविवाद बढ़ता ही गया और अन्त में वह जेनोके त्यागवाद के रूप में परिवर्तित हो गया। इस वाद के अनुयायी प्रथम ब्रह्माण्ड के लिये एक आग्नेय शक्ति होने का प्रचार करते थे, पीछे से वही शक्ति जीव कहलाने लगी, परन्तु वह प्राकृतिक मानी जाती थी, उसके लिये वे कहते थे कि एक विचित्र वस्तु वायु अथवा श्वास जैसी प्राणियों में फूँकी गई है।

अरस्तू इसी को जीवित अग्नि से सम्बन्धित करता था। त्यागवादी इस विचार को शरीर और जीव में मिलान करने के लिए मानते थे, और इसीलिए उनमें जीव प्राकृतिक माना जाता रहा था, परन्तु जीव का प्राकृतिक मानना प्लेटो के मन्तव्य के विरुद्ध था, और ईसाई चर्च भी इसका विरोधी था, अतः जीव प्राकृतिक होने की जगह अप्राकृतिक माना जाने लगा।

फ़िलो (Philo) एक यहूदी विद्वान् जो ईसा से कुछेक वर्ष पूर्व हुआ था, उसका जीवसम्बन्धी मन्तव्य इन दोनों मन्तव्यों के मध्य का था। वह कहता है कि जीव प्राकृतिक और अप्राकृतिक दोनों है परन्तु उसकी सत्ता शरीर से सर्वथा विरुद्ध है। इस

शताब्दी के मध्य में यह दर्शन बुग़दाद, स्पेन और अफ्रीका में फैला, परन्तु इसलामी जगत् में इसका आदर नहीं हुआ, इस बीच में अरस्तू की पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ। आम तौर से यूनान के दर्शनों का ज्ञान मुसलमानों को फ़ारस के माध्यम से हुआ था।

प्रकार के विचार संघर्षण का परिणाम यह हुआ कि जीव की सत्ता शरीर से स्वतन्त्र और अप्राकृतिक मानी जाने लगी।

ईसवी सन् १२२७ और १२७४ के मध्य में हुए "एवररोज" (Averross) ने अपने जीवसम्बन्धी विचारों को प्रकट किया। उसके मत में बुद्धि की सत्ता आत्मा से पृथक् है। वह कहता था कि मनुष्य के अन्तर्गत उठते हुए संकल्प-विकल्प का उत्तरदायित्व मनुष्य से ऊपर एक संकल्पविकल्पात्मक नियम के आधीन है। "एवररोज" अपने मत की प्रशंसा स्वयं इस प्रकार करता है कि उसके मत का प्रभाव मानवी आचार और विचार पर भावी दण्ड और फल के विचार की अपेक्षा अच्छा पड़ता है।

"थामस एक्वीनास" का नाम ऊपर लिया जा चुका है उसने एवरोज के मत का घोर विरोध किया। उसके "बुद्धि पार्थक्यवाद" के सम्बन्ध में एक्वीनास का आक्षेप यह था कि इससे जीवों के बहुत्ववाद का खण्डन होता है। एक्वीनास ने अरस्तू के ग्रन्थों का ग्रीक भाषा से अनुवाद कराया, और स्वयं उनकी टीकाएँ कीं। वह कहता है कि अरस्तू के मत का ठीक रूप यह है कि "क्रियात्मक बुद्धि" जीव का गुण है और यह कि जीव शरीर से पृथक् है।

जीव के शरीर से पृथक होने पर "बुद्धि" किस प्रकार काम करती है, एक्वीनास के मतानुसार यह प्रश्न भौतिक विज्ञान से नहीं सुलझाया जा सकता।

डंस स्कोटस (१२६६–१३०८ ई०) जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है, उसका जीवसम्बन्धी मत यह है कि वह एक ऐसी निश्चयात्मक शक्ति है कि स्वयं बिना बुद्धि की सहायता के प्रत्येक विषय का निर्णय कर लेती है। यही (Will to

believe) उसकी शिक्षा का मुख्य भाग है। वह कहता है कि जीव के अमरत्व का कोई तर्कसिद्ध प्रमाण नहीं है।

पीट्रो पोम्पोनेज़ी (Pietro pomponazzi)
(१४६२–१५२४)

यह योरुप के मध्यकालीन दार्शनिकों में जीव की स्वतन्त्र सत्ता का विरोधी था। वह अरस्तू के जीवाकृतिवाद की बात उठाते हुए कहता है कि यदि जीव शरीर की आकृतिमात्र है तो शरीर से पृथक् नहीं हो सकता, वह बुद्धि को भी शरीर के संगठन पर निर्भर बतलाता है, उसकी भी शरीर स्वतन्त्र सत्ता का विरोधी है। आगामी जन्म के सम्बन्ध में कहता है कि यदि मनुष्य एक ओर व्यक्तियों की मृत्यु से कुछ खोता है तो दूसरी ओर इस विचार से लाभ भी है कि मनुष्यसमाज का एक संगठन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये सम्मिलित होता है, और वह इस प्रकार समाज का एक अंश है और समाज सम्बन्ध के विचार से वह सत्य है। और यह कि मनुष्य का परिणाम दिव्य अनुसरण है, अर्थात् स्वच्छ परिणाम आचारपरक तर्कको काम में लाने और आचार युक्त जीवन व्यतीत करने में है। पोम्पोनेजी को भूत प्रेत की सत्ता में विश्वास था।

परसेलेसेस (Paracelsas)
१४९३–१५४१)

इसने सूक्ष्म शरीर का विचार उत्पन्न कर के बतलाया कि समस्त कल्पनाओं और स्वाभाविक बुद्धि का वह उत्तरदाता है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर भौतिक तत्त्वों में लौटता है, परन्तु सूक्ष्म शरीर तारों में

मिल जाता है। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म शरीरकी आयु अधिक है।

ज्यार्डेनो ब्रूनो (Giordano Bruno) (१५४८—१६००) ब्रूनो के जीव सम्बन्धी विचार अद्वैतवादियों के सदृश थे वह विश्वमेधा को सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका एक आत्मा और सर्वोच्च शक्ति समझता था; अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के मनुष्य पशु, पक्षी और वृक्षोंमें एक ही जीव था ब्रूनोने अपना कार्य प्रारम्भ ही किया था कि उसे प्राण खोने पड़े * इस घटना से गैलिलियो (Galileo) और डेकोर्टको भी भयभीत होकर

---

* चर्चके विरुद्ध मत प्रकट कर देने के अपराध में ब्रूनो ज़िंदा ही जलाया गया था। कदाचित् ब्रूनो का अपराध इस लिए भी बड़ा समझा गया होगा कि वह पोपकी राजधानी इटली का निवासी था और वहीं उसने अपने विचार प्रकट किये थे। उस समय चर्च का बल यौवनावस्था को प्राप्त था। प्रत्येक विषय में उसके ही अन्तिम निर्णय को माना जाता था उस समय की परिस्थिति इस एक ही उदाहरण से भली-भांति समझी जा सकती है कि तत्कालीन विचारकों में एक मुख्य सम्प्रदाय था जिसने अपनी कार्यप्रणाली के लिए कुछ एक नियम बनाये थे जिनमें मुख्य दो थे (१) प्रत्येक विवेककी आवश्यकता नहीं वह अंजील में मौजूद है, केवल उसका समाधान अपेक्षित है (२) चर्च मनुष्यों के लिए ईश्वर का प्रतिनिधि रूप है, सारे अधिकार चर्चको प्राप्त हैं अतः प्रत्येक का धर्म है कि चर्च की आज्ञाओं का पालन करे।

अपनी सम्मतियों को दवाना पड़ा था। उनको अपनी सम्मति तो दवानी पड़ी परन्तु योरुप की अवस्था के लिए यह परिवर्तन-काल था और शीघ्र परिवर्तन हो जाने में सब से बड़ा योग लूथर और उसके अनुयाइयों ने दिया। निदान चर्च को दबना पड़ा, "पोपडम" का अन्त हुआ। यही समय था जब गैलिलियो ने अपनी आविष्कृत दूरबीन से बृहस्पति के उपग्रहों का पता लगाया, कैपलर (Kepler) ने ग्रहों की आकृतियों की खोज की और

"ब्रूनो" के साथ जो सलूक चर्च ने किया था उसी प्रकार का सलूक वल्कि उससे कुछ बढ़कर, चर्च ने देवी हाईपेशिया के साथ किया था वह विदुषी देवी विज्ञान सम्बन्धी खोज करके प्रकट किया करती थी। एक दिन जब वह एलेग्ज़न्ड्रिया (मिश्र) में इसी प्रकार का व्याख्यान दे रही थी तो पादरी शालके चेले उसे घसीटते हुए गिरजाघर लेगए, वहाँ वह नंगी की गई, उसका मांस काटा गया और अन्त में जलाई गई। इस प्रकार की दुर्घटनाओं से योरुप का मध्यकालीन युग भरा पड़ा है। जब यह पापमय युग अत्याचार के शिखर पर पहुँचा हुआ था तो "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्था नम धर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यऽहम्"। की युक्ति के अनुसार मार्टिनलूथर का प्रादुर्भाव हुआ उसने अपने अनुयायी ज़्विंजली (Zwingli) और कालविन (Calvin) के योग से तत्कालीन चर्च को उसकी स्थिति से गिराया और पोप के अत्याचारों से लोगों को बचाया।

कोपर्निकस (Copernicus) ने घोषणा की कि सूर्य्य विश्व (सूर्य्यमण्डल) का केन्द्र है। पृथ्वी एक साधारण ग्रह है। कोलम्बस ने अमेरिका और वास्कोडिगामा ने भारतवर्ष को ढूंढा और पृथ्वी को गोल प्रमाणित किया। इस परिवर्तित युग का परिणाम यह हुआ कि विचार स्वातन्त्र्य बढ़ने लगा और वैज्ञानिकों और दार्शनिकों को भी स्वतन्त्रता से अपना मत प्रकट करने का अवसर मिला। यहाँ ईसाई योरुप समाप्त होता है और वर्त्तमान योरुप की आधार शिला रक्खी जाती है।

दूसरा परिच्छेद

योरुप के वर्तमान युग का प्रारम्भ काल।

डेकार्ट (Descartes) (१५६६–१६५०) डेकार्ट के विचारों से नवीन योरुप का प्रारम्भ होता है, यह जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानता था, उसके विचार इस प्रकार हैं:—

"मैं विचार करता हूँ इस लिये मैं * हूँ" डेकार्ट इसी विचार के साथ जीवात्मा की सत्ता की साक्षी देता है, वह ईश्वर और प्रकृति की सत्ता का भी वैसा ही साक्षी है जैसा जीवकी सत्ता का। वह कहता है कि जीव में चैतन्यता है और प्रकृति में विस्तार,

---

* "Cogitoergo Sum" डेकार्ट का प्रसिद्ध वाक्य है जिसका तात्पर्य यह है "मैं विचार करता हूँ अतः मैं हूँ" (I think therefore I am)

तथा परमात्मा सर्वोपरि है। जीव यद्यपि समस्त शरीर में आ जा सकता है परन्तु उसका मुख्य स्थान मस्तिष्क है * जीव केवल मनुष्यों में है, पशु पक्षी स्वयं चलते हुये यन्त्र सदृश और जीव रहित हैं। पशुओं में जीव का अभाव वह बुद्धि के अभाव से समझता है, और बुद्धि के अभाव का प्रमाण यह है कि वे अपने विचार मनुष्यों पर प्रकट नहीं कर सकते। † उसकी सम्मति

---

* जीव का स्थान डेकार्ट ने मस्तिष्क में तृतीय चक्षु की जगह (In the pineel gland inside the brain) बतलाया है, कहा जाता है कि यह पिण्ड तीसरी आंख का बचा हुआ रूप है जो ऐतिहासिक काल से पूर्व रेंग कर चलने वाले जन्तु और आरम्भिक पशु रखते थे। लन्दन के चिड़ियाखाने में एक छिपकली ऐसी बतलाई जाती है कि उसके शिरपर इसी प्रकार की अधूरी बनी आंख का पूर्व रूप था, इस से तो शिवजी के तीसरे नेत्र की भी बात बिलकुल बेबुनियाद नहीं प्रतीत होती है।

† क्या इसी तर्क से मनुष्य भी जीवरहित नहीं सिद्ध हो सक्ता है? कहा जाता है कि पशुओं में डेकार्ट का जीव न मानना तत्कालीन चर्च के प्रभाव से था। डेकार्ट ईसाइयों के एक अनुयायी "जैसूट" (Jesuits) लोगों से, जिनका फ्रांस में उस समय बहुत प्रभाव था, बहुत भयभीत रहा करता था। सम्भव है यही हेतु उसके पशुओं में जीव न मानने का हो, क्योंकि उस समय ईसाई मतानुयायी पशुओं में जीव नहीं मानते थे।

में पशुओं में एक नैसर्गिक अथवा सहज बुद्धि है जो चेतनाशून्य होती है।

हेनरी मोर Henry (More) १६१४-१६८७
रेल्फकडवर्थ (Relph Cudworth)१६१७—१६८८

ये दोनों दार्शनिक जीव सम्बन्धी एक ही विचार रखते थे। उनका विचार यह था कि जीव शरीर की तीन मात्राओं से भिन्न केवल चौथी मात्रा में है और शरीर की भांति परिमित नहीं है, शरीर न फैल सकता है न सिकुड़ सकता है, वह स्थूल और कठोर है, परन्तु जीव इस बन्धन से पृथक् है। समस्त शरीर यहाँ तक कि ब्रह्माण्ड भी शीघ्रगामी जीवों से भरा हुआ है। यह जीव नीचे के दरजे में कीट कहे जाते हैं। इनके ये विचार यूनान के "प्राकृतिक चेतनावाद" को पुनर्जीवित करते हैं, और प्रो० क्लीफोर्ड (Prof. Clifford) के "जीव प्राकृतिकवाद" से भी मिलते जुलते हैं। इस अन्तिमवाद का सार यह है कि प्राकृतिक जगत् का प्रत्येक अंश, जिन के एकत्र होने से वह बना है, ज्ञात अथवा अज्ञात विचारों से भरपूर है।

मालब्रांच (Malebranche)
(१६३८–१७१५)

डेकार्टके शिष्यों में अधिक प्रसिद्ध है। परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनोंकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकृत है। वह कहता है कि जीव की इच्छानुसार शरीर में और उसके द्वारा जगत् के उन पदार्थों में क्रिया उत्पन्न होती है और इसी प्रकार प्रकृति की क्रियाओं से जीव प्रभावित होता है। परन्तु चाहे जीव प्रकृति को क्रियावान् बनावे अथवा प्रकृति जीव को प्रभावित करे, दोनों अवस्थाओं में प्रत्येक चेष्टा का वास्तविक

कारण ईश्वर ही होता है; जीव और प्रकृति प्रासङ्गिक होते हैं।

मालब्रांश के इस प्रसङ्गवाद के अनुसार परमात्मा अपनी अनंत शक्ति से पदार्थों को देखता है, 'मैं परमात्मा की तरह चेतन होने के कारण इन पदार्थों के चित्रों को जो परमात्मा के ज्ञान में हैं, देखता हूँ,' इस वाद को द्वैत और अद्वैत दोनों का मध्य स्थानीवाद कह सकते हैं।

स्पीनोज़ा (Spinoza)
(१६३२-१६७७)

स्पीनोजा यद्यपि अद्वैतवादी है, परन्तु शंकर और उसके ईश्वरसंबन्धी विचार में अंतर है। शंकर ईश्वर को अप्राकृतिक चेतन शक्ति, परन्तु जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है; परन्तु स्पीनोजा जगत् को ईश्वर का विकसित रूप ही बतलाता है, जगत् से पृथक् ईश्वर की सत्ता उसे स्वीकार नहीं। उसने द्रव्य केवल ईश्वर को माना है। उसके मतानुसार द्रव्य वह है, जो अनादि और अनंत हो, और वह एक (ईश्वर) ही है। ईश्वर के गुण उस (ईश्वर) के सदृश अनन्त हैं। उसके दो गुणों, चेतना और विस्तार में, चेतना जिन रूपों को ग्रहण करती है, उन्हें हम जीव कहते हैं; और विस्तार गुण अनेक प्रकारों से प्राकृतिक जगत् निर्माण करता है। मनुष्य में यह दोनों प्रकार (शरीर और जीव के रूप में) सम्मिलित हैं। ईश्वर के गुण अनंत हैं, उनसे निर्मित जगत् भी इसीलिए अनंत हैं परंतु मनुष्य इन दो ही जगत् का ज्ञान रखता और रख सकता है। स्पीनोज़ा के ईश्वर में एक विलक्षणता यह भी है कि वह ज्ञानशून्य है। स्पीनोजा कहता है कि ज्ञान और चेष्टा की कल्पना ईश्वर में करने से वह सीमित हो जाता है। एक पश्चिमी

विद्वान् ने स्पीनोज़ाके जीव सम्बन्धी विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं:—

"स्पीनोज़ा प्रचारित जीवन का अमरत्व, जीवन की निरंतर सत्ता नहीं, किन्तु जीवन का ढंग है" "जो कुछ यहां और अब प्राप्त किया जाता है, उतना ही किसी अन्य स्थान और समय में प्राप्त होता है। जो कुछ प्राप्त होता है वह जीव की पूर्णता का भावी फल नहीं, किंतु स्वयमेव पूर्णता ही प्राप्त की जाती है।"

"चाहे हम उसे जीवन का अमरत्व कहें, अथवा ईश्वरीय राज्य, बुद्धि, मुक्ति अथवा निर्वाण कहें, इन सबको इनके धर्म-शिक्षकों ने कोई ऐसी वस्तु नहीं बतलाई जो इस जीवन से पृथक् अथवा इस जीवन के बाद प्राप्त होती है, किन्तु सबने यही शिक्षा दी है कि इनमें (जीवन के अमरत्वादि में) प्रविष्ट होकर तद्रूप हो जाना मुक्ति है"।

"स्वयं स्पीनोज़ा ने लिखा है कि 'यदि मनुष्य के साधारण विचारों पर ध्यान दिया जावे तो प्रतीत होता कि वे अपने जीव के अमरत्व से अभिज्ञ हैं, परन्तु उसे स्थायित्व के साथ मिलाकर भावना अथवा धारणा से सम्बन्धित करके उसके मृत्यु पश्चात् बाकी रहने की कल्पना कर लेते हैं*"।

लाईपनिट्ज़ Leipnitz
१६४६-१७१६

लाईपनिट्ज़ का सिद्धान्त है कि संसार चेतन अणुओं से भरा है। प्रत्येक अणु ज्ञान और शक्ति गुणवाला है और प्रत्येक

* Spinoza. His life and philosophy by Sir, Frederick Pollack Bart. 2nd Edition p. 275.

की स्वतन्त्र सत्ता है। श्रेष्ठ अणु जीव, और निकृष्ट अणु शरीर कहलाते हैं। "अणुओं का अणु" अथवा "सबसे महान् अणु" ईश्वर है।

जीवका शरीर अथवा शरीरका जीवपर कोई प्रभाव नहीं है, अपितु ये दोनों ऐसे दो घंटोंके सदृश हैं जो एक ही साथ (एक ही समय में) एक ही प्रकार का घंटा बजाते हैं। इन दोनोंका वह सम्मेलन पूर्व सङ्घटित सङ्गठनके आधार पर होता है। सर्वनाशक मृत्यु न शरीरके लिये है, न जीवके लिये। मृत्यु होने पर शरीरके भीतर एक सूक्ष्म शरीर * है वह जीवित रहता है। इसी प्रकार जीव भी नहीं मरता वह विकसित होता रहता है। मनुष्य पशु की भांति नश्वर नहीं है, किन्तु उसकी प्रज्ञा उसके अमरत्व का विश्वास दिलाती है वह आत्मसत्ता से अभिन्न है, और (मृत्यु पश्चात्) फिर उठेगा। उसका शरीर-परिवर्तन उसके आचार सम्बन्धी मूल्य के अनुकूल नैसर्गिक नियमाधीन रहता है। लाईप निट्ज की परिभाषा के अनुसार "चैतन्याणुवाद" के अन्त में मनुष्य के पास ब्रह्मपुरी का एक संक्षिप्त चित्र होगा, जहाँ कोई शुभ कर्म बिना फल के, कोई अशुभ कर्म बिना दण्ड के बाकी नहीं रहता।

---

* यह सूक्ष्म शरीर का विचार वीज़मैन के 'कीटवाद' (Weismann's theory of Germplasm) से मिलता जुलता है। कीटवादानुसार वह कीट प्रत्येक योनि में जीव के साथ स्थित रहता है Lamanadologie, par Emile Boutroux, p. 65-66.

बेली Bayle (१६४७-१७०६) बेली ने अपने बनाए हुए अंगरेजी के एक कोपमें जीव के सम्बन्धमें कई जगह अपना मत प्रकाशित किया है। उस का कथन है कि इस से पूर्व हुए दार्शनिक मनुष्य और पशु दोनों के लिए प्राकृतिक जीव की सत्ता मानते थे, परन्तु उन्होंने पशुओं के जीवों के सम्बन्ध में अमरत्व का विचार कहीं प्रकट नहीं किया है। हां मनुष्यों के जीवों को वे अमर जरूर मानते थे।

एक और विद्वान् ने पशुओं के जीवों के अमरत्व के सम्बन्ध में लिखा * है कि यद्यपि दर्शन में पशुओं के जीवों के अमरत्व के लिये कोई स्थान नहीं, परन्तु "कैम चाडालीस" (Kam chadeles) मक्खी मच्छरों के पुनर्जन्म में विश्वास रखता था। "एगासीज़" (Agassiz) ने अपने एक निबंन्ध में जो उसने "वर्गक्रम" पर लिखा था, लिखा है कि ४९७७ पुस्तकों में से जो जीव के स्वभाव और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में लिखे गये हैं और जिनका जिक्र "ऐलगर" (Alger) ने भी अपने इतिहास में किया है, २०० पुस्तकों में पशुओं के पुनर्जन्म के सम्बन्ध में विचार किया गया है।

स्वीडनबोर्ग Sweden Borg (१६८८—१७७२) यह महाशय 'आत्म जगत' के दृष्टसाक्षी हैं, इनकी गवाही सुनिये। जीव सम्बन्धी विचार करते हुये ही इनको प्रकट हुआ कि स्वर्ग का द्वार इनके लिये खुला हुआ है और यह ईसा के द्वारा वहां तक पहुँच गये। वहां इन्होंने जो कुछ देखा उसका विस्तृत विवरण अपने लेख में किया है। नरक का हाल भी

* Clodd : Myths and Dreams. p. 208.

लिखा है कि वहां क्या २ और किस २ प्रकार होता है। पाप का कारण क्या है, और यह कि स्वर्ग में विवाहों की स्थिरता * और पवित्रता कैसी मानी जाती है, इन सब बातों का भी उल्लेख किया है। स्वीडनबोर्ग फिर कहते हैं कि स्वर्ग और नरक की देख भाल करने के बाद फिर संसार में ईसा के द्वारा ही पहुँचाये गये और यात्रा के फलरूप में उनकी नियुक्ति "नये जेरुसलीम" के "पैग़म्बर" पद पर हुई। स्वर्ग में इनकी मुलाक़ात बहुधा शरीर छोड़े हुये जीवों से भी हुआ करती थी। इनके क़थनानुसार जीव मृत शरीर को भी उस समय तक नहीं छोड़ता जब तक शरीर सड़ गलकर जिन भूतों से बना था वे अपने २ कारणों में लीन नहीं हो जाते।

वाल्टेर (Voltaire) १६९४—१७८८

यह अज्ञेयवादी था। जीव के अमरत्व को यद्यपि नहीं मानता था तो भी कभी कभी उसका विचार हो जाता था कि न्यायव्यवस्था अमरत्व स्थापना चाहती है। वह ईश्वर का विश्वास, जनता के आचार सुधार का रक्षासाधन समझ कर, रखता था, और ऐसा विश्वास रखने से, जीव के अमरत्व का मानना उसके लिये

* स्वर्ग में विवाहों की स्थिरता का कथन, पश्चिमी संसार में विवाह की अस्थिरता किस प्रकार "तलाक़ों" की बढोतरी का कारण बन रही है, उसके दूर करने का प्रस्तावमात्र प्रतीत होता है। स्वीडनवर्गका यह स्वर्गारोहण मुहम्मद साहब की "मैराज" सम्बन्धी यात्रा से मिलती जुलती बात प्रतीत होती है।

अनिवार्य सा ही था। फिर भी वह कहता है कि ईश्वर तथा जीव की सत्ता, क्या और किस प्रकार की है, यह अज्ञात है।

बुफ़न [Buffon] १७०७–१७८८ प्राकृतिक अणुओं को इन्द्रियमय मानता था, इसलिये जीव और ईश्वर दोनों उसके लिये अनावश्यक से थे।

डिडिरट Diderot १७१३.१७८४ इसने "बुफ़न" के नास्तिकवाद को उन्नत किया। शरीर के भीतर ज्ञानतन्तुओं के विलक्षण कार्य का ज्ञान प्राप्त करने से गहरा प्रभावित था, परन्तु इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता और जीव की अमरता का विरोधी था।

बैरन.डी. हालबेक Baron.d.Halbach प्रकृतिवादी था। इसने १७७० ई० में एक * पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसका उद्योग यह था कि प्रकृति और शक्ति के सिवा संसार में कोई स्थिर वस्तु नहीं है। जीव शरीर का अंश है, अर्थात् ज्ञान तन्तुओं से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

तीसरा परिच्छेद

लाक (Locke) † १६३२.१७०४ लौक ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की सत्ता मानता था। उसका कथन है कि जीवात्मा का सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है और इस जन्म के अनुभवों से पूर्व आत्मा की अवस्था ऐसे काग़ज़ की

---

* System de-la Nature by Barond Halbach.

† पश्चिम के परीक्षात्मक तर्क का जन्मदाता समझा जाता है।

तरह होती है जिस पर कुछ लिखा हुआ न हो। जीवात्मा में वह ६ प्रकार की शक्तियां मिश्रित अनुभवों के बनाने के लिये मानता है (१) अलब्धि (२) स्मृति (३) विवेक (४) भेदाभेद विचार (५) सम्पर्क (६) व्यापकत्व।

इनमें से प्रथम की पाँच शक्तियां वह कहता है कि पशुओं में भी होती है परन्तु छठी शक्ति केवल मनुष्यों में पाई जाती है। वह कहता है कि प्रकृति के विषय में हम इससे अधिक नहीं जानते कि आकार विस्तार आदि गुणों का आधार है और सम्वेदन से उसका ज्ञान होता है, आत्मासम्बन्धी हमारा ज्ञान यह है कि प्रत्यक्ष, स्मृति, सुख, दुःख आदि का वह स्रोत है। द्रव्य का शुद्ध स्वरूप हम नहीं जानते। वह कहता है कि जीव की हस्ती में सन्देह करना ही उसकी हस्ती का प्रमाण है।

परमात्मा के सम्बन्ध में वह कहता है कि वह जगत् का रचयिता है, और कारण तथा कार्य के विचार से उसकी सत्ता जानी जाती है। मुख्य और गौण गुणों का विचार करते हुये वह कहता है कि मुख्य गुण ही किसी प्राकृतिक पदार्थ की सत्तारूप हो सकते हैं और गौण गुण आत्मा में मुख्य गुणों के कारण उत्पन्न हुआ करते हैं। जैसे फूल का विस्तार (मुख्य गुण) फूल में है परन्तु गन्ध और रंग (गौण गुण) जीव में उत्पन्न होते हैं। वह कहता है कि जीव अपने शुद्ध स्वरूप में प्राकृतिक है अथवा अप्राकृतिक यह हम नहीं कह सकते।

बरक्ले (Berkeley) (१६८५—१७५२)

बरक्ले आत्मा और परमात्मा की सत्ता में विश्वास करता है, परन्तु उसे प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत नहीं है। वह कहता है

कि जीवात्मा एक अमिश्रित पदार्थ है इसलिये उसका विच्छेद नहीं हो सकता। यह आवश्यक नहीं कि उसका सदैव शरीर से सम्बन्ध रहे। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बाक़ी रहता है। वह अमर है।

परमात्मा को वह निमित्त कारण और सम्पूर्ण ज्ञान को उसके कार्य्यों का परिणाम बतलाते हुये उसे नित्य और सर्वव्यापक ठहराता है। वह कहता है कि गौण गुण की भांति मुख्य गुण भी जीवात्मा ही में है। वह जीव की अल्पज्ञता और उसके बहुसंख्य होने में विश्वास करता है।

ह्यूम (Hume) (१७११-१७७६)

ह्यूम का मत है कि मनुष्य का आत्मा अपनी अवस्थाओं से भिन्न किसी वस्तु को नहीं जान सकता। वह कहता है कि जिस प्रकार बाह्य जगत् का सारा ज्ञान गुणों का ज्ञान है, उसी प्रकार आन्तरीय जगत्-सम्बन्धी हमारा समस्त ज्ञान अवस्थाओं का ज्ञान है। उसकी सम्मति में द्रव्य अथवा शास्त्र की कोई सत्ता नहीं, सारा जगत् अवस्थाओं ही का समूह है। इस प्रकार ह्यूम शून्य अथवा द्रव्याभाववादी था। वह कहता है, जिस प्रकार प्रकृतिने हमें कर्म्मेन्द्रियों का व्यवहार सिखलाया उसी प्रकार प्रकृतिने हमारी आत्मा में एक सहज बुद्धि उत्पन्न की है, जिसके द्वारा हम आगे जा सकते हैं, और पिछले ज्ञान की सहायता से भविष्यत् निर्माण कर सकते हैं। ह्यूम की शिक्षा में जीवकी स्वतन्त्र सत्ता का कोई विधान नहीं। अब उसके अनुयायी जीवको ज्ञान धारावत् समझते हैं।

काण्ट (Kant)१७२४—१८०४ काण्ट की रचनाओं ने विचार और वितर्ककाल को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया था। काण्ट की समीक्षा तीन भागों में विभक्त हैं:—

(१) शुद्ध बुद्धिकी समीक्षा।

(२) व्यावहारिकी बुद्धि।

(३) नियामक बुद्धि।

शुद्धि बुद्धि की समीक्षा के आधार पर कांट कहता है कि ज्ञानकांड का एक भाग बाहर से आता है दूसरा भीतर से। बाहर (प्रकृति) से मिला ज्ञान द्रव्य कहलाता है, उस द्रव्य को आकृति जीवात्मा देता है, इन्हीं द्रव्य और आकृति के मिलने से ज्ञान उत्पन्न होता है। वैज्ञानिक परिभापाओं में कांट ज्ञान का विवेचन इस प्रकार करता है कि ज्ञान संयोजक और नैसर्गिक वाक्य है। द्रव्य को आकृति जीव देता है, वह आकृति देश और काल है। देश और काल उस ऐनक के दो शीशे हैं जिनके द्वारा जीव प्रत्येक अनुभव को देखता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस देश और काल की ऐनक से अनुभव के रूप में क्या परिवर्तन हो जाता है। समस्त अनुभव ज्ञान, देश और काल से प्रतिबद्ध है। जिस प्रकार बाहर की सामग्री (प्रकृति) को देश और काल की आकृति देने से अनुभव बना था, उसी प्रकार मन उन अनुभवों से सम्बन्ध जोड़कर "ज्ञान" बनता है। उपर्युक्त आकृतियों को कांट "ज्ञाननियम" कहता है, और इस प्रकार आकृति देकर सम्बन्ध स्थापित करके ज्ञानका निर्माण करने के द्वारा आत्मा दृश्य जगत् में अपने नियमों की स्थापना करके उसे निर्माण करता है। इन्हीं नियमों का विस्तार करते हुये कांट कहता है कि मनुष्य विवश है

कि प्रकृति जीव और परमात्मा में विश्वास करे परन्तु पदार्थ बुद्धि के विषय नहीं हैं, इसलिये इन्हें बुद्धि द्वारा * जान नहीं सकते। व्यावहारिकी बुद्धि की परिक्षा करते हुए वह कहता है कि सत् पदार्थों की जानकारी के लिये हमें कृति (इच्छा) की शरण लेनी चाहिये। कांट का यह मुख्य सिद्धांत है कि आत्मिक शक्तियों में बुद्धि नहीं, किन्तु कृति प्रधान है, और यही अन्य समस्त शक्तियों का आधार हैं। कृति की समीक्षा करते हुए वह कहता है कि "निस्सन्देह आत्मा और परमात्मा नित्य हैं" कृति से, वह कहता है कि बुद्धि से उत्पन्न हुये सन्देहों का नाश होता है। और कृति ही से आचार और धर्म की रक्षा होती है, आचार सम्बन्धी नियमों का विवेचन करते हुए जो परिणाम उसने निकाला है वह यह है और यही कांट का वास्तविक सिद्धान्त है।

१. जीवात्मा नित्य है, स्वतंत्र है और अमर है।

२. परमात्मा की सत्ता है, वह नित्य है, जगत् का रचयिता है, और कर्मफलदाता है।

कांट अनंत भावी जीवनों का विधायक था, उसका विचार था कि पर्याप्त समय उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मनुष्यों को मिल सके जिनकी पूर्ति अत्यन्त कठिनता से होती है।

सर आइज़िक न्यूटन

इङ्गलैंड के सब से बड़े विचारक ने अनेक खोजों और अन्वेषणाओं के बाद १६८७ ई० में अपनी

---

* काण्टने शुद्ध बुद्धि की परिक्षा परिणाम से प्रकृति, जीव और परमात्मा की सत्ता में सन्देह नहीं किया है किन्तु बुद्धि के सामर्थ्य की सीमा प्रकट की है।

प्रसिद्ध पुस्तक "प्रिन्सिपिया") Principia) लिखा था, जिस में समस्त ग्रहों और नक्षत्रों में आकर्षण शक्ति होने का निरूपण किया गया है। उसी पुस्तक के एक परिशिष्ट में उसने अपना विश्वास प्रकट किया है कि यह समस्त प्राकृतिक जगत् जिसका उसने स्वाध्याय करके अनेक नियम खोजे हैं, उस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् प्रभु का रचा हुआ है।

छठा अध्याय

—○※○—

योरुप की १९वीं शताब्दी

पहला परिच्छेद

दार्शनिक

योरुप की १९ वीं शताब्दी, अद्वैतवाद से प्रारम्भ होती है, उसका विवरण इस प्रकार है:—

फीचटे (Fichte) (१७६२—१८१४) जीवात्मा जगत् को बनाता ही नहीं किन्तु उसका उत्पादक भी है आत्मा के सिवा और कोई सत्ता नहीं।

आत्मा का तत्त्व कृति है यही समग्र अस्तित्व है। आत्मा का स्वभाव है कि अपने ज्ञान में अनात्मा को उत्पन्न करके उसे अपने से पृथक् समझे। यह पृथक् समझना भ्रम है, वास्तव में पृथक् और कुछ नहीं।

परमात्मा को पृथक् समझना ही भूल है। परमात्मा आचार नियम से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। वह पुरुष जो कर्म करते हुए कर्तव्य का ध्यान रखता है आस्तिक है, कर्तव्य की उपेक्षा करके सुख चाहना नास्तिकता है। उसकी सम्मति में मनुष्य रचयिता का रहस्यपूर्ण संगठन है।

शैलिग (Schelling) १७७८—१८५४

शैलिंग का मत है कि सत्य पदार्थ न आत्मा है न अनात्मा (प्रकृति) प्रत्युत् एक और वस्तु है जिसे निरपेक्ष कहते हैं, यही आत्मा और अनात्मा दोनों का स्रोत है। वह कहता है कि प्रत्येक विचार में प्रतिज्ञा प्रति प्रतिज्ञा और संयोग तीन अंग होते हैं। इसी के अनुसार विचार के केन्द्र दृश्य जगत् में प्रथम स्थूलपन होता है दूसरी श्रेणी में कृति का प्रकाश होकर अहंकार उत्पन्न होता है। तीसरी श्रेणी में जीवन का प्रकाश होता है। परन्तु ये तीनों प्रकृति में विद्यमान हैं और सारा जगत् जीवित है, अन्यथा जीवन की उत्पत्ति न होती।

ज्ञान से कृति का पद ऊँचा है परन्तु ब्रह्म के साक्षात्कार का हेतु सौन्दर्य विवेचन शक्ति है। यह शक्ति ज्ञान और कृति के द्वैत का नाश कर देती है। सौन्दर्य विवेक और धर्म एक ही वस्तु हैं। तर्क से हम परमात्मा को चिंतन करते हैं, और सौन्दर्य विवेक से दर्शन। परन्तु फिर उसका दूसरा मत इस प्रकार है कि परमात्मा एक पुरुष था उसने चेष्टा की। इस चेष्टा के समय वह चेतन न था, वह कहता है कि संसार में जो दुख और पाप है वह ब्रह्म की, पुरुष बनने से, पहली अवस्था है। यह कुछ बनने की चेष्टा है। परमात्मा में यह नियम उसके प्रेम में डूबा रहता है। मनुष्य में स्वतन्त्र होकर पाप का कारण बनता है।

हेगल (Hegal) १७७०—१८३१

हेगल कहता है कि "निरपेक्ष" हमारे ज्ञान का विषय है। क्रिया और जीवन निरपेक्ष ही है उसी को द्रष्टा भी कहते हैं। जीवन

बुद्धि का प्रकाश है। वाह्य जगत् में बुद्धि अचेतन है परन्तु हमारी आत्मा में चेतन। जगत् के सारे पदार्थ इसी एक निरपेक्ष के प्रकाश हैं। एक प्रकाश विकास की एक अवस्था का है दूसरा दूसरी का। उत्तम प्रकाश के साथ निकृष्ट भी विद्यमान रहता है। अजीवित प्राकृतिक जगत् वनस्पति के उत्पत्ति के पीछे नाश नहीं हो जाता, न वनस्पति पशुओं की उत्पत्ति के बाद और न पशु मनुष्यों की उत्पत्ति के बाद नष्ट हो जाते हैं किन्तु बाकी ही रहते हैं।

जीवात्मा के सम्बन्ध में उसका मत है कि जितने जीव जगत् में हैं वे सब "निरपेक्ष" प्रत्यय के नाना रूप हैं, जलतरंग जिस प्रकार समुद्र से पृथक् नहीं इसी प्रकार जीव भी निरपेक्ष से भिन्न नहीं किंतु उसी के बहुरूप और आकार हैं वास्तविक सत्ता इस निरपेक्ष ही की है।

हीने (Heine) के साथ हुये शास्त्रार्थ में हेगल ने एक आक्षेप का उत्तर देते हुये कहा था "उस सीमा से बाहर जिसमें मिटने, नाश होने, मरने आदि के विचार सम्मिलित हैं, जीव उठाया जाता है स्पष्ट निश्चय की भांति से नहीं।"

शोपनहार (Schopenhauer)
१७७०—१८३१ *

मनुष्य का जीवन इच्छा का प्रकाश है। इच्छा त्रुटियों के दूर करने के लिये, करते हैं, त्रुटि दुःखों का मूल है। जीवन और जगत् दोनों दुःखमय हैं, विषय की तृप्ति से अपने को शान्त करने की इच्छा, घृत से अग्नि के बुझाने

* Erdmann's History. of philosophy. English translation Vol. III p. 28.

की इच्छा के सदृश है। निर्वाण जीवन का आदेश है। जीवनोद्देश्य, जीवन का विस्तार करना नहीं, अपितु जीवन का बन्धनों से मुक्त करना है। परन्तु आत्महत्या से उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। आत्महत्या पाप है। शोपनहार हिन्दू त्यागवादियों के जीवन को आदर्शजीवन मानता है। वह जगत् की रचना के सम्बन्ध में कहता है कि सृष्टि का उत्पादक नियम चेतन द्रष्टा से भी गहरा है। वह नियम इच्छा ही है। प्रकृति का आकर्षण, मनुष्यों की इच्छायें, इसी के प्रकाश हैं। यही इच्छा जड़ जगत में यान्त्रिक शक्ति के रूप में काम करती है, जीवित अचेतन जगत् में आंगिक आवेगशीलता और चेतन जगत् में आत्मिकोद्देश्य के रूप में प्रकाशित होती है। यह इच्छा को ज्ञान से भी ऊंचा दरजा देता है और कहता है कि जब हम सत्य का साक्षात् दर्शन करते हैं तो प्रकट हो जाता है कि उसका तत्त्वज्ञान नहीं किन्तु इच्छा ही है।

पशुओं में ज्ञान सदैव इच्छा ही के आधीन रहता है परंतु मनुष्य अपने ज्ञान को इच्छा से मुक्त भी कर सकता है यही उसकी विलक्षणता है। अर्थात् वह ऐसी कल्पनाओं का भी निर्माण कर सकता है जो उसके शरीर बुद्धि आदि के लिए आवश्यक नहीं जैसे चित्रकारी आदि।

शोपनहार उपनिषदों को उच्च और आदर्श की दृष्टि से देखता था वह कहता है कि "संसार में कोई पाठ इतना लाभदायक और उच्च बनाने वाला नहीं जितना उपनिषदों का है। उपनिषदों से मुझे जीवन में शान्ति मिली है, और मृत्युसमय भी यह मेरे लिये शान्ति का स्रोत होगी"।

रुडोल्फ हर्मान लोज़ (Loze)
१८०६-१८८०

लोज़ के जीव सम्बन्धी विचार लाइ पनिट्स के विचार से मिलते जुलते हैं, लोज़ जीव की स्वतन्त्र सत्ता और उसकी अमरता का पोषक था। उसका विचार था कि चेतना का कार्य जड़शक्तियों से साधित नहीं हो सकता, इसलिये जीव का मानना अनिवार्य है। लोज़ के सम्बन्ध में यह भी कहा* जाता है कि यद्यपि वह जीव को अमर बतलाता था, परन्तु यह अमरता सब जीवों के लिए नहीं थी केवल ऐसे जीवों को वह अमर होने का अधिकारी समझता था जो स्वयं अपनी उच्चमूल्यता का अनुभव करने लगें, और उसका मत था कि इसी अनुभव द्वारा जीव अमर हो सकते और होते हैं।

रौइस
Prof. Royce of Harvard

रौइस के जीव सम्बन्धी विचार लोज़ से मिलते जुलते हैं। उसने अपने विचार स्वरचित पुस्तक 'अमरत्व विचार' † में इस प्रकार प्रकट किए हैं:—

(१) ब्रह्माण्ड ज्ञानशक्ति सम्पन्न है। जीवन में ईश्वरीय इच्छा अनुपम रीति से प्रकट की गई है।

(२) स्वतन्त्र जीवन की प्रत्येक आभा भी कुल के अनुपम

---

* Erdmann's History of Philosophy Vol. III p. 309,

† Conception of immortality by Prof. Royce p. 78—80.

होनेसे अनुपम होनी चाहिये और वह कुछ इस प्रकार की होनी चाहिये, जिससे अहंकार प्रकट हो।

(३) प्रचलित जीवन में यद्यपि हम लगातार अपनी सत्ता के प्रकट करने के लिये यत्नवान् होते हैं तथापि ज्ञान प्राप्ति के साधन जो हमारे अधिकार में हैं उनसे न तो वास्तविक अभिमानी जीव जाना जाता है और न प्रकट किया जाता है।

(४) तो भी हमारा जीवन दिव्यजीवन के साथ एकत्व रखने के कारण अन्त में वास्तविक वैयक्तिक जीवन होगा।

(५) इसलिये हम अपने लिये जैसा कि हम अपने आन्तरिक प्रयत्न का अनुभव करके एक दूसरे से प्रकट करते हैं, एक वास्तविक और बहुविध व्यक्तित्व के चिह्न हैं जो हम पर अभी प्रकट नहीं हुये हैं और न इस तथा आगामी जीवनों में जो जीवन और मृत्यु के मध्य में प्राप्त होंगे, जब तक हमारे अधिकार ज्ञानोपार्जन करने के प्रचलित साधनों तक परिमित रहेंगे, प्रकट हो सकते हैं।

(६) अन्त में बहुविध वास्तविक व्यक्तित्व, इस समय जिस की सत्ता को (कथन मात्र से) प्रकाशित कर सकते हैं, ऐसे जीवनों में जिन्हें वाह्य शून्यवाद स्वीकार कर सकता है प्रकट होगा, उसी समय हम अन्तिम सत्य और ईश्वर से हमारा क्या सम्बन्ध इन दोनों विषयों का अनुभव कर सकेंगे। इन विषयों का बोध इस समय, हमें उसी प्रकार नहीं होता है जिस प्रकार अन्धे दर्पण में कोई वस्तु नहीं दिखाई देती।

गुस्टाव थियोडोर फेकनर
Lechner (१८०१—८८७)

फ़ेकनर के ज़ीव और ईश्वर सन्वन्धी विचार ये हैं:—जिस प्रकार जीवात्मा शरीर के व्यापारों और अवस्थाओं को संचित् की एकता में इकट्ठा कर रहा है उसी प्रकार परमात्मा समस्त सत्ता और भावों का एक्य है। समस्त प्रकृति ईश्वर का शरीर है। नक्षत्र वृक्ष आदि सव सात्मक और सजीव हैं। मृत और निर्जीव से जीव नहीं पैदा हो सकता, इस लिए यदि पृथ्वी निर्जीव होती तो उस से जीव किस प्रकार पैदा हो सकते। मनुष्य की आत्मा मध्य में है उस से नीचे की श्रेणी में वृक्षादि की आत्मा है, और ऊपर ग्रह नक्षत्र आदि की आत्मा है। इन सब आत्माओं का एक्य चित्स्वरूप परमात्मा में होता है। वैज्ञानिकों के अनुसार चित्त के अतिरिक्त सव कुछ अन्धकारमय है पर यह बात सर्वथा असंगत है क्योंकि रूप, रस शब्द आदि जीव जगत चितिशक्तिनिष्ठ आभासमात्र नहीं हैं। ये पारमार्थिक ईश्वरीय ज्ञान के अवयव हैं।

आत्मा और शरीर अयुतसिद्ध अर्थात् नित्य परस्पर युक्त हैं न निरात्मक शरीर हो सकता है न निःशरीर आत्मा ही। विलियम जेम्स* ने फेकनर के विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं। "फेकनर कहता है कि हम सब पृथ्वी के व्यक्ति पृथ्वी जीव की इन्द्रियां हैं। हम उसके विषयग्रहणसमर्थ जीवन को उस समय तक बढ़ाते रहते हैं जब तक कि हमारा जीवन समाप्त नहीं हो जाता। वह (पृथ्वी का जीव) हमारे विचारों को ठीक उसी समय जब वे उत्पन्न होते हैं ग्रहण करके उन्हें अपने विशाल विद्यामण्डल

* A Pluralistc Universe by W. James.

में ले लेता है और लेकर उन्हें स्वीकृत तत्त्वों में सम्मिलित कर देता है। जब हम में से कोई मरता है तो यह मरना पृथ्वी की एक आंख फूट जाने के सदृश है क्योंकि जितने विचार मरनेवाले के द्वारा और प्राप्त नहीं हो सकते परन्तु मरने वाले से सम्बन्धित स्मृति और विचार महान पार्थिव जीवन में सदैव विविक्त रहते हैं और जिस प्रकार जीवित पुरुष के विचार स्मृति में एकत्र होकर नये सम्बन्ध और विचार उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार वे भी उत्पन्न होते रहते हैं। जीव अमरत्व के सम्बन्ध में फेक्नर के यही विचार हैं"।

एडवर्ड वनहार्ट मान

जर्मनी का अन्तिम दार्शनिक जो १९वीं शताब्दी के अन्त में हुआ, दुःखवादी था। इसके दार्शनिक विचार लोज़ और फेक्नर से मिलते जुलते हैं, इसको ईश्वर और जीव की सत्ता स्वीकृत है। वह कहता कि मूर्त-द्रव्य अणुशक्तियों की परम्परा रूप हैं। शरीर की स्थिति स्वाभाविक और अचेतन है। सभी अवयवों के कुछ उद्देश्य हैं जिनका स्पष्ट ज्ञान अंगों का नहीं है, सुखदुःख का मूल ज्ञान नहीं है ? अज्ञानपूर्वक ही इनका भी उद्भव है यहां तक कि किस नाड़ी से और मस्तिष्क के किस अंश के उत्तेजन से क्या व्यापार होता है और कैसी चितवृत्ति होती है, यह मनुष्य स्वयं नहीं जानता। स्वभावतः ये व्यापार होते हैं पर स्वभाव अचेतन है। चेतनाशक्ति का कार्य केवल निषेध, परीक्षा, नियम, परिमाण, तुलन, योजन, वर्गीकरण, अनुमान आदि हैं। वह अन्त में कहता है कि शुद्ध और दुःखी संसारी जीव को ईश्वर के अभिमुख होकर मुक्ति का यत्न करने ही में वास्तविक शान्ति और सुख है

न कि संसार का बखेड़ा बढ़ाने में। तथापि जब तक ऐसी अवस्था नहीं आती तब तक दुख के भय से कर्म नहीं छोड़ना चाहिये।

विलियम जेम्स william James

मनोविज्ञान का प्रसिद्ध विद्वान्। अनेक पुस्तकों में इसके अनेक विचार मिलते हैं जिनका अति सूक्ष्म विवरण इस प्रकार है। यह जीव के अमरत्व में विश्वास रखता था कभी इस विषय को मुख्य समझता था कभी गौण। "प्रत्येक मनुष्य से पृथक् परन्तु विशेष रूप में निरन्तर उसके साथ ही, एक उससे अधिक बड़ी शक्ति रहती है जो उससे और उसके आदर्शों सहानुभूति रखती है"। *

"जेम्स सत्ता की एक और नाप" में विश्वास रखता है और बार २ अपनी पुस्तक में उसका कथन करता है। वह कहता है "चेतना का विलक्षण विस्तार, बेसुध करनेवाली क्लोरोफ़ार्म की तरह की एक वस्तु विशेष (Anaesthesia) के प्रयोग से होता है"।

एक दूसरी पुस्तक † में मनुष्य के जीवन पर विचार करते हुए वह कहता है कि आत्मिक जीवन सर्वथा मस्तिष्क के आधीन नहीं है, और यह कि "समस्त प्राकृतिक आनुभविक जगत् समय का अप्रकट रूप है और वही अपरिमित विचार को जो मुख्यतया सत्य हैं, असंख्य अंशों में विभक्त करके परिमित चेतना का

---

* Varieties of Religious Exqeriences by. W. James.

† James' Book on Human Immortality.

प्रवाह बहा देता है, उन्हीं को हम अपना २ जीव कहते हैं" जेम्स अपने इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रसिद्ध कवि शेली (Shelly) का एक पद्य उद्धृत करता है जिसका भाव यह है "जीवन अनेक रंगीन शीशों के शिखरवत् है और नित्यता की श्वेत ज्योति को मलिन करता है" * वह फिर आगे कहता है कि "जब अन्त में मस्तिष्क का काम सर्वथा बन्द हो जाता है अथवा (मनुष्य) मर जाता है, तब वह "परिमित चेतना प्रवाह" आज्ञानुवर्ती होकर इस प्राकृतिक जगत् से सर्वथा चला जाता है। परन्तु वह मुख्य सत्ता, जिसने चेतना प्रदान की थी, चेतना प्रवाह के प्राकृतिक जगत् में रहने पर भी (दूसरे) अधिक वास्तविकता रखनेवाले जगत् में निर्दोष बाकी रहता है वह अब भी है और आगे भी रहेगा अवश्य हम उसके बाकी रहने के ढंगों से अनभिज्ञ रहते हैं"।

अपनी एक और पुस्तक† में वह अपना झुकाव, किसी प्रकार के एक अपौरुष जीवन में विश्वास रखने की ओर प्रकट करता हुआ कहता है कि उससे हम वास्तविक जानकारी न रखते हुये भी अभिज्ञ हो सकते हैं, इसी विचार को वह एक उदाहरण देकर स्पष्ट करता है "जिस प्रकार कुत्ते और बिल्ली हमारे पुस्तकालयों में रहते हुये पुस्तक को देखते और हमारी बातचीत सुनते

---

* शेली के शब्द यह हैं:—

"Life like a dome of many coloured glass
Stains the white radiance of eternity."

† A Pluralistic Universe by W. James p. 309.

हुये भी उनसे अनभिज्ञ रहते हैं इसी प्रकार हम संसार में हैं।"

आलिवर वेंडेल होम्स
Oliver Wendell Holms

होम्स ने अपनी पुस्तक "विचार और आचार में यंत्रव्यापार"* नामक में अपने एक विलक्षण अनुभव और परीक्षण का उल्लेख किया है:—"एक बार मैंने 'ईथर' की पूरी मात्रा श्वास द्वारा इस विचार के साथ ऊपर चढ़ाली कि चेतना के लौटने के साथ ही जो विचार मस्तिष्क में हों उन्हें लेखबद्ध किया जावे। मेरा मस्तिष्क विजयोत्सव से सम्बन्धित वीरतापूर्ण सुरीले गान से गुञ्जायमान हो गया। अनन्तत्व का परदा उठ गया था... इसलिये सब भेद खुल गया। (गान के) कुछ शब्दों ने मेरी बुद्धि को ऊंचा करके दिव्य जीवों की बुद्धि के सदृश्य कर दिया। फिर, मैं अपनी असली हालत में आ गया। मुझे वे विचार याद थे जो उस बीच में उठे थे अतः शीघ्रता से डेस्क के पास जाकर उन्हें लिख लिया, वे शब्द अब तक मेरे हृदय में प्रकाशित हो रहे हैं, और वे ये थे:—"बच्चे हँस सकते हैं, बुद्धिमान् चिन्तन करेंगे"।† उस समय मेरा मस्तिष्क तारपीन की तीव्रगन्ध से भरा हुआ सा था।

ई० एस० पी० हेनस
E. S. P. Hayness

"जीव के अमरत्व सम्बन्धी विश्वास" नामक पुस्तक में "जीवन" पर विचार करते हुये लिखता है "प्राणियों के जीवन साधारण

---

* Mechanism in thought and morals by O. W. Holms.

† अंगरेजी के शब्द यह हैं:—"Children may smile; the wise will ponder."

अग्नि के सदृश हैं, एक पात्र सहित जिसमें कुछ कोयले हैं। उपमा के विवरण में जाकर हम "जीवन" को गर्मी और "चेतना" को ज्वाला कहते हैं। जब अग्नि का प्रज्वलित होना प्रारम्भ होता है तो हम उसकी गर्मी और ज्वाला दोनों का बहुत थोड़ा विचार करते हैं, अग्नि की इस अवस्था को हम बालकपन के अनुकूल पाते हैं, अब अग्नि के तीव्र होने पर हम ज्वाला देखते हैं जिसका तात्पर्य्य यह है कि वायु कोयले में इतनी गर्म हो गई है कि अग्नि को पकड़ने लगती है। कतिपय विरोधी हेतुओं और घटनाओं से कोयले एकत्र होकर दब गये, अग्नि बुझ गई और ज्वालायें भी समाप्त हो गईं, इस अवस्था को हम अकालमृत्यु कहते हैं, परन्तु इस प्रकार की दुर्घटनाओं को छोड़कर साधारण अवस्था में अग्नि उस समय तक प्रज्वलित रहेगी जब तक कोयले बाक़ी रहेंगे। जब कोयले समाप्त होंगे तो ज्वालायें भी समाप्त हो जायँगी और अग्नि भी। हां कुछ गरम राख अवश्य बाक़ी रहेगी और वह भी थोड़ी देर में ठंडी हो जायगी, इस उपमा में कोयला, वायु और गर्मी मात्र, ज्वालाओं के हेतु हों, यह आवश्यक नहीं, सम्भव है कि किसी और स्थान पर ज्वालाओं के प्रकट होने के हेतु कुछ और भी हों, परन्तु उसके जानने के साधन हमारे पास नहीं हैं, यह घटना कि ज्वाला कोयले और गर्मी के मेल ही से रह सकती है आनुषंगिक परिवर्तन (Concomitant on Variatrous) का रूप है। *

---

* The Belief in Personal Immortality by. E. S. P, Haryness p. 60 and 51.

डाक्टर टेगार्ट
Dr. M. C. Taggart

केम्ब्रिज का दार्शनिक, आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करता है। उसने अमरत्व के विरोधियों को उत्तर देने के लिये एक पुस्तक लिखी है। पुस्तक में आत्मा और शरीर पर विचार करते हुये लिखा है कि "यदि एक आदमी एक मकान में बन्द कर दिया जावे तो खिड़की के शीशों की पारदर्शिता, आवश्यक अवस्था उसके आकाश प्रदर्शन की होगी, परन्तु इससे यदि कोई यह परिणाम निकाले कि यदि वह मकान के बाहर होता तो आकाश न दिखाई देता क्योंकि देखने के लिये खिड़कियों के शीशे नहीं, हैं यह बुद्धिमत्ता का परिणाम न होगा" * इस पुस्तक में जीव के अनादित्व का भी समर्थन करने के लिये एक अध्याय रक्खा गया है, जिसमें उसने जीव के अनेक जन्म होने की बात कहते हुये स्वीकार किया है कि पूर्व जन्मों की स्मृति आवश्यक नहीं। अनेक जन्मों के सम्बन्ध में पुस्तक रचयिता के शब्दों से जो भाव निकलता है, इस प्रकार है :—परिवर्तन, † प्रयास और मृत्यु की प्रत्यावृत्ति सीमारहित है, अथवा यह हो कि यह क्रम स्वयं नष्ट होकर उस पूर्णता में मिल जावे जो समय और परिवर्तन दोनों को अतिक्रम करता है। इस प्रकार का अन्त सम्भव है कि आ जाये परन्तु किसी अवस्था में भी वह समीप नहीं हो सकता"।

* Some Dogmas of Religioe by Dr. M. C. Taggart p. 105.

† Do " " p. 138.

जी लोइस डिकिंसन
G. Lowes Dickinson

डिकिंसन ने एक पुस्तक "धर्म और ※ अमरता" नाम का लिखकर जीव की अमरता का समर्थन किया है। वह कहता है कि यह कहना, कि हम मृत्यु के बाद बाक़ी नहीं रहते, स्वमताभिमानमात्र है और साथ ही यह कहना कि मरने के बाद हम बाक़ी रहते हैं या नहीं, इस का जानना असम्भव है, और जानने का दावा करना दुराग्रह अथवा मूर्खता है" पुस्तक में बतलाया गया है कि कोई व्यक्ति इस एक जन्म में अपने आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता और न अपनी सक्यता का अनुभव कर सकता है इसलिए जीव का अमरत्वविधान अनिवार्य है।

पादरी मेकाइल मेहर
Father Michael Mehar

ने मनोविज्ञान पर एक पुस्तक लिखी है। पुस्तक के आरम्भ में एक अध्याय जीव के अमरत्व विषय के लिये भी अर्पण किया है। इस अध्याय में उन्होंने "लुकरेटियस" (Luckretius) और उसके शिष्यों पर यह अपवाद लगाया है कि मृत्यु के बाद प्राणी की क्या अवस्था होगी, इस चिन्ता से बचने के लिए उन्होंने मृत्यु के बाद फलाफल प्राप्ति की प्रत्येक पद्धति से अपने को पृथक रक्खा है। पादरी साहब का कथन है कि इस प्रकार की किसी पद्धति के न स्वीकार करने का फल यह होगा कि मनुष्यों में सदाचार का विचार व्यर्थ सा हो जायगा। इस कथन के बाद पुस्तक में जीव की स्वतन्त्र सत्ता, उसमें सादगी

※ Religion and Immortality by G. L. Dickinson.

और आत्मतत्त्व का होना, प्रमाणित करते हुए, बलपूर्वक उसकी पृथक्ता प्रमाणित की गई है। अध्याय के अन्त में पादरी साहिब ने यह भी कह डाला है कि जीव को ईश्वर ने उत्पन्न किया है और वही उसे नष्ट भी कर सकता है। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर यह भी बतलाया गया है कि पशुओं का जीवन प्राकृतिक शरीर से भिन्न नहीं है अपितु शरीर पर ही निर्भर है और शरीर के नाश होने के साथ ही उसका भी नाश हो जावेगा ❀

बरट्रैण्ड रसल
Bertrand Russel

इसने "दर्शनोद्देश्य" नामक पुस्तक में लिखा है कि यह प्रश्न कि हम "आत्मसत्ता" से जो विचार और अनुभवों से पृथक् है, अभिज्ञ है, बड़ा कठिन है और निश्चित रीति से इस विषय में कुछ कहना बुद्धिमत्ता न होगी। जब हम आत्मतत्व को जानने के लिए यत्नवान् होते हैं तो सदैव हमारे मस्तिष्क में कोई न कोई विचार उठते अथवा किसी न किसी अनुभव की स्मृति जागृति हो जाती है परन्तु जिसे हम "मैं" कहते हैं उसका कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता जिसके द्वारा विचार अथवा अनुभव होते हैं। सम्भवतः आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है परन्तु निश्चित रीति से इस विषय में कुछ कहना उचित नहीं है †

❀ Psyehology by Michael Mehor p. 500

† Probiems af Philosophy by B. Russeii p. 78 and 80

दूसरा परिच्छेद

यूरोपकी १९वीं शताब्दीका विज्ञान (साइंस) और आत्मासम्बन्धी विचार।

डब्ल्यु के० क्लीफोर्ड W. K. Clifford

इसका मत है कि चेतना और उसके द्वारा जो परिवर्तन मस्तिष्क में होते रहते हैं, उनके नियम नियत और परिमित हैं और उनके अनुकुल परिणाम अवश्यम्भावी हैं। चेतना एक मिश्रित वस्तु अणुओं के संयोग से बनी है जिसको हम "बोधस्रोत" कहते हैं, मस्तिष्क भी एक मिश्रित वस्तु है और वह भी अणुओं के संयोग का परिणाम है जिसको हम "सन्देशतन्तुस्रोत" कहते हैं। व्यक्तिगतबोध सदैव व्यक्तिगत सन्देशतन्तु के साथ रहता है, अथवा यों कहिये "सदेशतन्तुस्रोत" के साथ रहता है। यदि सन्देशतन्तु स्रोत सूख जावे तो क्या इसका यह फल न होगा कि बोधस्रोत भी सूखजावे ? और इस प्रकार सूख जाने पर फिर बोध स्रोत चेतना को प्रकट न कर सकेगा *।

प्रोफेसर मस्टरबर्ग Professor Musterberg

"मानसिक कार्य मस्तिष्क के कार्यों पर निर्भर है" इस वाद की स्थापना के लिये मस्टरबर्ग लिखता है

* Prof cliffod's lectures and Essays vol. I p. 247-249.

यदि बहु रक्त प्रवाह से मस्तक के अवयव निकम्मे हो जावें तो उसका परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति अन्धा या बहरा हो जाता है। इसी प्रकार से मस्तिष्क के निकम्मे हो जाने से वह बुद्धि भ्रष्ट (पागल) हो जाता है यदि शिर पर भारी चोट लग जावे जिससे मनुष्य बेसुध हो जावे तो उसका जीवन ही समाप्त हो जाता है रसायनिक तत्वों से मस्तिष्क को प्रभावित कर देने से हमारी वृत्ति और भाव दोनों बदल जाते हैं। मनुष्य के मन और बुद्धि का पूर्ण विकास मस्तिष्क की पूर्णता के साथ ही होता है। एक अज्ञानी पुरुष का मानसिक जीवन विकास रहित मस्तिष्क से संम्बन्धित होता है❀। एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि वे वैज्ञानिक जो मस्तिष्क के व्यापारवाद से जीव के अमरत्व सिद्ध होने की आशा में उन घटनाओं का अवलम्ब ढूंढ़ते हैं जो शरीरशास्त्र से निरूपित नहीं हो सकतीं उसी भूमि पर है जिस पर ऐसे ज्योतिर्विद् ठहरे हुए हैं जो अपने दूरदर्शक यन्त्रों से ब्रह्माण्ड में ऐसी जगह खोजना चाहते हैं जहाँ आकाश न हो। वही शून्य स्थान ईश्वर और शरीररहित अमर जीवों के लिए हो सकता है †

रोमेन्स [Romanes] अपने एक पुस्तक में‡ रोमेन्श ने लिखा है कि "एडीसन के लेम्पों में प्रकाश को, जो दीपक से निकल जाता है सामान्यतः कह सकते हैं कि एक

❀ Psychology & Physiology by Prof Musterberg p. 41.

† Do. p. 91

‡ Romanes. Mind Emotion & Monism p. 29 & 30

सेकिण्ड में कतिपय कम्पनों का जो कार्बन में उठते हैं अथवा उसके शीतोष्ण का परिमाण है क्योंकि कम्पनों का इतना मान कार्बन में नहीं हो सकता सिवाय इसके कि उसका शीतोष्ण मापक यन्त्र इतने दरजे का बनाया जावे जितने से हमारे नेत्रों तक प्रकाश पहुँचता है। इसी उदाहरण से मस्तिष्क अथवा मन की क्रियाओं से एक विचार माला उत्पन्न होती है। इच्छा को उदाहरण में आए प्रकाश की जगह समझना चाहिये जो मनद्वारा मस्तिष्क में उत्पन्न होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश शीतोष्ण द्वारा कार्बन से उत्पन्न होती है। और जिस प्रकार प्रकाश फोटोग्राफी के कार्य्यों का हेतु होता है उसी प्रकार इच्छा शारीरिक क्रियाओं का हेतु होती है। जिस प्रकार एक विशेष प्रकार की प्राकृतिक गति जो कार्बन में उत्पन्न होकर फोटोग्राफी का कारण बनती है उसी प्रकार एक विशेष प्रकार की प्राकृतिक गति जो शारीरिक क्रियाओं का हेतु होती है, बिना इच्छा के उत्पन्न नहीं हो सकती। इसका परिणाम यह है कि इच्छा यदि एक ओर मस्तिष्क में एक विशेष प्रकार की गति उत्पन्न करती है तो दूसरी ओर उसी गति के द्वारा शारीरिक क्रियाओं का भी हेतु होती है। रोमेन्स के मत में इच्छा ही प्रत्येक कार्य्य का मूल कारण है और इसी आधार पर उसका मत है कि "मनोवैज्ञानिक तत्व" ही प्रत्येक घटना का निर्णायक है। वह यह भी कहता है कि मन "गतिमान् प्रकृति" से भिन्न और कुछ नहीं है।

हर्बर्ट स्पेंसर
Herbert Spencer

प्रसिद्ध अज्ञेयवादी, आत्मा और परमात्मा यहां तक कि विज्ञान (साइन्स) के मूल कारण को भी मनुष्य के लिये

अज्ञेय बतलाता है। उसका कथन है कि रूप परिणामवाद जिस प्रकार प्राकृतिक शक्तियों में काम करता है उसी प्रकार मानसिक शक्तियों में भी। रूप परिणामवाद किस प्रकार व्यवहृत होता है और किस प्रकार स्थिति शक्तियां गति, ऊष्णता, अथवा प्रकाश चेतना का रूप धारण कर लेती हैं और किस प्रकार आकाशस्थ कम्पनों के लिए यह सम्भव है कि बोध उत्पन्न करें जिसे हम ध्वनि अथवा शब्द कहते हैं अथवा किस प्रकार रासायनिक परिवर्तनों से शक्तियां मस्तिष्क में प्रकट होकर भाव उत्पन्न करता है ये सब गुप्त रहस्य है जिनका पता लगाना असम्भव है, अवश्य प्राकृतिक शक्तियों के रूपान्तर परिणाम की अपेक्षा से यह गहन-भेद नहीं है * ।

जोजिफ मेकेब
J. Mecabe

मेकेब ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है † कि गतिशक्ति के आयुधागार मस्तिष्क की त्वचा में कम से कम ६०० मिलियन ‡ खरब (Billion) परमाणुओं के होने का अनुमान किया जाता है।

परमाणुओं से अणु अप्रकट विधि से बनते हैं और अणुओं से इसी प्रकार गुप्त विधि से कोष (घटक) बनते हैं। और इन कोषों से शरीर का ढांचा ऐसी अद्भुत रीति से बनता है कि यह निर्माण व्यवस्था हमको आश्चर्य के अथाह समुद्र में डाल देती है इस शरीर मन्दिर के निर्माण अर्थात् छोटे बड़े अवयवों

---

* First Principles (2nd Fdition) by H. Spencer p. 217

† Evolution of mind by J. Mecabe p. 15 &16

‡ एक मिलियन दस लाख का होता है।

के मिलाने के लिए एक तरल पदार्थ प्रयुक्त हुआ है, जिसके एक कण में एक सहस्र टन की योग्यता है, और उसमें उतनी गति शक्ति काम में आई है जो १० लाख घोड़ों की शक्ति रखने वाले बलगृह से ४० मिलियन * वर्षों में उत्पन्न हो सकती है। एक ओर तो यह महान रहस्य पूर्ण कार्य, और यह हृदयहारिणी शक्यता दूसरी ओर हम अभी तक यह भी नहीं जान सके हैं कि मस्तिष्क क्या कर सकता है और क्या नहीं। परन्तु "टिंडल" (Tyndall) बार २ कहा करता था कि "यह कहना कि हम मस्तिष्क से मन या चित्त का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, स्वमताभिमान मात्र है"।

अस्तु जब तक हम मस्तिष्क की रस क्रिया और ढांचे का कुछ अच्छा ज्ञान न प्राप्त कर लेवें हमको दोनों ओर के अभिमानपूर्ण मतों से पृथक् रहना चाहिए। सम्प्रति मस्तिष्क एक ऐसी तमःपूर्ण गुफा है कि उसमें व्यवच्छेदकों और शरीर विद्या के पण्डितों के दीपक, मस्तिष्क की गुप्त समस्याओं को सुलझाने की जगह और उलझन बढ़ा रहे हैं।

मस्तिष्क के लिये यह कहना कि वह क्या २ विशेष कार्य कर सकता है और क्या नहीं उस समय तक सर्वथा अयुक्त होगा, जब तक हम उसकी निर्माण व्यवस्था को इतना थोड़ा जानते रहेंगे जितना कि इस समय जानते हैं। हम मस्तिष्क और चित्त के कार्यों के अर्थवैपरीत्य का ही, उनको भिन्न २ समझकर, विवरण

* वैज्ञानिक संसार की गणित में अरब और खरब छोटेसे छोटे अंक समझे जाते हैं।

नहीं दे सकते हैं कि एक मानात्मक और दूसरा गुणात्मक है। यदि चित्त गुणात्मक ही हो तो भी गुणात्मक वस्तुओं के बहुत से कार्य अन्त में मानात्मक वस्तुओं का रूप ग्रहण करते हैं, अथवा कम से कम हल करने के लिये यह प्रश्न खुला हुआ है। ऐसी अवस्था में (न जानते हुए भी) उनकी भिन्नता का विवरण पौराणिक कल्पनाओं से बढ़ कर न होगा, जो प्रायः अप्रतिष्ठित होती हैं।

जान टिण्डल (John Tyndall) १८२० – १८६३ ई०

चेतना व्यापार पर विचार करते हुए टिण्डल का कथन* है कि वह स्रोत कोई अलौकिक सत्ता नहीं है, किन्तु एक अनैन्द्रियिक शक्ति है; अर्थात् टिण्डल के मतानुसार समस्त शक्ति जो वनस्पति अथवा प्राणि संसार में है उस सब का केन्द्र सूर्य्य है............मनुष्य अथवा पौदों में कोई उत्पादक शक्ति (जीव) नहीं है। समस्त शक्ति जो मनुष्य और पशुओं के अवयवों में पाई जाती या उनसे प्राप्त की जाती है अथवा वह शक्ति जो काष्ठ अथवा कोइले के जलाने से प्राप्त होती है, उसके उत्पन्न होने का वास्तविक साधन सूर्य्य ही है। कुछेक अंश तक सूर्य्य के ठण्डा होने का विवरण देते हुए टिण्डल सौर्य्य शक्ति का विवरण इस प्रकार देता है, कि प्रकाश और गर्मी की शक्ति अपने को इस रूप में प्रस्तुत करती है कि उस नवीन शक्ति को यान्त्रिक शक्ति से सर्वथा भिन्न वस्तु कहा

* Lectures & Essays by John Tyndall p. 94to 96

जा सकता है परन्तु ये दोनों शक्ति स्वतन्त्र हैं एक दूसरे से नहीं प्राप्त की जातीं। साधारण काष्ठ का "शीतोष्ण" जलती हुई अग्नि तक पहुंचाया जा सकता है। एक चतुर लुहार लोहे को पीट कर उसमें अग्नि की चमक पैदाकर देता है, इस प्रकार वह अपने स्थूल यन्त्र हथोड़े ही से प्रकाश और गर्मी दोनों पैदा कर-देता है। यह साधन यदि उन्नत अवस्था में पहुचाया जावे तो उस से सूर्य्य का प्रकाश और गर्मी उत्पन्न हो सकती है........ इस प्रकार जब प्रकाश और गर्मी जड़ प्रकृति के माध्यम से उत्पन्न हो सकते हैं, तो इस प्रकार उत्पन्न हुए प्रकाश और गर्मी से जीवन शक्ति भी उत्पन्न हो सकती है, जिसका आधार, मानना पड़ेगा, कि यान्त्रिक कार्य ही है......सूक्ष्म रासायनिक कार्य्य से सूर्य्य के द्वारा ही पौधों की उत्पत्ति होती है। मनुष्य और पशुओं के जीवनोत्पत्ति के लिये जो सूक्ष्म रासायनिक कार्य्य होते हैं वे कुछ गूढ हैं।

हम वनस्पति खाते हैं और आक्सिजन को श्वास द्वारा अपने भीतर भेजते हैं। हमारे शरीरों में आक्सिजन के प्रवेश से जिसे सूर्य्य ही ने कार्बन और हाइड्रोजन से पृथक किया था, वह गर्मी पैदा होती है जिसे "जीवनोष्णता" कहते हैं और जिससे प्राणियों के आकार विकसित होते हैं। आणविक शक्ति भिन्न २आकारों को बनाती है। यह शक्ति भी सूर्य्य ही से आती है कार्बन और अक्सि जन को पृथक करते हुये यह शक्ति कुछ इस प्रकार की होजाती है कि एक सूरत में गोभी का पौधा पैदा कर देती है, तो दूसरी में बांझ का पेड़। इसके विपरीत कार्बन और आक्सीजन के पुनः संघात की कार्य्य प्रणाली से वही शक्ति एक सूरत में मेढक का और

दूसरी में मनुष्य के शरीर का आकार बना देती है। पशु और मनुष्य शरीर के निर्माण में जो प्रकृति व्यय होती है वह जड़ है। इन शरीरों का कोई ऐसा अंश नहीं है जो प्रारम्भ में चट्टानों, जल और वायु से न लिया गया हो इन्हीं वस्तुओं में भिन्न २ परिवर्तन होकर शरीर के समस्त चेतन और अचेतन भाग बन जाते हैं। इस प्रकार उसके मत में जीवात्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परन्तु अन्त में उसे स्वीकार करना पड़ा कि इस बात को उदारता से स्वीकार कर लेना चाहिये कि इस समय तक रसायनवेत्ता कोई ऐसा परीक्षण नहीं कर सके हैं कि जिससे जीवन शक्ति की उत्पत्ति प्रमाणित होती हो।

थौमस हेनरी हक्सले
Thoms Henry Husly

हक्सले ने अपने जगत् प्रसिद्ध व्याख्यान "जीवन के प्राकृतिक आधार" में जो उसने १८८६ ई० में दिया था 'कललरस' की बनावट पर विचार करते हुए लिखा है कि समस्त प्रकार के कललरसों में, जो अब तक जांचे गए हैं, चार मूल तत्व कार्बन, हाईड्रोजन, अक्सिजन और नाइट्रोजन पाए जाते हैं उनका सम्मेलन अत्यन्त गूढ़ है। इसी कारण इस संयोग के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं हो सका है कि किस २ मात्रा में कौन वस्तु इसमें सम्मिलित है। इसी संयोग को "प्रोटीन" नाम भी दिया है। परन्तु ठीक रीति से हम नहीं जानते कि प्रोटीन किन २ वस्तुओं के संयोग से किस प्रकार बना है। कललरस यद्यपि वनस्पति और प्राणियों के शरीर दोनों में पाया जाता है, परन्तु दोनों में एक विलक्षण अन्तर देखा जाता है कि वनस्पति तो कललरस खनिज

वस्तुओं के मिश्रित रूपों से स्वयं बना लेती हैं, परन्तु प्राणियों में यह योग्यता नहीं है। वे कललरस के लिये वनस्पतियों पर निर्भर रहते हैं। दोनों में यह अन्तर क्यों है, यह भी अभी तक अज्ञात है। उसने फिर लिखा है कि उपर्युक्त चारों मूल भूत निर्जीव हैं। इन में से जब कार्बन और आक्सिजन विशेष मात्रा और अवस्था में मिलते हैं, तो कार्बोनिक एसिड उत्पन्न करते हैं। आक्सिजन और हाईड्रोजन से जल बनता है, और नाइट्रोजन और कुछ अन्य * मूल भूत जब मिलते हैं तो नाईट्रोजिनस साल्ट" पैदा करते हैं। ये तीनों मिश्रित वस्तुतत्व किसी विशेष † रीति से मिलते हैं तो अपने से भी अधिक दुर्बोध वस्तु कललरस को पैदा करते हैं और इसी रस से जीवन के दृश्य प्रकट होते हैं। वह इसी व्याख्यान के एक दूसरे भाग में कहता है कि यदि कार्बोनिक एसिड, जल और नाईट्रोजिनस साल्ट को पृथक करके उनके स्थान में उस कललरस को सममात्रा में ले ले, जो प्रथम से वर्तमान कललरस के प्रभाव से प्रभावित हो, तो क्या स्थिति में कुछ भेद ‡ पड़ जायगा ?¶

* सारे व्याख्यान में इस अन्य मूल भूत का पता हक्सले ने नहीं दिया; बिना इस मूलभूत के बतलाये, कललरस के लिये भी, यह नहीं कल्पना की जा सकती कि उसके समस्त मूल भूतों को हक्सले जानता था, चेतना का ज्ञान तो दूर की बात थी।

† यह विशेष रीति भी हक्सले को अन्त तक नहीं मालूम हुई।

‡ अवश्य पड़ जायगा, यदि अन्तर न पड़ेगा तो प्रथम से वर्तमान कललरस के प्रभावसे प्रभावित (under the influence of preexisting living protoplasm) के अर्थ हो क्या हुए !

¶ Leetures and Essays by T.H. Huxley p.47:53.

हक्सले ने एक और पुस्तक "पशुओं के वर्गीकरण" नामक की भूमिका में लिखा है*"न पाशविक जगत् में ऐसा अन्य वर्ग है जो अधिक प्रशंसनीय रीति से इस उत्तमतया स्थापित वाद को कि "जीवन शरीर रचना का "हेतु है परिणाम नहीं"+ और जिसे जान हंटर ने बहुधा समर्थन किया है, स्पष्ट करता हो, क्योंकि इन तुच्छ कोटि के जन्तुओं में शरीर रचना के नाम योग, नाम मात्र को भी कोई बात, नवीन आविष्कृत यन्त्रों की सहायता पूर्वक खुर्दबीनों के द्वारा देखने से भी प्रकट नहीं हुई है......यह आकार और इन्द्रियशून्य जन्तु है, जिनके शरीर के अवयव भी परिमित रूप से नहीं विभक्ति हैं, तो भी उनमें आवश्यक लक्षण और गुण चेतना के पाये जाते हैं"।

डार्विन के सिद्धान्त।

अपने ग्रहण सिद्धान्त के आधार पर डार्विन ने निम्न बातें निर्धारित की हैं:—

(१) एकही योनि के जीवों की अन्तः प्रकृतियों में भी कुछ न कुछ व्यक्तिगत विभिन्नता होती है और "स्थिति सामञ्जस्य" के नियमानुसार उनमें भी ठीक उसी प्रकार फेरफार हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के अवयवों में।

---

* Classification of animals by T. H. Huxley page 10.

+ अंगरेजी का वाक्य इस प्रकार है "Life is the cause and not the couisquence of organisation."

(२) इस परिवर्तन से जो विशेपतायें (स्वभाव परिवर्तन के कारण) उत्पन्न होजाती हैं, वे आगे होनेवाली सन्तति को भी अंशतः प्राप्त होती हैं और इस प्रकार वंशपरम्पराक्रम से उत्तरोत्तर अधिक प्रवर्द्धित रूप प्राप्त करती जाती हैं।

(३) ग्रहण धर्म के अनुसार मनोवृत्ति की जो २ विशेपतायें सब से अधिक उपयोगी होती हैं, वेरक्षित रहती हैं जो स्थिति के अनुकूल न होने के कारण उपयोग में नहीं आती, नष्ट होजाती हैं।

(४) इस रीति से मनोवृत्ति की जो अनेक विभिन्नतायें उत्पन्न हो जाती हैं उनसे अनेक पीढ़ियों के पीछे उसी प्रकार नई २ अन्तः प्रवृत्तियों की सृष्टि होती है, जिस प्रकार अवयवों के भेद से नये आकार के जीवों की। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती हैं (१) मूल (२) उत्तर।

मूल प्रवृत्तियां वे हैं जो अचेतन क्षोभ के रूप में मनोरस में जीव की आदिम अवस्थाही से रहती हैं। विशेप कर आत्मरक्षा वंशरक्षा (प्रसव और शिशुपालन) की प्रवृत्ति। सजीव द्रव्य की ये दोनों प्रवृत्तियां क्षुधा और प्रीति (समागम की वासना) सर्वथा अज्ञान की दशा में उत्पन्न होती हैं, बुद्धि का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उत्तर प्रवृत्तियों का क्रम और है, आरम्भ में तो ये बुद्धि के उपयोग द्वारा विचार और संकल्प द्वारा ज्ञानकृत उद्दिष्टकर्म द्वारा उत्पन्न हुईं, पर पीछे धीरे २ वे इतनी मंज गईं कि अज्ञान की दशा में भी प्रकट होने लगी, यहां तक कि परम्परा के विधान से वे आगे की पीढ़ियों में स्वभाव सिद्ध सी हो गईं।

उन्नत जीवों की अज्ञानकृत क्रियायें जो शरीर धर्म कहलाती

हैं (पलक मारना आदि) पूर्वज जीवों में ज्ञानकृत थीं, पर पीछे स्वभाव सिद्ध प्रवृत्तियों में दाखिल हो गईं।

हैकल का मत

शरीर और जीव दोनों का आकृतिक आधार कललरस है यह एक चिपचिपा और कुछ दानेदार पदार्थ है। समस्त प्राणियों के सूक्ष्म घटक इसी के होते हैं। यह चार मूल द्रव्यों का मिश्रण है:—

(१) नाइट्रोजन, (२) आक्सिजन, (३) हाइड्रोजन (४) कार्बन॥ इनके सिवा जल और लवण का भी इस में मेल होता है।

प्राणियों के समस्त अवयव त्वचा, मांस हड्डी, बाल, सींघ नाखून, दांत, मांसपेशी और धमनियां इत्यादि, इसी कललरस से बनी हैं। प्राणियों के जीवन के आधार भूत द्रव्य को मनोरस कहते हैं। यह कललरस निर्मित अवयवों का समुदाय मात्र है। "रासायनिक विश्लेषण से इनके दो भाग होते हैं, जिन से वह बना है (१) अण्डसार रस, (२) अंगारक। अण्डासार रस भी एक गाढ़ा चिपचिपा पदार्थ है, जो अण्डों की जर्दी और जीवों के रक्त आदि में रहता है, और आक्सिजन कार्बन, नाइट्रोजन, और हाइड्रोजन और कुछ गन्धक के मेल से बना होता है। समस्त चेतन व्यापारों का मूल यही मनोरस है।

प्राणियों का शरीर निर्माण सब से पहले पुरुष और स्त्री घटक (वीर्य और रज के अणु) अपने केन्द्रों सहित मिल कर एक हो जाते हैं। गर्भाशय के भीतर बहुत से क्षुद्र कीटाणु गर्भाणु (स्त्री घटक) को घेरते हैं, पर केवल एक ही उसके भीतर केन्द्र तक घुसता है। घुसने पर दोनों के केन्द्र एक अद्भुत शक्ति-

द्वारा, जिसे प्राण से मिलती-जुलती एक प्रकार की रासायनिक प्रकृति समझना चाहिए, एक दूसरे की ओर वेग से आकर्षित होकर मिल जाते हैं। इस प्रकार पुरुष और स्त्री के सम्वेदनात्मक अनुभव द्वारा, जो एक रासायनिक प्रेमाकर्षण के अनुसार होता है, एक नवीन "अंकुर घटक" उत्पन्न होजाता है जिसमें माता पिता दोनों के गुणों का समावेश होता है।

इस अंकुर (मूल) घटक के उत्तोरोत्तर विभाग द्वारा बीज कलाओं की रचना, द्विफल घट की उत्पत्ति तथा और २ अङ्गों का विधान होता है। और इस प्रकार भ्रूणपिंड क्रमशः बढ़ते बढ़ते बालक के रूप में पहुंच जाता है।

बालक गर्भान्तर्गत पूर्ण अवयवों को प्राप्त कर लेने पर भी चेतना रहित ही रहता है। बल्कि उत्पन्न होने के बाद जब तक बालक बोलने नहीं लगता उस समय तक भी उस में चेतना नहीं होती। "प्रेइर" (Preyer) के मतानुसार चेतना का विकास उस में उस समय होता है, जब वह बोलने लगता है।

चेतना का विकासक्रम

जीवन के आरम्भ में प्रत्येक प्राणी एक अत्यन्त सूक्ष्म घटक के रूप में होता है। फिर दो (पुरुष स्त्री) घटकों के मेल से अंकुर घटक की उत्पत्ति होती है। (जैसा ऊपर कहा जा चुका है) दोनों बीजघटकों में से प्रत्येक में एक घटकात्मा होती है, अर्थात् दोनों में एक विशेष रूप की सम्वेदना और गति होती है।

गर्भ के विधान के समय दोनों घटकों के कललरस और बीज (केन्द्र) ही मिल कर एक नहीं हो जाते, बल्कि उन की घटकात्मयें भी परस्पर मिल जाती हैं, अर्थात् दोनों में जो निहित

या अव्यक्त गति शक्तियां होती हैं, वे भी एक जीवन शक्ति की योजना के लिए मिल कर एक हो जाती हैं। अंकुर घटक की वह नवयोजित शक्ति ही बीजात्म है।

अतः प्रत्येक मनुष्य के शारीरिक और मानसिक गुण माता पिता से ही प्राप्त होते हैं। वंश क्रमानुसार माता के गुणों का कुछ अंश गर्भाण्ड द्वारा और पिता के गुणों का कुछ अंश क्षुद्र कीटाणु द्वारा प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण मनोव्यापार कललरस में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार होते हैं। कललरस के उस अंश का नाम, जो मनो व्यापारों का आधार स्वरूप प्रतीत होता है, मनोरस है, जैसा ऊपर कहा गया है। उस (मनोरस) की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आत्मा या मन को हम कललरस में हुए अन्तर्व्यापारों की समष्टि मात्र समझते हैं। उसी समष्टि को मनोरस कहते हैं। आत्मा अथवा मनोरस की क्रियायें शरीर के द्रव्य वैकृत्य धर्म से सम्बद्ध हैं।

जीवात्मा का कार्य्य, मनोरस की कुछेक रासायनिक योजना और कुछेक भौतिक क्रिया हुये बिना नहीं हो सकता।

सम्वेदन

समस्त जीव सम्वेदनग्राही हैं और अपने चारों ओर स्थित पदार्थों का प्रभाव ग्रहण करते हैं और शरीर की स्थिति के कुछ परिवर्तनों द्वारा उन पदार्थों पर भी प्रभाव डालते हैं।

प्रकाश, ताप, आकर्षण विद्युदाकर्षण, रासायनिक क्रियायें और भौतिक व्यापार संत्र के सब सम्वेदनात्मक मनोरस में क्षोभ या उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। मनोरस के सम्वेदन की क्रमशः ५ अवस्थायें हैं:—

(१) जीवन विधान की प्रारम्भिक अवस्था में समस्त मनोरस सम्वेदनग्राही होती है और बाहर स्थित पदार्थों से उत्तेजना ग्रहण कर के कार्य्य करता है। क्षुद्रकोटि के जीव और पौधे इसी अवस्था में रहते हैं।

(२) दूसरी अवस्था में शरीर पर विषय विवेक रहित इन्द्रियों के पूर्वरूप कललरस के सुतड़ों और इन्द्रियों के रूप में प्रकट होते हैं। ये चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय के पूर्व रूप होते हैं जो उन्नत अणुजीव और क्षुद्र जन्तुओं और पौधों में पाये जाते हैं।

(३) इन्हीं मूल विधानों से विभक्त हो कर इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं।

(४) चौथी अवस्था में समस्त सम्वेदना विधानों (इन्द्रिय व्यापारों) का एक स्थान पर समाहार होता है। इस समाहार से अचेतन अन्तः संस्कार उत्पन्न अर्थात् इन्द्रिय सम्वेदन के स्वरूप अंकित होते हैं।

(५) अंकित इन्द्रिय सम्वेदना का प्रतिबिम्ब सम्वेदना सूत्र जाल के केन्द्र स्थल में पड़ता है, जिससे अन्तः साक्ष्य या स्वान्तःप्रवृत्ति बोध उत्पन्न होता है, जो मनुष्यों और उच्चकोटि के पशुओं में पाया जाता है।

गति

समस्त जीवों में एक "स्वतः प्रवृत्ति गति" होती है। सजीव मनोरस में कुछ ऐसे आन्तरिक कारण होते हैं, जिनसे उसके अणु अपना स्थान बदलते हैं। ये कारण अपनी सत्ता मनोरस के रासायनिक संयोग ही में रखते हैं। मनोरस की स्वतः प्रवृत्त गतियों का कुछ तो ज्ञान परिचणों से हुआ है, और कुछ गतियां उन के कार्यों को देख कर समझी गई हैं।

ये स्वतः प्रवृत्ति गति ५ अवस्थाओं में पाई जाती हैं।

(१) क्षुद्र जीवों की प्रारम्भिक अवस्था में वह गति अंगवृद्ध की अवस्था में पाई जाती हैं।

इस गति को हमपरीक्षणों द्वारा जान नहीं सकते,किन्तु उसके फल अंग वृद्धि को देख कर केवल उसका अनुमान कर सकते हैं।

(२) बहुत से उद्भदाकार सूक्ष्म जन्तु आगे की ओर एक लसीला पदार्थ निकाल कर शरीर ठेलते हुए रेंगते या तैरते हैं।

(३) बहुत से क्षुद्र समुद्रीय अणु जीव कभी घटस्थ वायु को निकाल कर और कभी तरलाकर्पण शक्ति के द्वारा अपने गुरुत्व में अन्तर डाल कर पानी में नीचे जाते या ऊपर उठते हैं।

(४) बहुत काल से पौधे, जैसे लज्जालु (छुई मुई), अपने शरीर के बनाव में फेर फार डाल कर पत्तियों तथा और अवयवों को हिलाते हैं।

(५) आकुञ्चनगति-सजीव पदार्थों के बाहरी अवयवों की स्थित में जो अन्तर पड़ता है, वह शरीरस्थ द्रव्यों के आकुञ्चन और प्रसारण के द्वारा पड़ा करता है। यह आकुञ्चनात्मक गति चार प्रकार की देखी जाती है:—

(क) जल में रहने वाले अस्थिराकृत अणुजीवों की सी गति।

(ख) घटकों के भीतर कललरस की वैसाही गति।

(ग) रोई या सुतड़े वाले अणुजीवों, शुक्रकीटाणुओं की कुटिल गति।

(घ) मांसपेशियों के सञ्चालन की गति जो अधिकतर प्राणियों में देखी जाती है:—

प्रतिक्रिया

जीवन, सम्वेदन और गति (जिन का ऊपर वर्णन हुआ है) से पैदा हो जाता है। सम्वेदन और गति के संयोग से जो मूल या आदिम मनोव्यापार उत्पन्न होता है उसे प्रतिक्रिया कहते हैं।

प्रतिक्रिया की ७ अवस्थायें देखी जाती हैं:—

(१) क्षुद्र अणुजीवों में वाह्य जगत् की उत्तेजना (ताप, प्रकाश, विद्युत आदि) से केवल वह गति उत्पन्न होती है, जिसे अङ्गवृद्धि और पोषण कहते हैं:—

(२) डोलने फिरने वाले अणुजीवों में वाहर की उत्तेजना शरीरतल के प्रत्येक स्थान पर गति पैदा करती है, जिस से आकृति बदलती रहती है।

(३) उन्नत कोटि के अणुजीवों में दो अत्यन्त सादे अवयव, एक स्पर्शेन्द्रिय, दूसरी गति की इन्द्रिय देखी जाती हैं। ये दोनों इन्द्रिय कललरस के वाहर निकले हुए अंकुरमात्र हैं।

स्पर्शेन्द्रिय पर पड़ी हुई उत्तेजना घटकस्थ मनोरस द्वारा गति की इन्द्रिय एक पहुँचती है और उसे आकुञ्चित करती है।

(४) मूंगे आदि अनेक घटक जीवों का प्रत्येक सम्वेदन सूत्रात्मक और पेशीतन्तुयुक्त घटक, प्रतिक्रिया का एक एक कारण है। इस के ऊपर एक मर्मस्थल और भीतर एक मर्मस्थल और भीतर एक गत्यात्मक पेशी तन्तु है। मर्मस्थल छूतेही पेशीतन्तु सिकुड़ जाती है।

[५] समुद्र में तैरने वाले कीटों में वाहर सम्वेदनाघटक और चमड़े के भीतर पेशीघटक होते हैं। इन के बीच में मिलाने

वाला एक मनोरस निर्मित सूत्र है, जो घटक से दूसरे तक उत्तेजना पहुँचाता है।

(६) बिना रीढ़ वाले जन्तुओं में दो २ की जगह तीन २ घटक मिलते हैं। तीसरा स्वतन्त्र घटक सम्बन्ध कारक सूत्र के स्थान में है, उसे मनोघटक या सम्वेदन ग्रन्थि घटक कहते हैं। इसी के साथ अचेतन अन्तः संस्कार उस घटक ही में पैदा होते हैं। उत्तेजना सम्वेदनग्राही घटक से मध्यस्थ मनोघटक में होकर पेशी घटक में पहुंचती है, जहाँ से कियोत्पादक पेशी घटक में पहुँच कर गति को प्रेरणा करती है।

(७) रीढ़ वाले जन्तुओं में तीन के स्थान में चतुर्घटकात्मक करण पाया जाता है। सम्वेदन घटक और कियोत्पादक घटक मिलते हैं बाहरी उत्तेजना पहले सम्वेदनाग्राही मनोघटक फिर संकल्पात्मक घटक और फिर अन्त में अकुंचन शील पेशी घटक में जाकर गति उत्पन्न करती है। ऐसे अनेक चतुर्घटात्मक करण और नये २ मनोघटकों के संयोग से जटित चेतन अन्तःकरण पैदा होता है।

प्रति क्रिया के उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो गया कि वही आदिम मनोव्यापार है। प्रति किया चेतना का अभाव होता है। उत्तेजना पहुँचने से (बारूद के सदृश) गति उत्पन्न हो जाती है। चेतना केवल मनुष्य और उन्नत जीवों में मानी जा सकती है; उद्भिदों और क्षुद्र जीवों में नहीं। उद्भिदों और क्षुद्र जीवों में उत्तेजना पाकर जो गति उत्पन्न होती है, वह प्रति क्रियामात्र है, अर्थात् संकल्पित अथवा अन्तःकरण की प्रेरित क्रिया नहीं है।

अन्तःसंस्करण इन्द्रियों की क्रिया से प्राप्त बाह्य विषय का जो प्रतिरूप भीतर अंकित होता है, उसे अन्तःसंस्कार या भावना कहते हैं। अन्तःसंस्कार चार रूप में देखा जाता है:—

(१) घटकगत अन्तः संस्कार क्षुद्र एक घटक अणु जीवों में अन्तःसंस्कार समस्त मनोरस का सामान्य गुण होता है।

एक प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म गोल सामुद्रिक अणु जीव होते हैं जिनके ऊपर आवरण के रूप में एक पतली चित्र विचित्र खोपड़ी होती है। इस खोपड़ी की चित्रकारी सब में एक सी नहीं होती भिन्न २ होती है। खोपड़ी की रचना और चित्रकारी के विचार से इस जीव के हजारों उपभेद दिखाई पड़ते हैं किसी एक विशेष चित्रकारी वाले जीव से विभाग द्वारा जो दूसरे एक घटक जीव उत्पन्न होते हैं उनमें भी चित्रकारी बनी मिलती है। इस का कारण केवल यही बतलाया जा सकता है कि निर्माणकर्ता कललरस में अन्तःसंस्कार की वृत्ति होती है और परत्व, अपरत्व संस्कार और उसके पुनरुद्भावन की शक्ति होती है।

(२) तन्तुजालगत अन्तःसंस्कार समूह पिंड बनाकर रहने वाला एक घटक अणु जीवों और स्पंज आदि सम्वेदन सूत्र रहित क्षुद्र अनेक घटक जीवों तथा पौधों के तन्तु जाल में हमें अन्तःसंस्कार की दूसरी श्रेणी मिलती है। इस में बहुत से परस्पर सम्बद्ध घटकों का सामान्य मनोव्यापार देखा जाता है। इन जीवों में किसी एक इन्द्रियों के उत्तेजन से प्रति क्रिया मात्र उत्पन्न होकर नहीं रह जाती, बल्कि तन्तु घटकों के मनोरस में संस्कार भी अंकित होते हैं।

(३) सम्वेदन सूत्र ग्रंथिगत अचेतन अन्तःसंस्कारः—यह उन्नत कोटि का अन्तःसंस्कार अनेक छोटे जन्तुओं में देखा जाता है। इसका व्यापार मनोघटक ही में होता है। यह उन्हीं में प्रकट होता है जिन से प्रति क्रिया के लिये त्रिघटात्मक करण का विकास होता है। अन्तःकरण का स्थान संवेदनाघटक और पेशीघटक के वीच का "मध्यस्थघटक" होता है।

(४) मस्तिष्कघटक गत चेतन अन्तःसंस्कार।

उन्नत जीवों में अन्तर्वोध या चेतना मिलने लगती है। वह सम्वेदन के मध्य भाग में एक विशिष्ट करण की एक विशेष वृत्ति है। उन्नत जीवों में अन्तःसंस्कार चेतना होते हैं; अर्थात उनका बोध भीतर होता है। इस अन्तर्वोध के साथ साथ ही चेतन अन्तःसंस्कार की योजना के लिये मस्तिष्क के विशेष २ अवश्य स्फुरती होते हैं, तव अन्तःसंस्कार उन वृत्तियों या व्यापारों के योग्य हो जाता है, जिन्हें विचार बुद्धि और तर्क कहते हैं।

स्मृति

स्मृति अन्तःसंस्कारों से सम्वद्ध है, जिस पर सारे उन्नत मनोव्यापार अवलम्बित हैं। वाह्य विषयः के इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ते हैं, वे मनोरस में अन्तःसंस्कार के रूप में जाकर ठहर जाते हैं और स्मृति द्वारा पुनरुद्भूत होते हैं।

अन्तःसंस्कारों की श्रेणियों के अनुसार स्मृति के विकास के भी चार दरजे हैं।

(१) घटक गत स्मृति। "स्मृत सजीवन द्रव्य का एक सामान्य गुण है" इवैल्ड हेरिंग (Ewald Hernig) ने ३० वर्ष हुए यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रकट किया था। इसी को मैंने

विकासवाद के अनुसार सिद्ध किया है और दिखलाया है कि "अचेतन स्मृति कललाणु की एक सामान्य और व्यापक वृत्ति है। क्रियावान् कललरस के इन मूल कललाणुओं ही में पुनरुद्भूति होती है; अर्थात् इन्हीं में स्मृति शक्ति आदि रूप में रहती है निर्जीव द्रव्य अणुओं में नहीं, यही सजीव और निर्जीव सृष्टि में अन्तर है। वंशपरम्परा ही कललाणु की धारणा या स्मृति है। एक घटक अणु जीवों की आदिम स्मृति उन कललाणुओं की अरवात्मक स्मृति के योग से बनी है जिनके मेल से उनका एक घटकात्मक शरीर बना है। एक अणु जीव की जो विशेषतायें होती है, वे उनसे उत्पन्न दूसरे अणुजीवों में रक्षित रहती हैं। यही ऐसे जीवों की स्मृति है।

(२) तन्तुगत स्मृति घटकों के समान घटकजाल में भी अचेतन स्मृति पाई जाती है उसके उदाहरण क्षुद्र जन्तुओं के व्यक्तिगत शरीर और वृक्षों के पितृपरम्परा में पाये जाते हैं।

(३) उन्नत जीवों की चेतनारहित स्मृति है, जिन में सम्वेदन सूत्रजाल रहते हैं। यह अचेतन स्मृति उन अचेतन अन्तः-संस्कारों की पुनरुद्भावना है, जो कुछेक सम्वेदनसूत्र श्रेणियों में सञ्चित होते जाते हैं।

(४) चेतन स्मृति का व्यापार मनुष्यादि उन्नत प्राणियों के कुछेक मस्तिष्क घटकों में होता है। वह व्यापार अन्तः संस्कारों का प्रतिविम्ब पड़ने से होता है। क्षुद्र पूर्वज जन्तुओं में स्मृति के जो व्यापार अचेतन रहते हैं, वे ही उन्नत अन्तःकरण वाले जीवों में चेतन हो जाते हैं।

अन्तः संस्कारों की शृङ्खला या भाव योजना

यह आदि रूप में अचेतन रहती है, और "प्रवृत्ति" कहलाती है; फिर क्रमशः उन्नत जीवों में चेतन होकर बुद्धि कही जाती है। जिस हिसाब से अधिकाधिक अन्तःसंस्कारों की योजना होती है, और जिस प्रकार 'शुद्ध बुद्धि की विवेचना" से यह योजना व्यवस्थित होती जाती है, उसी हिसाब से अन्तः-करण की वृत्ति पूर्णता को पहुँच जाती है। स्वप्न में इस विवेचना के न रहने से पुनरुद्भूत संस्कारों की जो योजना होती है उससे अलौकिक दृश्य दिखलाई देते हैं। यही अव्यवस्था विकल्पित रचना इन्द्रजाल, भूत, मृतपुरुषों की आत्माओं का साक्षात्कार, इलहाम आदि अनेक अन्धपरम्पराओं का कारण है*।

भाषा

वाणी की योजना भी न्यूनाधिक क्रम से सभी जीवों में पाई जाती है। यह नहीं है कि एकमात्र मनुष्य ही को प्राप्त हो। यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया है कि भिन्न भिन्न मनुष्य जातियों की जितनी समृद्ध भाषायें हैं, सब की सब सीधी सादी, कुछेक आदिम भाषाओं से धीरे २ उन्नति करती हुई बनी हैं।

अन्तःकरण के व्यापार

अन्तःकरण के व्यापारों के द्वारा, जो उद्वेग कहलाते हैं, मस्तिष्क के व्यापारों और शरीर के दूसरे व्यापारों, जैसे हृदय की धड़कन, इन्द्रियों के क्षोभ और पेशियों की गति के बीच का सम्बन्ध, अच्छी तरह

---

* हैकल की कल्पनायें भी इसी अव्यवस्था का परिणाम प्रतीत होती हैं। (ग्रन्थकार)

स्पष्ट हो जाता है। समस्त उद्वेग, इन्द्रिय सम्वेदन और गति इन्हीं दो मूल व्यापारों के योग से प्रति क्रिया और अन्तःसंस्कारों द्वारा बने हैं।

राग और द्वेष का अनुभव इन्द्रिय सम्वेदन के अन्तर्गत और उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति का उद्योग गति के अन्तर्भूत हैं।

"आकर्षण" और "विसर्जन" इन्हीं दोनों क्रियाओं के द्वारा "संकल्प" की सृष्टि होती है जो व्यक्ति का प्रधान लक्षण है।

मनोयोग भी विस्तार मात्र है।

संकल्प

संकल्प मनोरस का एक व्यापक गुण है। जिन जीवों में प्रति क्रिया का त्रिघटात्मक करण अर्थात् सम्वेदना ग्राहक घटक और क्रियोत्पादक घटक के बीच में एक तीसरे मनोघटक की स्थापना होती है उन्हीं में संकल्प नामक व्यापार देखा जाता है। क्षुद्र जीवों में यह संकल्प अचेतना रूप में रहता है। जिन जीवों में चेतना होती है अर्थात् इन्द्रियों की क्रिया का प्रतिबिम्ब अतःकरण में पड़ता है उन्हीं में संकल्प उस कोटिका देखा जाता है जिसमें स्वतन्त्रता का आभास जान पड़ता है।

मनोव्यापार

मनुष्यादि समस्त जीवों के मनोव्यापार एक मानसिक यन्त्र या करण के द्वारा होते हैं। इस यन्त्र के तीन मुख्य विभाग हैं:—

(१) वाह्यकरण या इन्द्रियां जिनसे सम्वेदन होता है।

(२) पेशियां जिनसे गति होती है।

(३) सम्वेदन सूत्र जो इन दोनों के बीच मस्तिष्क रूपी प्रधान करण के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

मनोव्यापार के साधन के इस भीतरी (मानसिक) यन्त्र की उपमा तार से दी जाया करती है। सम्वेदन सूत्र तार है। इन्द्रियां छोटे स्टेशन हैं। मस्तिष्क सदर स्टेशन है। गतिवाहक सूत्र संकल्प के आदेश को केन्द्र या मस्तिष्क से वहिर्मुख गति द्वारा पेशियों तक पहुँचाते हैं, जिनके आकुञ्चन से अङ्गों में गति होती है। सम्वेदन वाहक सूत्र इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सम्वेदनों को अन्तर्मुख गति से मस्तिष्क में पहुंचाते हैं।

मस्तिष्क या अन्तःकरण रूपी मनोव्यापार केन्द्र ग्रन्थिमय होता है। इन सूत्र ग्रन्थियों के घटक सजीव द्रव्य के सब से समुन्नत अंश हैं। इनके द्वारा इन्द्रियों और पेशियों के बीच व्यापार सम्बन्ध चलता ही है। इसके सिवा भाव ग्रहण, बोध और विवेचन आदि अनेक मनोव्यापार भी होते हैं।

सम्वेदन सूत्रों के सिवा गति सूत्र भी मस्तिष्क तक गये हैं, जिनके द्वारा क्रिया की प्रेरणा होती है।

अन्तःकरण का केन्द्र मस्तिष्क है।

चेतना

चेतना एक प्रकार का अन्तर्दृष्टि है, वह दो प्रकार की होती है (१) अन्तर्मुख (२) बहिर्मुख अन्तर्मुख चेतना का क्षेत्र संकुचित होता है, उसमें हमारे इन्द्रियानुभव, संस्कार और संकल्प प्रतिविम्बित होते हैं।

चेतना का परिज्ञान हमें चेतना ही के द्वारा हो सकता है। उसकी वैज्ञानिक परिक्षा में यही बड़ी भारी अड़चन है। परीक्षक भी वही और परीक्ष्य भी वही है। द्रष्टा अपना ही प्रतिविम्ब अपनी अन्तःप्रकृति में डालकर परीक्षण में प्रवृत्त होता है, अतः

हमें दूसरों की चेतना का परीक्षात्मक बोध तो पूरा कभी हो नहीं सकता। चेतना सम्बन्धी दो प्रकार का वाद है (१) सर्वातिरिक्त अथवा आत्मा की शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता का होना (२) शरीर धर्मवाद अथवा शरीर के मेल का परिणाम। जडाद्वैतवाद दूसरे वाद का पोषक है।

चेतना का अधिष्ठान मस्तिष्क के भूरे मज्जापटल का एक विशेष भाग है। "फ्लेशज़िक" (Paul Flechsig of Leipzig) एक जर्मन के वैज्ञानिक ने सिद्ध किया है कि मस्तिष्क के भूरे मज्जा क्षेत्र इन्द्रियानुभव के चार अधिष्ठान या भीतरी गोलक हैं जो इन्द्रिय सम्वेदना को ग्रहण करते हैं:—

(१) स्पर्श ज्ञान का गोलक मस्तिष्क के खड़े लोथड़े में, (२) घ्राण का सामने के लोथड़े में, (३) दृष्टि का पिछले लोथड़े में, (४) और श्रवण का कनपटी के लोथड़े में हैं।

इन चारो भीतरी इन्द्रिय गोलकों के बीच में चार विचार के गोलक हैं, जिनके द्वारा भावों की योजना और विचार आदि जटिल मानसिक व्यापार होते हैं।

तुरन्त के उत्पन्न बच्चे में चेतना नहीं होती। प्रेयर नामक शरीर वैज्ञानिक ने दिखलाया है कि, चेतना बच्चे में उस समय स्फुरित होती है जब वह बोलना आरम्भ करता है*। क्रमशः चेतना का विकाश होता है:—

---

*यदि कोई मनुष्य गूँगा ही पैदा हो और अन्तकाल तक न बोल सके तो क्या उस में चेतना उत्पन्न ही न होगी और वह ईंट पत्थर की भांति जड़ ही रहेगा? (ग्रन्थकार)

प्रथम, १० वर्ष की अवस्था तक ज्ञान की वृद्धि और चेतना का विकाश शीघ्रता से होता है।

द्वितीय, १० वर्ष की अवस्था तक चेतना को वृद्धि होती रहती है, परन्तु पूर्णता को नहीं पहुँचती।

तृतीय, १० वर्ष की अवस्था तक विचार परिपक्व और चेतनापूर्ण होती है।

चतुर्थ से षष्ट १० वर्ष को अवस्था तक परिपक्व चेतना का फल मनुष्य चखता है *।

६० वर्ष के बाद शिथिला प्रारम्भ होकर क्रमशः बढ़ती जाती है।†

एफ डब्लयू. एच मेयर्स F. W. H Mayers

मेयर्स का उल्लेख "पश्चिमी अध्यात्मवाद संघ" के कार्य विवरणों में अनेक जगह आया है, आगे के पृष्ठों से उसके मत की आभा प्रकाशित होगी। यहां संक्षेप से उसके स्थिर किए हुए सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है। ये सिद्धान्त उसने अपने ४० वर्ष की खोज के बाद स्थिर किए थे। उसने अपनी खोजों का सविवरण उल्लेख अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "मनुष्य के व्यक्तित्व" (Human Personality) नाम की दो जिल्दों में, किया है। उसके स्थिर किए हुए सिद्धान्त ये हैं:—

(१) मनुष्य का व्यक्तित्व शरीर की मृत्यु होने के बाद बाकी रहता है, निशेष नहीं हो जाता।

---

*यह पुस्तक इसी अवस्था में लिखा जा रहा है।

†हैकल ने इसी अवस्था में अपना पुस्तक (Riddle of the Universe) लिखा था जिसमें आत्मसत्ता का निषेध किया गया है।

(२) इस प्रकार शरीर छोड़े हुए व्यक्ति (जीवात्मा) में वही विचार, उद्वेग, अनुभव, स्मृत, मानसिक और सदाचार सम्बन्धी सामर्थ्य, मृत्यु के बाद पूर्ववत् बाकी रहते हैं। वह मृत्यु के बाद न तो देव हो जाता है और न असुर, किन्तु उसी अवस्था में और वही रहता है जो मृत्यु से पहले था अन्तर केवल इतना हो जाता है कि उसके साथ स्थूल शरीर बाकी नहीं रहता।

(३) विशेष अवस्थाओं में यह शरीररहित व्यक्ति पृथ्वीस्थ जीवित (सशरीर) प्राणियों (मनुष्यों से संलाप कर सकता है।

प्रोफेसर शेन स्टोन Prof. Shan Stone 1906 A. D.

वान हेलमौण्ट (१५७७–१६४४) के समय से अब (१९०६) तक के लेख और परीक्षण आदि जो विज्ञान द्वारा किए गए थे, देखने के बाद, "शेन स्टोन" अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं:–

"सब कुछ जो हम उचित रीति से कह सकते हैं, वह यह है कि पुष्ट हेतु इस बात के विश्वास करने के लिए नहीं है कि रसायनशाला में आज तक भी चेतना जड़ प्रवृत्ति से उत्पन्न कर दी गई हो। *

रौबर्ट केनेडी डंकन (Robert Kennedy Duncan 1911 A D.)

जीवन को शरीर के मेल का परिणाम बतलाने के संबंध में डंकन का मत इस प्रकार है:–शरीर एक यन्त्र है जिसमें प्रत्येक पेशी, ग्रंथि और तन्तुओं के कार्य रासायनिक नियमानुकूल होते हैं। वह विश्वास प्रति दिन बढ़ रहा

* Materialism by Dareb Dinsha Kanga P. 37 and 38

है। यदि जीवन से अभिप्राय किसी ऐसी अध्यात्म-सत्ता से है, जो इन रासायनिक कार्यों में हस्तक्षेप करती हो, तो उसकी सत्ता से उचित रीति से इनकार किया जा सकता है। परन्तु जीवन से यदि ऐसी अध्यात्म-सत्ता अभिप्रेत है, जो शरीर में रह कर बिना उसके कार्योंमें बाधक हुए, परिमित रूप में शारीरिक कार्यों को नियमित अनुशासित करती है, तो हम सम्भवतः उसकी सत्ता से इनकार नहीं कर सकते और उसकी सत्ता की स्वीकृति विज्ञान के विरुद्ध भी नहीं है।*

डाक्टर जैप प्रधान रसायन विभाग लण्डन

डा० जैप (Dr Jap, The president of the Chemical Section, London) ने ब्रिटिश एसोसियेशन के एक अधिवेशन में जो १८९९ ई० में संघटित हुआ था, "जीवन" पर व्याख्यान देते हुए जीवन (जीवात्मा) के कार्यों पर एक प्रवर्त्तक के कार्य से उपमा देकर कहा था। † कि एक प्रवर्तक का कार्य यह होता है कि वह अपने ज्ञान और इच्छा को प्रयोग में लाता हुआ, उद्देश्य से कार्य करता है जिस से कि परिमित फल प्राप्त हो। फिर कहते हैं कि प्रवर्तक (जीव) नियमन शक्ति को जो फल से सम्बन्धित होती है, जीवित शरीर पर काम में लाता है, और स्पष्ट रूप से अपना आशय इस प्रकार प्रकट करता है कि जीवन के कार्यों की केवल यान्त्रिक व्याख्या निश्चित रीति से अधूरी रहेगी।

* Materialism p. 38 and 39

† " 39.

प्रोफेसर कोहेन
Prof Cohen

जिनकी पुस्तक * बम्बई यूनिवर्सिटी में बी. एस. सी. के. विद्यार्थियों को पढ़ायी जाती है, अपने पुस्तक में नील, अंगूर की चीनी, मद्यसार आदि के कृत्रिम बनाये जाने की बात कहते हुये, लिखते हैं कि सफेदी सर्व स्वीकृत जीवित शरीर का उपादान, सम्भव है कि एक दिन रासायनिक संयोग से बन सके, परन्तु यह बात याद रखनी चाहिए कि जीवित व्यक्तियों के शरीरों के अत्यन्त गूढ़ संयोग और साधारण जीवित घटक के मध्य में असीम अन्तर इस समय भी है, और अधिक सम्भावना है कि भविष्यत् में भी रहेगा।

तीसरा परिच्छेद

(आत्मा सम्बन्धी खोज और पश्चिमी अध्यात्मसंघ)

Psychical Research and Spiritualism

आत्मा सम्बन्धी खोज करने के लिये पश्चिमी देशों में "अध्यात्म संघ" के नाम से सभायें बनी हैं, जिनके खोज के प्रकार भिन्न होते हुये प्रायः सभी प्राकृतिक हैं। इन खोंजो को कुछेक सज्जन आशा, कुछेक निराशा की दृष्टि से देखते हैं। आशावादियों ने आत्मा की सत्ता प्रमाणित करने के लिये कतिपय साधन खोजे हैं। उन में से मुख्य २ ये हैं:—

---

* Theoretical Organic Chemistry by Professor Cohen.

(१) प्लेन्चिट। (२) स्वयंचलद् यन्त्रों के लेख (३) उज्वल स्वप्न। (४) परचित्त ज्ञान। (५) भूतोपसृष्ट गृहों में भूत अथवा पिशाचों की उपस्थिति आदि विषय जो "परिचित्तज्ञान" से विदित नहीं होते।

प्लेन्चिट

"प्लेन्चिट" एक यन्त्र है, जो अब उतना प्रचलित नहीं है जितना आरम्भ में था। यह एक हृदयाकार सपाट लकड़ी दो छोटे २ पहियों पर ठहरी हुई होती है, और एक पैंसिल भी उसके साथ जुड़ी रहती है। एक साफ मेज़ पर एक काग़ज़ रख कर उस पर यह यन्त्र रक्खा जाता है और सपाट लकड़ी पर एक या दो पुरुष हाथ रखते हैं। थोड़ी देर में वह लकड़ी घूमती है और पैंसिल से काग़ज़ पर कुछ चिन्ह अथवा अक्षर बन जाते हैं। जिनके लिये समझा जाता है कि वे किसी शरीर से भिन्न वस्तु (आत्मा) का कार्य्य है। टुकेन महाशय ने अपने एक पुस्तक * में प्लेन्चिट की सत्ता प्रकट करते हुये उसे तन्तु-प्रकृति का परिणाम बतलाया है और यह कि वह "स्वयं प्रस्ताव" की अवस्था होती है।

हेनस महाशय ने प्लेन्चिट के सम्बन्ध में अपनी एक अनुभव कथा लिखी है। १९०२ में उन्होंने उस का परीक्षण किया था। प्लेन्चिट प्रयोग उनसे सम्बन्धित एक देवी करती थी, जिनकी एक कन्या परीक्षण तिथि से दो तीन वर्ष पूर्व मर चुकी

* Evidence for the Supernatural by Tucket p. 89 anp 90.

थी। प्लेन्चिट द्वारा कतिपय वे बातें बतलाई गईं, जो मृत कन्या और उनसे हुई थीं। उसके बाद उन (हेनस) के एक मृत ऐमरीकन मित्र की आत्मा बुलाई गई; जो लेफरोथ पर्वत से गिर कर १९२६ में ३० वर्ष की आयु में मर चुका था। हेनस का कथन है कि इन्होंने इस अपने मित्र की आत्मा से पूछा कि पहाड़ से गिरने के समय उसकी आयु क्या थी। उत्तर मिला कि ३३ वर्ष की, जब कि आयु ३० वर्ष की थी। हेनस ने कहा कि आयु तो ३० वर्ष की थी। तब प्लेन्चिट ने उत्तर दिया कि मरते समय ३० वर्ष की आयु थी, परन्तु अब ३३ वर्ष की है। इस पर हेनस ने कहा कि अब तो (१९०२ में) आयु ३६ वर्ष की होनी चाहिये। उस पर उस (आत्मा) की ओर से अप्रसन्नता के चिन्ह प्रकट हुये तब हेनस ने पूछा कि अच्छा उस पहाड़ का नाम क्या है जिस से वह गिरा था, तो मालूम हुआ कि बुलाई हुई दोनों आत्मायें अप्रसन्न होकर चली गईं। *

स्वयं चलद् यन्त्र के लेख।

मेयर्स ने एक पुस्तक † के स्वयं चलद् यन्त्र के लेख शीर्षक में इस यन्त्र की लेखन प्रणाली का वर्णन करते हुये, उसे एक प्रकार का स्वयं संचालक यन्त्र बतलाया है, साथ ही उसने यह भी स्वीकार किया है कि यन्त्र की स्वयमेव बाह्यगति से यह प्रमाणित नहीं होता कि जो कुछ लिखा जाता है, उसका पूर्वरूप लेखक (प्रयोगक)

---

* The 'Belief in Personal Immortality. by E. S. P. Haynes p. 93 and 94.

† Human Personality by Mayers. p. 27.

के मस्तिष्क में नहीं था। मेयर्स का कथन है कि अधिक सूरतों में यन्त्र का लेख ठीक सिद्ध होता है । और किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनेक ऐसी विलक्षण बातें मालूम हो जाती हैं जो और प्रकार से मालूम न होतीं। परन्तु विपक्षियों का कथन उपर्युक्त कथन के सर्वथा विरुद्ध है। एक विपक्षी कहता है कि एक बार वह आखें बन्द कर के बैठ गया और सामने रक्खे हुये कागज़ पर कलम को इच्छानुसार चलने के लिये छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि कुछ अनर्गल और ऐसी ही बातें लिखी गईं की जिनका पूर्वरूप उसके मस्तिष्क में मौजूद था। वह यह भी कहता है कि १० मिनट इस प्रकार व्यय करने की जगह यदि वह पूरा दिन इसी अभ्यास में व्यय करता, तो परिणाम और भी सन्तोष-जनक निकलता।

इस यन्त्र के सम्बन्ध में एक बहुमूल्य परीक्षण मेयर्स ने किया था और वह इस प्रकार था कि उसने एक पत्र लिख कर और कई लिफाफों के भीतर उसे बन्द कर के ऊपर से मुहर लगादी, और उसे अपने बैंकर के पास इस अभिप्राय से छोड़ दिया कि पत्र में अंकित विषय यन्त्र द्वारा मालूम किया जावे। वीरल देवी (mrs. Verrall) द्वारा यन्त्र से पत्र का विषय जाना गया और एक सभा में प्रकट कर दिया गया, परन्तु उसी सभा में जब असल पत्र १३-१२-१९०४ को बैंकसे वह लिफ़ाफ़ा मंगा कर खोला गया, तो उसका विषय यन्त्र द्वारा वर्णित विषय से सर्वथा भिन्न निकला। इस परीक्षण के विरुद्ध सर आलिवर लाज ने अपने एक पुस्तक में अनेक ऐसें उदाहरण दिए हैं, जो यन्त्र के लेख को प्रमाणित करते हैं। एक उदाहरण उपर्युक्त

पुस्तक से यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

एक बार "स्टेन्टन मोसेज" महाशय डाक्टर स्पीर के पुस्तकालय में बैठे स्वयं चलद यन्त्र के अदृश्य लेखक से बात कर रहे थे।

नोट—वह अदृश्य लेखक पहले "फिन्यूइट" (Phinuit) परन्तु अब "रेक्टर" (Rector) अपना नाम बतलाता है।

उनका एक प्रश्नोत्तर इस प्रकार है:—

मोसेज—मुझे बतलाया गया है कि आप पढ़ सकते हैं क्या यह ठीक है और क्या आप कोई पुस्तक पढ़ सकते हैं ?

नोट—मोसेज अपना प्रश्न मुख से कहते थे रेक्टर का उत्तर स्वयं चलद यन्त्र से लिखा जाता था। मोसेज का कथन है कि स्वयं चलद यन्त्र की लेख प्राणाली बदल गई क्योंकि पहले कोई और लिखता था अब उसका अदृश्य लेखक रेक्टर है।

रेक्टर—हां, कठिनता से।

मोसेज—क्या आप कृपा करके एनील्ड (Aeneild) के प्रथम पुस्तक की अन्तिम पंक्ति लिखेंगे ?

रेक्टर—प्रतीक्षा करो—(फिर उसने लिख दिया) "Omnibas errantem terris at fiuctibus aestas"

मोसेज—(यह ठीक था) ठीक ऐसा ही है.........क्या आप पुस्तक कोष्ट तक जायेंगे और दूसरे कोष्ट के अन्तिम पुस्तक के ९४ वें पृष्ठ का अन्तिम वाक्य पढ़ेंगे ? (मोसेज ने लिखा है कि उन्होंने यह प्रश्न अनायास कह दिया था उनको मालूम भी नहीं था कि वह कौन सी पुस्तक है जिसके पढ़ने को उन्होंने कह दिया था)।

थोड़ी देर के बाद यन्त्र ने ये लिख दिया :—

I will curly prove by a short historical narrative, that Popery is a novelty, and has gradually arisen or grown up since the primitive and pure time of Christianity, not only since the apostolic age, but even since the lamentable union of Kirk and state by Constantine."

नोट—पुस्तक निकाल कर जांच करने से विदित हुआ कि रेक्टर का लेख शुद्ध है केवल एक भूल उसमें यह थी कि लेख में "account" की जगह "narrativ" लिखा गया था।

जिस पुस्तक का यह उद्धरण है उसका नाम था "Roger's Antipopristian" *

लाज महाशय ने इस यन्त्र के सम्बन्ध में अपनी सम्मति इस प्रकार लिखी है:—"वे अवशिष्ट जीव, जो निकट भविष्यत में इस पृथ्वी पर थे और अब मर चुके हैं, कभी कभी और कठिनता के साथ ऐसे मध्यवर्ती यन्त्र द्वारा, जो उनके अधिकार में दिये जाते हैं, हमसे संलाप करते हैं। वह यन्त्र रचना निमित्त पुरुष माध्यम की मस्तिष्क तन्तु होती है जब निमित्त पुरुष अस्थाई रीति से अपने मस्तिष्क से काम लेना बन्द कर देता है तब वे अवशिष्ट जीव उससे काम लेते हैं; इस उद्देश्य से कि अपने विचार उसमें भरें, और वही उनके इस प्रकार भरे हुए विचार प्राकृतिक जगत् में संलाप अथवा लेख द्वारा प्रकट होते हैं। और अवशिष्ट जीवों का

* Survival of man by Sir Oliver Lodge p.104-106

इस प्रकार ऐसे प्राकृतिक साधनों (मस्तिष्कादि) के काम में लाने ही को जो वास्तव में उनके नहीं हैं, स्वयं चलद् यन्त्र कहते हैं।*

उज्वल स्वप्न

पश्चिमी अध्यात्मवाद का एक अंग उज्वल स्वप्न भी है, जिसमें उसके अनुयायी अलौकिक घटनाओं के ज्ञान प्राप्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं। सर आलिवर लाज ने लिखा है † कि ज्ञान तो अवश्य किसी माध्यम के द्वारा प्राप्त होता है; परन्तु उस (माध्यम) का ज्ञान हमको कुछ भी नहीं है, और किस प्रकार यह अलौकिक ज्ञान हम तक पहुँचता है यह बात भी अभी तक अप्रकट है। सर आलिवर लाज तथा अन्य अध्यात्मवादियों ने इस वाद के स्थापनार्थ अनेक घटनायें उपस्थित की हैं, जिनमें से उदाहरणार्थ लाज महोदय की वर्णित एक घटना यहां लिखी जाती है।

"पादरी इ. के. इलियट जब अटलांटिक महासागर में एक जहाज पर जा रहे थे, जहाँ तार और चिट्ठी नहीं पहुंच सकती थीं, उन्होंने १४ जनवरी १८८७ को अपनी दिन पत्रिका में लिखा है कि "पिछली रात्रि में मुझे स्वप्न हुआ कि मेरे चचा एच. इ. का पत्र आया है, जिसमें मुझे मेरे प्यारे भाई की, ३ जनवरी को मृत्यु हो जाने की, सूचना दी है। उससे मुझे बड़ा दुःख हुआ। मेरा भाई स्वीटजरलैंड में बीमार अवश्य था, परन्तु उसका अंतिम समाचार, जो इंगलैण्ड छोड़ते समय मुझे मिला था, यह था कि

---

* Survival ob man by Sir Oliver Lodge P. 106

† " P. 112

अब वह अच्छा है। जब मैं अपनी यात्रा समाप्त करके इंगलैंड वापिस आया तो जैसा कि मुझे प्रतीक्षा थी, मुझे पत्र मिला जिसमें ३ जनवरी को भाई की मृत्यु होने की सूचना मुझे दी गई थी* ।

"परचित्तज्ञान"

एक चित्त के दूसरे चित्त पर, उन साधनों से, जिनका ज्ञान इस समय तक विज्ञान को नहीं है, कार्य करने को "परचित्तज्ञान" कहते हैं † ।

माइर्स की सम्मति है कि मानुषिक मस्तिष्क का बड़ा भाग अप्रकाशित है और वह अप्रकाशित भाग न केवल अपनी किन्तु पूर्वजों की भी स्मृतियों का पुंज है । इसी को उसने उत्कृष्ट चेतना का नाम दिया है । माइर्स का यह वाद सेमुएल बटलर (Samuel Butler) के अज्ञान स्मृतिवाद से मिलता जुलता है । माइर्स ने इस वाद का विवरण इस प्रकार दिया है ‡ "वर्षों से यह बात अधिक और अधिक मात्रा में सोची और समझी जाती रही है कि किस प्रकार एक व्यक्ति का जीवन, पूर्वजों के अनुभवों का, अज्ञात परिवर्तनयुक्त, विषम रूप है । जन्म से लेकर मरणपर्य्यंत रंग रूप, कार्य्य और प्रकृति आदि में हम उन्नत जीवनों का, जो पृथ्वी पर करोड़ों वर्ष से प्रादुर्भूत होते रहे हैं; रूपान्तरमात्र हैं । निरन्तर

* Survival of man by Sir Oliver Lodge p, 106 and 107,

† अर्थात् दो जीवित पुरुषों अथवा एक मृत और दूसरे जीवित पुरुष के चित्त में, विना किसी बाह्य और ज्ञात साधन के, विचार परिवर्तन की विधि परचित्त ज्ञान कहलाती है ।

‡ Human personality by Mayers Vol, I p, 16,

विस्तृत परिस्थिति के साथ सम्बन्धित होने से क्रमशः चेतना का द्वार अपना स्थान छोड़ता सा गया। जिसका प्रभाव यह हुआ कि चेतना की वह धारा, जो एक बार हमारी सत्ता के मुख्य भाग में प्रवाहित होती थी, अधिकतर बन्द सी हो गई। हमारी चेतना, विकाश के एक दर्जे पर पहुँचे, असार (संसार) समुद्र में, एक लहर के सदृश है, और लहर ही के सदृश वह न केवल वाह्य सत्ता रखती है, किन्तु अनेक तहों वाली भी है। हमारा आत्म-संयोग न केवल सामयिक संघात है किन्तु अस्थिर भी है और वह चिरकालीन अनियमित विकास का परिणाम है। और अब तक भिन्न भिन्न अवयवों के सीमित श्रम से युक्त है।" मस्तिष्क का ठीक ज्ञान न होने से मस्तिष्क के नाम अथवा काम से सम्बन्धित जो बात भी कही जाती है, कोई दूसरा पुरुष जो उस बात को न भी मानता हो, निश्चित रीति से उसका प्रतिवाद नहीं कर सकता। यही हेतु है जिस से परचित्तज्ञान सम्बन्धी विश्वास पश्चिम में बढ़ रहा है। इस विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तक जिनमें परचित्त-ज्ञान के अनेक परीक्षणों का उल्लेख है, प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीं के आधार पर दो एक परीक्षण यहां लिखे जाते हैं। बैरेट की पुस्तक † में एक घटना जो इस वाद की पोषक है, अंकित है, और वह इस प्रकार है:—

"फ़रवरी १८९१ ई० में एक एमेरीकन कृषक, घर से १०० मील की दूरी पर "डूबक" नाम वाले नगर में, अचानक मर गया। पुराने वस्त्र जो वह पहन रहा था वहीं फेंककर उसका पुत्र शव को

† Psychical Research by Prof, Barrett p, 130

घर ले आया। अपने पिता का दुःखदायी मृत्यु समाचार सुन-कर उसकी पुत्री बेहोश हो गई और कई घंटे उसी अवस्था में पड़ी रही। जब उसे सुध हुई तो उसने कहा "कहाँ हैं पिता के वस्त्र? वे अभी मेरे पास आये थे। सफ़ेद कुरता और अन्य काले वस्त्र और सैटिन के स्लीपर पहने हुये थे। उन्होंने मुझसे कहा कि घर छोड़ने के बाद उन्होंने बिलों की एक लम्बी सूची अपने खाकी कुरते के भीतर लाल कपड़े के टुकड़े से सी ली थी; वह और रुपया भी उसी में है" दफ़न करते समय जो वस्त्र शव (लाश) को पहनाये गये थे, वे वही थे जिनका विवरण लड़की ने दिया था। और लड़की को इन वस्त्रों के पहनाने का कुछ भी ज्ञान न था। इसके सिवा कुरते की भीतर वाली जेब और रुपयों का हाल उसे और न अन्य किसी को मालूम था। लड़की को सन्तुष्ट करने के लिये उसका भाई "डूबक" गया, जहां उसका पिता मरा था। वहां उसने पुराने वस्त्र पाये जो एक छप्पर में रक्खे थे। कुरते की भीतरी जेब में वह लम्बी सूची भी बिलों की मिली जो ३५ डालर के थे, और ठीक उसी प्रकार लाल कपड़े के टुकड़े से सिले थे जैसा लड़की ने बतलाया था। जेब के टांके बड़े और अनियम से लगे थे जैसे किसी पुरुष ने सिये हों।" प्रोफेसर बैरेट ने इस घटना के आधार पर परचित्तज्ञान की सत्यता पर विश्वास किया था। मेइर्स ने भी इस घटना का सविवरण उल्लेख करते हुये इस वाद की पुष्टि की है* एक दूसरे परीक्षण का भी उल्लेख किया जाता है। यही परीक्षण सर आलिवर लाज ने किया था और

*Human Personality Vol. II p. 37 by Mayers.

उन्होंने ही इसे अपने एक पुस्तक में † अंकित किया है। परीक्षण का विवरण इस प्रकार है:—

"दो पुरुष अपने विचार, एक तीसरे पुरुष में जिसकी आँखें अच्छी तरह कपड़े से बाँध दी गई थीं, पहुँचाने के लिये बैठे। एक मोटे कागज़ के एक ओर एक शक्ल वर्गाकार □ इस प्रकार की बना दी गई थी और कागज़ की दूसरी ओर दो व्यस्त रेखायें + इस प्रकार की खींच दी गई थीं। वे दोनों पुरुष एक मेज़ पर आमने सामने बैठे और दोनों के बीच में वह कागज़ इस प्रकार रक्खा गया था कि एक पुरुष अपने ओर वाले एक चित्र को और दूसरा अपने ओर वाले चित्र को देखता रहे। परन्तु उन दोनों को भी यह जानने का अवसर नहीं दिया गया था कि कागज़ के दूसरी ओर क्या है। तीसरे पुरुष को जो "ग्रहण क्षम" था और जिसकी आँखों से पट्टी बँधी थी, वहीं मेज़ के पास बिठलाया गया और तीनों के बीच में कोई दो फुट का खुला अन्तर रक्खा गया था। दोनों पुरुष अपने २ सामने के चित्रों को संलग्नता के साथ इस विचार से देखने लगे कि उन्हें ग्रहण क्षम के हृदय में चित्रित कर दें। थोड़ी देर के बाद उस ग्रहण क्षम ने इस प्रकार कहना शुरू किया—

"कुछ हिल रहा है और मैं एक चीज़ को ऊपर और दूसरी को नीचे देख रहा हूँ। साफ़ २ दोनों को नहीं देख सकता" तब वह कागज़ जिस पर चित्र खिंचे थे छिपा दिया गया और ग्रहण

†The Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 28-29.

सभ की आँखों से पट्टी खोल कर कहा गया कि जो चीजें उसके विचार में आई थीं उन्हें काग़ज़ पर लिख देवे। उसने एक चित्र इस प्रकार का खींच दिया" लाज का कथन है कि यह परीक्षण अनेक पुरुषों की उपस्थिति में किया गया था। उन पुरुषों में कुछेक

वैज्ञानिक भी थे। और यह कि परीक्षण ने सफलता से सिद्ध कर दिया कि एक ही समय में न केवल एक किन्तु दो पुरुषों के विचार भी एक तीसरे पुरुष में डाले जा सकते हैं सर आलिवर लाज ने यह भी लिखा है कि वैज्ञानिक होने की हैसियत से वे इस परचित्तज्ञान का कोई हेतु नहीं दे सकते सम्भव है कि इसका सम्बन्ध आकाश (ईथर) से हो। यदि यह सिद्ध हो गया तो अवश्य यह वाद भौतिक विज्ञान की सीमा में आ जायगा। लाज ने इसका वैज्ञानिक हेतु देने का यत्न किया है और वह इस प्रकार है* "एक दर्पण को एक अक्षाग्र (धुरी) में इस प्रकार जड़ दो कि जिससे वह कुछ हिल जुल सके। उससे कुछ दूरी पर फ़ोटोग्राफ़ी का काग़ज़ और उसी का मध्योन्नत कांच रक्खो, यदि सूर्य की किरणें आइने पर पड़ेंगी और काग़ज़ आदि सब व्यवस्था के साथ रक्खे हुए होंगे तो परिणाम यह होगा कि उस काग़ज़ पर एक रेखा खिंच जायगी और इसी प्रकार प्रत्येक खटके से जो दर्पण को दिया जायगा, रेखा खिंचती जायगी। सूर्य और उस दर्पण के मध्य में कोई तार अथवा अन्य इसी प्रकार का कोई प्राकृतिक माध्यम सूर्य की किरणें और

* Survival of man by Sir O, Lodge p. 61-64.

आकाश के सिवाय नहीं है। इसी प्रकार दो मस्तिष्कों में से जिनमें आनुरूप्य सम्बन्ध हो और जो एक दूसरे से पृथक् हों, एक को उत्तेजना देने से दूसरा प्रभावित होगा" आनुरूप्य सम्बन्ध का तात्पर्य भौतिक विज्ञान में लाज के कथनानुसार, यह है कि जिस प्रकार रेल के स्टेशनों पर सिगनल देने के लिए खम्भों में हाथ लगे होते हैं और दूरी पर लगे हुए एक दूसरे यन्त्र को हिलाने से जिस प्रकार ऊपर या नीचे करने के लिए उसे हिलाते हैं उसी प्रकार का प्रभाव वह उस हत्थे में उत्पन्न कर देता है और उसी प्रभाव के अनुसार वह नीचे अथवा ऊपर हो जाता है तो उस यन्त्र और हाथ में समझा जायगा कि आनुरूप्य सम्बन्ध है। यह हिलाने का खटका, जो उस यन्त्र से हत्थे तक पहुँचता है और जिसका माध्यम लोहे की श्रृङ्खला अथवा कोई रस्सी होती है, एक सैकिण्ड में तीन मील की चाल से जाता है। सर आलिवर ने अपने पुस्तक में यह भी लिखा है* कि इङ्गलैण्ड और हिन्दुस्तान का अन्तर आनुरूप्य सम्बन्ध में बाधक नहीं हो सकता। जिस प्रकार इङ्गलैण्ड में तार की मशीन खटखटाने से तिहरान की मशीन प्रभावित होकर वैसा ही खटका पैदा कर देती है, इसी प्रकार मानसिक विचार परिवर्तन इङ्गलैण्ड और हिन्दुस्तान के बीच ऐसे साधनों से, हो सकता है जो इस समय तक ज्ञात नहीं हुए हैं।"

विलियम जेम्स प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक भी इस वाद के समर्थक हैं। उन्होंने और सर आलिवर लाज ने दिवङ्गत आत्माओं को बुलाने और उनसे बात करने की बात भी अपने २ पुस्तकों में

* Survival of man by Sir O. Lodge p. 70 and 71.

लिखी है। इसी प्रकार बुलाई हुई एक "रूह" ने कहा कि "कुछ निजू काग़ज़ पत्र है जिन्हें मैं देखना नहीं चाहती * बुलाई हुई आत्माओं की कतिपय विलक्षण बातें भी लाज ने लिखी है। एक रूह की कविता का उल्लेख किया है† एक रूह के आने और हँसने का कथन किया गया है‡ एक ने आकर विलियम जेम्स को "अत्यन्त स्वमताभिमानी" कह डाला§ एक "रूह" ने आकर अपनी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है "हम सब तेजोमय आकाश से बना हुआ शरीर रखते हैं जो हमारे रक्त और मांस के शरीर के भीतर रहता है"॥ माइर्स भी जिनके कतिपय लेख पहले दिये गये हैं, मर जाने के बाद एक सिजविक नामी पुरुष की पत्नी द्वारा बुलाये गये। उन्होंने आकर उस देवी से अनेक बातें की, उनमें से एक यह भी थी:—

"प्रिय देवी, तुम्हें भविष्यत् में मृत्यु का भय अथवा कुछ सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि वह कुछ नहीं है और मरने के बाद निश्चित रीति से सज्ञान जीवन रहता है"।

भूतप्रेतवाद।

पश्चिमी विद्वान जो आत्मा के अमरत्व के पोषक हैं उनमें से कुछेक इस वाद के भी पोषक हैं। उनका विचार है कि प्राणी

* Survival of man by Sir O. Lodge p. 162.
† ,, ,, ,, p. 161.
‡ Survival of man by Sir O. Lodge p. 162.
§ ,, ,, ,, p. 162.
¶ ,, ,, p. 190
‖ ,, ,, p 216.

जब मरता है तो वह प्राकृतिक शरीर से भिन्न रहता है और उसे बुलाया भी जा सकता है, और उससे बात चीत भी की जा सकती है इस प्रकार से उनके बुलाने और बात चीत करने के अनेक उदाहरण दिये जाते हैं उनमें से एक उदाहरण यहां उद्धृत किया जाता है।

"मेडम मरतविली" डच राजदूत की विधवा थी और स्टाक होल्म नगर में रहती थी। पति की मृत्यु हो जाने के बाद उनसे एक सुनार ने चांदी के दाम माँगे जो उनके पति ने क्रय की थी। मेडम को विश्वास था कि उनके पति ने अपने जीवनकाल में रुपया चुका दिया था परन्तु सुनार की रसीद नहीं मिलती थी। मेडम ने "स्वीडनवर्ग" नामी पुरुष को जो मृतजीवों को बुलाने और उन से बात चीत करने में सिद्ध हस्त समझा जाता था, बुलाया और उससे कहा कि उनके मृत पति की आत्मा से रसीद का हाल पूछ दें। तीन दिन के बाद स्वीडनवर्ग ने पूछकर मेडम को उत्तर दिया कि चांदी का रुपया चुकाया जा चुका है और रसीद उस अल्मारी में है जो ऊपर के कमरे में है। मेडम ने उत्तर दिया कि उस अल्मारी के सब कागज देखे जा चुके हैं उसमें रसीद नहीं मिली। स्वीडनवर्ग ने यह सुनकर बतलाया कि उनके पति की आत्मा ने बतलाया था कि अलमारी की बांई दराज खींचने के बाद एक तख्ता दिखलाई देगा, उसे खींच लेना चाहिये। तब एक गुप्त कोष्ट निकलेगा उसमें डचराज सम्बन्धी कुछेक निजूपत्र हैं और वह रसीद भी। इस गुप्त कोष्ट का हाल मेडम नहीं जानती थी अतः वे कतिपय अन्य पुरुषों के साथ जो उस समय वहां उपस्थित थे वहां गईं, और बतलाई हुई विधि से अल्मारी खोली तो उसमें

वह गुप्त कोष्ठ निकल आया और उसमें वतलाये हुये काग़ज़ और रसीद भी निकली* ।" सर ओलिवर लाज, जिनके पुस्तक से यह घटना ली गई है, इस वाद के भी समर्थक हैं। वे कहते हैं कि कल्पना करो कि भूत प्रेतों की कोई सत्ता (प्राकृतिक) नहीं और वे केवल चित्त संस्कार अथवा छाया मात्र हैं जो ग्राहक के मस्तिष्क में पड़ा है और जो उस संस्कार अथवा छाया के अनुरूप है जो किसी दूसरे पुरुष के मस्तिष्क में पहले से था और अब एक तीसरे व्यक्ति द्वारा पहले व्यक्ति (ग्राहक) के मस्तिष्क में परिवर्तित किया गया है† । यही हेतु है जो वे भूतों के दिखलाई देने का दे सकते हैं ।

प्रोफ़ेसर बैरेट ने इस वाद की व्याख्या इस प्रकार की है:—

"अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनसे पहले दो की भांति यह बात प्रकट होती है कि भूतकालिक घटनायें, जो विशेष विशेष व्यक्तियों पर घटित हुई थीं अथवा अब होती हैं, प्राकृतिक ढांचों अथवा स्थानों पर, जिनसे उन व्यक्तियों का सम्बन्ध था, कुछ इस प्रकार की अपनी छाप लगी छोड़ जाती हैं कि उनकी छाया अथवा गूंज का उन पुरुषों को अनुभव होने लगता है जो अब वहां रहते हैं । और जो चलेन्द्रिय अथवा मृदु प्रकृति वाले होते हैं । यद्यपि यह वाद सातिशय और विश्वास के अयोग्य सा प्रतीत होता है परन्तु भौतिक विज्ञान अथवा आत्मिक खोज की सीमा में इसके अनुरूप उदाहरणों की कमी नहीं है । एक सिक्के को एक काँच के टुकड़े पर कुछ देर के लिये रख दो, उसके बाद हटाने

* Surviva of man by Sir Oliver Lodge p, 96,

† Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 78, ..

पर कुछ चिन्ह सा काँच पर रह जाता है। उस काँच को श्वास से प्रभावित करने से वह सिक्का दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार लकड़ी, कोइला अथवा अन्य किन्हीं वस्तुओं के टुकड़े, फोटोग्राफी के प्लेट पर रखने और कुछ देर के बाद हटाने से, उनके चिन्ह प्लेट पर रह जाते हैं और प्लेट को नियमानुसार विकसित करने से वही वस्तु दिखाई देने लगती है इसे और इस प्रकार अन्य दृश्यों के हेतु भौतिक विज्ञान से दिये जा सकते हैं। परन्तु आत्मजगत् में इस प्रकार के किसी उदाहरण से यह (भूत) वाद प्रमाणित नहीं किया जा सकता"*

* Psychical Research by Prof. Barret p, 197 and 198.

सातवां अध्याय

पश्चिमी विज्ञान की २०वीं शताब्दी ।

पहला परिच्छेद

डाक्टर मोमेरी
Dr. Momerie

डाक्टर मोमेरी ने जीव के अमरत्व को न केवल अपने लिये स्वीकार किया है किन्तु उनको आग्रह है कि अन्य भी उसे स्वीकार करें—उन्होंने अपने एक पुस्तक में लिखा है "जीव के अमरत्व की अस्वीकृति ईश्वर का अपमान करना है...अमरत्व का विश्वास एक ऋण है और रच-यिता ऋणबद्ध है कि हमें चुकावे और चुकाने ही में उसकी प्रतिष्ठा है। यदि हम अमर नहीं हैं तो वह सदा के लिये अपमानित रहेगा"* फिर एक दूसरे स्थान पर लिखा है "क्या यह सम्भव है कि जब तुम्हारा शरीर पंचत्व को प्राप्त हो तो वह तुमको भुला देवे और तुम आत्मजगत् में न जा सको ? यदि वह (ईश्वर) खेत में उपजी घास को भी नग्न नहीं रखता तो क्या इससे भी

---

* Sermons on immortality by Dr Momerie P. 33.

उत्तम वस्त्रों से वह तुम्हें न ढकेगा ?* वे फिर लिखते हैं कि "अमरत्व ईश्वर के रचना कार्य्य की, जो सहस्रों कोटियों में आश्चर्य्यजनक और दिव्य रीति से हो रहे हैं, सम्भव पराकाष्ठा है† इसी पुस्तक में "मोमेरी" ने इस बात पर विचार करते हुए कि शरीर छोड़ने पर जीव जब आत्मजगत् में जावेंगे तो बिना शरीर के होंगे और बिना शरीर के किस प्रकार अपने साथियों को पहचान सकेंगे, लिखा है कि वे "आवाज से एक दूसरे को पहचान लेंगे ‡। उसकी सम्मति है कि "जिसकी अकालमृत्यु हो जावेगी उनके लिये पुनर्जन्म आवश्यक होगा क्योंकि मनुष्य जाति के लगभग सभी उच्च विचारकों ने उसे स्वीकार किया है § ।

डाक्टर सालमोंड

सालमोंड ने ईसाई मत का वर्तमान रूप प्रकट करने के लिए एक पुस्तक में लिखा है और उसमें अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है कि "जीव अपनी प्रकृति के लिहाज से मरणशील है और (मरने पर शरीर के साथ) नष्ट हो जावेगा सिवाय उस सूरत के कि इस साधारण कार्यप्रणाली में ईश्वर हस्तक्षेप करे¶ इसलिये सालमोंड जीव के अमरत्व को "सोपाधिक अमरत्व" लिखता है परन्तु भावी जीवन के विश्वास को 'सार्वत्रिक विश्वास' बतलाया है। ईसाई मत का मेल, जीव के बुद्धि पूर्वक विश्वास आदि से न पाकर

---

* Sermons on immortality Dr. Momerie p. 39.
† " p. 39.
‡ Do. p. 78 पर बिना शरीर के आवाज़ कहाँ से आवेगी ?.
§ " " p. 87.
¶ Christian Doctrine of Immortality p. 485.

सालमोंड लिखता है कि "सत्यमत" अपनी परिमित शिक्षा देगा और प्रत्येक कठिनता का उत्तर देने का संकल्प न करेगा......जिस बात का निर्णय करने के लिये ईसा की सम्मति न मिलेगी उसमें वह चुप रहने ही पर सन्तोष करेगा और जो बात मनुष्य के इस अथवा भावी जीवन से सम्बन्धित अन्धकार में है उसे वह अनादि सर्वज्ञ के लिये यह समझ कर छोड़ देगा कि इसे वह गुप्त रखना चाहता है* ।

डबल्यू एन क्लार्क (न्यूयार्क)। ने अमरत्व के सम्बन्ध में लिखा है कि "अमरत्व के लिये निर्णायक साक्षी नहीं है......और जो है वह न्यूनाधिक परिमित है"। "मनुष्य, मनोविकार और मनोभाव में कितना आत्मिक-बल है, इससे अनभिज्ञ नहीं है "आत्मिकबल शरीर मूलक है" यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है और इस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि मनुष्य की सत्ता और पराक्रम नष्ट होने के लिये है"। अन्त में वह लिखता है कि मनुष्य यहाँ मर कर जीना सीख रहा है। ‡

प्रोफेसर राइस। राइस ने १९०४ ई० में एक पुस्तक जीव के सम्बन्ध में लिख कर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है कि जीवन अप्राकृतिक और निरवयव है। वह लाज

---

* Christian Doctrine of Immortality by Dr. Salmond p. 514

‡ An outline of Christian Theology by Dr. W. N. Clarke p. 192—198.

(Lodge) से इस विषय में सहमत है कि अमरत्व के लिये कोई आध्यात्मिक प्रमाण नहीं है। उसका मत है कि सम्भव है कि मस्तिष्क का एक प्रतिरूप समस्त अंकित स्मृतियों के साथ आकाश में हो परन्तु यह कल्पितवाद इस मन्तव्य के विरुद्ध है कि मस्तिष्क का संबंध इस अंश में आकाश से और कि वह विद्युतकणों के समुदाय रूप परमाणुओं का संघात है।*

साइम आस्ट्रेलिया।

१९०३ में जीव के सम्बन्ध में साइम ने एक पुस्तक प्रकाशित की थी पुस्तक में जीव के अप्राकृतिक होने के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था और यह भी लिखा था कि कोर के समय से प्रायः सभी लोगों ने जिन्होंने इस विषय को मनन किया, अध्यात्मवाद को जीव के अमरत्व का पोषक नहीं समझा। परन्तु पुस्तक में फिर एक तर्क उपस्थित किया गया है कि सृष्टि के प्रत्येक कार्य्य में नियम, उद्देश्य, और अविरोध पाये जाते हैं। हमारे धार्मिक आवेग और नैसर्गिक वुद्धि दोनों स्वाभाविक और जगत् सम्बन्धित विकास के परिणाम हैं। जीव के अमरत्व का विश्वव्यापी विश्वास नैसर्गिक वुद्धि पर निर्भर है। तर्क वहुधा असत्य सिद्ध होता है परन्तु नैसर्गिक बुद्धि असत्य नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि जीव अमर है। वह फिर कहता है कि "यदि जीव ने अपना वर्त्तमान शरीर वना लिया तो वह एक दूसरा भी वना सकता है," जिसका तात्पर्य्य यह है कि वह आवागमन को भी मानता है।

* Christian truth in age of Science by Prof, Rice of Wesley University p. 279—283

उसके मतानुसार स्मृति एक असाधारण शक्ति है और उसे कीट के रूप में शरीर में उपस्थित रहना चाहिये क्योंकि वही पैतृक संस्कार गर्भ में लाती है और वह स्वप्न में यहाँ तक कि मरते समय भी सुस्पष्ट रहती है। और इस प्रकार मर जाने के पश्चात् भी किसी दूसरी परिस्थिति में बाकी रहती है। सायम ने एक और भी तर्क उपस्थित किया है कि जब * चेतन-अणु बिना चक्षु के देख, बिना श्रोत्र के सुन, और बिना ज्ञान तन्तुओं के अनुभव कर सकता है तो उससे उच्च कोटि का वस्तु मनुष्य का जीवात्मा क्यों उसी के सदृश सब कार्य नहीं कर सकता। यदि जीव ने, उसके विचारानुसार कीटाणु से यह शरीर बना लिया तो वह अवश्य इस शरीर से पृथक होने की योग्यता रखने वाली वस्तु है † ।

न्यूमैन स्मिथ (अमेरिका)

इसने लिखा है कि "विकासवाद उस प्रवृत्ति का नाम है जो पूर्णता की ओर मुँह रखती है, और यहाँ पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकती; इसलिए आवश्यक है कि ऐसी परिस्थित में भेजा जावे जो उसकी आत्मीयता के अधिक अनुकूल हो। यह आवश्यक नहीं कि वहां

---

* Book on the Soul by *Dr.* Syme quoted by Mr. *Hayness* in his book on Immortality p.119-120

† मोनाड (चेतन-अणु) जिसका यहाँ संकेत किया गया है जीवन विद्यानुसार (Biology) एक अत्यन्त सूक्ष्म अभिश्र प्राणि सम्बन्धी रचना है जिसे जीवन विद्या के विद्वान् (Biologists) जानते हैं। वास्तव में मोनाड देखता सुनता आदि है या नहीं इसमें विभिन्न मत हैं।

वह बिना शरीर के रहे वहां के प्राकृतिक साधन और परिस्थिति अधिक आह्लादप्रद होगी × × × जीव और शरीर का सम्बन्ध बहुत मामूली और सुगम परिवर्तनीय है। स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं। मनुष्य शरीर का प्रारम्भ एक बिन्दु से होता है जिसे सूक्ष्म दर्शक यन्त्र के बिना नहीं देख सकते और जिसमें जीव की हालत शरीर के अनुकूल ही होती है। यदि शरीर कीट का है तो जीव भी कीट ही होगा और इसी प्रकार भविष्यत् में शरीरानुकूल उसकी अवस्था रहेगी × × ×। शरीर के नाश से किसी व्यक्ति के उन सम्बन्धों का नाश नहीं होता जो बाह्य जगत से है × × × अवशिष्ट जीवन का मूल व्यक्ति की उन्नत अवस्था पर निर्भर है। प्राकृतिक नियम अधिकतर जाति पर दत्तावधान रहते हैं परन्तु मनुष्यता व्यक्तित्व को लक्ष्य में रखती है। इस लिए हम विश्वास नहीं कर सकते कि यह बहुमूल्य व्यक्तित्व नाश हो जावेगा × × मनुष्य में जीने की इच्छा ज्वालावत् है यह भला किस प्रकार प्राकृतिक साधनों से बुझाई जा सकती है*।

एच सोली

सोली ने १९०५ ई० में एक पुस्तक प्रकाशित कर के जीव के अमरत्व का समर्थन किया है। इसका मुख्य हेतु उसने यह दिया है कि प्राकृतिक शरीरों की रचना कुछ काल तक काम देने के लिए होती है। किन्हीं सूरतों में वह समय थोड़ा होता है किन्हीं में बहुत। परन्तु नियत समय बीतने पर स्वाभाविक रीति से वह नष्ट हो जाते हैं, परन्तु जीव उससे

* Through Science to faith by Mr. Newman Smith p, 262 and 263.

सर्वथा पृथक् है क्योंकि चेतना, चित्त, और आवेग के विकाश की कोई अवधि नहीं है *

एडवर्ड कारपेन्टर ने एक नाटक ‡ मृत्यु और जीवन के सम्बन्ध में १९१२ ई० में प्रकाशित किया था। जीव के अमरत्व का विचार करते हुए उसने लिखा है कि "सीरिया के जंगलों में एक पौदा होता है जिसका नाम "जेरीचो" है और वह एक प्रकार का गुलाब है। उसका विस्तार "डेसी" (इङ्गलैण्ड का एक फूल) की भांति है और लगभग वैसाही फूल भी उसपर आता है। सूखी ऋतुओं में जब उसकी जड़ के पास की मिट्टी रेत के सदृश हो जाती है तो उस रेतीली भूमि की पकड़ से अपने को बचाने की उसे चिन्ता होती है और वह अपने जड़ आदि समस्त अवयवों को गेंद की भांति वायु के वेग से घुमाता है। वायु उसे मैदानों की ओर उड़ा ले जाती है। वह उस समय तक बराबर चलता ही जाता है जब तक किसी आर्द्र और आश्रयदा भूमि को नहीं प्राप्त कर लेता है। वहां पहुंच कर उसकी जड़ उस भूमि को पकड़ लेती है और इस प्रकार वह पौदा वहां हराभरा होकर फिर फूलित होने लगता है। इसी जेरोची गुलाब के पौदे की तरह मानुषी जीव अपनी जड़ खींच कर प्राकृतिक बन्धन से अपने को पृथक् कर लेता है और आकाशस्थ सूर्य भी जिसे वह विशेषता से अपने जीवन का हेतु समझता है, जब सान्धकार हो जाता है तब भी जीव दृढ़ता और प्रसन्नता से एक मजबूत गेंद के रूप में

---

* Know thyself by Mr. H. Solly.

‡ The Drama of Life and Death by Edward Carpenter p. 97 and 98.

होकर भावी घटनाओं के घटित होने की प्रतीक्षा में घूमता है"। उपर्युक्त विवरण देते हुए कारपेन्टर ने जीव को "अनादि" "अमृत्यु" "मनुष्यों का जीव" "पशुओं का जीव" आदि कहा है। वह इस अनादि आत्मा को एक प्रकार का "विश्वात्मा" अथवा "जातीयात्मा" कहता है। जीवात्मा अति सूक्ष्म, निरवयव और चरित्र के अत्यन्त सूक्ष्म अणुओं से युक्त है। उसकी सत्ता अपने मित्रों में हम अच्छी तरह देखते हैं परन्तु फिर भी उसका वर्णन कर देना अत्यन्त कठिन है*। मृत्यु के बाद जातीय (विश्व) आत्मा असंख्य प्राणियों की उत्पत्ति का हेतु होता है। नष्ट होने वाली वस्तु केवल दृश्य शरीर है जो मृत्यु होने पर छिन्न भिन्न हो जाता है। फिर मनुष्य और पशुओं के जीवों के सम्बन्ध में बतलाया गया है†। "पशुओं और मनुष्यों के प्रारम्भिक जीवन में विश्वात्मा" ही होता है और प्रत्येक व्यक्तिगत जीव उसी से ठीक उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जैसे एक वर्धमान वृक्ष की कलियाँ उत्पन्न होती हैं और मृत्यु होने पर उसी (विश्वात्मा) में लीन हो जाती हैं। जातीय आत्मा के सिवा और कोई व्यक्तिगत जीव जो मरने के बाद बाक़ी रहता हो, उत्पन्न नहीं हुआ है"।

मानुषी जीवन के सम्बन्ध में कारपेंटर लिखता है‡ कि "जातीयात्मा इन सब अवस्थाओं में व्यक्तिगत अनुभवों को एकत्र करता, व्यक्तियों के संयुक्त ज्ञान से ज्ञानवान् होता और उनकी

* Do p. 85.

† Drama of Life and Death p. 237.

‡ Darama of Life and Death p. 228.

गर्भित स्मृतियों से सम्पन्न होता हुआ, आगे बढ़ता है। फिर अनुभव ज्ञान और स्मृति के उन्नत क्षेत्र, जो अपरिच्छिन्न और औत्सर्गिक रूप में होते हैं कभी २ तीव्र, परिच्छिन्न और विस्तृत रूप में होकर उस उत्पन्न व्यक्तिगत जीवों में चले जाते हैं। इस तरह से एक प्रकार का आंशिक पुनर्जन्म होता है जिसके द्वारा स्मृति रेखा और स्वभाव उत्तरोत्तर कालीन व्यक्तियों में जाते हैं और शायद इसी हेतु से जीव के अमरत्व और पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार निकाले जाते हैं"। फिर एक और स्थान पर लिखा गया है कि "उत्तरोत्तर काल में उन्नत होता हुआ व्यक्तिगत जीव दिव्यरूप ग्रहण करता है और अन्तःवर्ती सूक्ष्मशरीर को इतना उन्नत करता है कि वह फिर नष्ट नहीं होता। इस प्रकार इस उन्नत अवस्था को प्राप्त करके मानुषी जीव पूर्ण रीति से पुनर्जन्मों को प्राप्त होता है और अब वह अमर हो जाता है और जातीय आत्मा में लय होकर अब उसके नष्ट होने का भय बाकी नहीं रहता"। कार्पेन्टर जीवात्मा की सत्ता प्राकृतिक शरीर से भिन्न मानता है*। इस प्रकार जीव का विवरण देते हुए पुस्तक के अन्त में कारपेन्टर ने आधुनिक पाश्चात्य अध्यात्मवादियों की शिक्षा को स्वीकार किया है, अर्थात् जीवों का फ़ोटो लेना, उनको तोल लेना आदि विषयों को वह सम्भव मानता है, उसने जीव की तोल ¼ से एक औंस तक लिखी है। उसने फिर एक प्रोफ़ेसर की परीक्षा के आधार पर लिखा है कि "मानुषी जीव की तोल एक औंस का कोई भाग है परन्तु

* Drama of Life and Death p. 172

उसका रूप उसका आवृत्ति और लम्बाई चौड़ाई मनुष्य शरीर के सदृश है और जब वह पूर्णता को प्राप्त कर लेगा तो उसकी ऊँचाई बहुत होगी अर्थात् वह ३५ से ३८ मील † तक पृथ्वी पर ऊंचा होगा"

डाक्टर आलफ्रेड रेसल वालेस

कुछेक वैज्ञानिक जीवन और शरीर दोनों का प्राकृतिक आधार कललरस को बतलाते हैं। यह तत्त्व केवल ४ मूल द्रव्यों का संयोग है। उन में से तीन वायव्य द्रव्य हैं (१) नाइट्रोजन (२) हैड्रोजन (३) अक्सिजन और चौथा द्रव्य कार्बन है। प्राणियों के समस्त अवयव त्वचा, मांस, अस्थि, बाल, सींघ, नाखून, दांत, मांस पेशी, शिरा और धमनी इत्यादि इन्हीं मूल द्रव्यों से बनते हैं। किसी किसी अवयव के निर्माण में थोड़ी मात्रा में गन्धक, फास फोरस चूना अथवा सिलिका (Silica) भी प्रयुक्त होते हैं। ये समस्त अवयव प्राणियों के भोजन वनस्पति और फल आदि अथवा सिंह आदि मांसाहारियों के भोजन मांस से बनते हैं। परन्तु ये भोज्य पदार्थ और समस्त वे अवयव जो प्राणियों के शरीरों में और वे समस्त वस्तुयें जो वनस्पतियों से उत्पन्न होती हैं, उन सबके उपादान, यही ४ मूल द्रव्य होते हैं। इन मूल द्रव्यों में भी प्रोफ़ेसर एफ. जे. एलन के मतानुसार नाइट्रोजन मुख्य है। ये द्रव्य यद्यपि जड़ और निश्चेष्ट हैं परन्तु शक्ति के सञ्चार से रासायनिक संयोग में सम्मिलित हो जाते हैं।

नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का संयोग ही अमोनिया (Amonia) है, यह अमोनिया अन्तरिक्ष में विद्युत प्रवाह से प्रकट होता है।

† तब तो तुलसीदास जी का कुम्भकरण सम्बन्धी वर्णन ठीक सा ही प्रतीत होता है।

अमोनिया और नाइट्रोजन के कतिपय अम्ल जो उपर्युक्त भांति उत्पन्न होते हैं, इन्हीं के द्वारा नाइट्रोजन वनस्पतियों का आहार होता है और वनस्पतियों के द्वारा प्राणियों के आहार का रूप ग्रहण करता है।

वनस्पतियां अपने पत्तों के माध्यम से आक्सिजन और कार्बन डीयोक्साइड (Carbon Dioxide) को लकड़ी का भाग बनाने के लिए ग्रहण करती हैं। और जड़ के द्वारा पानी जिसमें अमोनियां और नैट्रोजन के कुछ अम्ल सम्मिलित रहते हैं ग्रहण करती हैं और इन्हीं से वनस्पतियों में फललरस उत्पन्न होता है जो फिर समस्त वनस्पतियों के निर्माण का हेतु बनता है। इन नाइट्रोजन से बने मिश्रित वस्तुओं के लिए बनने से पूर्व अपेक्षित शक्ति के मिल जाने से उनकी उत्पत्ति गगन मण्डल में होकर वर्षा के द्वारा प्राणियों में पहुँच कर उन जीवित प्राणियों की उत्पत्ति की लम्बी शृंखला का प्रारम्भ कहते हैं। नाइट्रोजन के शीघ्र प्रभावित होने के गुण, और परिवर्तन होने की और उसके रुजहान की न्यूनाधिकता, पृथ्वीतल के शीतोष्ण की मात्रा पर निर्भर है। प्रोफ़ेसर एलन के मतानुसार यदि पृथ्वीतल की शीतोष्ण मात्रा जमे हुए पानी ७२ और १०४ के मध्य में हो तो अत्यन्त आवश्यक घटनायें घटित और प्रदर्शित होती हैं परन्तु यदि यह मात्रा इन अंकों के इधर उधर हो जाय तो जीवन का गति मार्ग सर्वथा बदल जायगा।

जीवन के लिए एक और आवश्यक वस्तु गगनमण्डल में कार्बोनिक एसिड गैस का उचित मात्रा में होना है और इसी से स्थावर और जंगम जगत् में प्रारम्भ में अंगार तत्व (कार्बन) ग्रहण किया जाता है। वृक्षों की पत्तियाँ नभमंडल से कार्बन गैस को लेती है और एक और विलक्षण द्रव्य "क्लोरीफ़िल

(Chlorophyll) से हरा रंग । इस प्रकार उपलब्ध कार्बन से वृक्षों का शरीर बनता है और सूर्य किरणों के प्रभाव से औक्सिजन उनके शरीरों से बाहर हो जाता है । पत्तियाँ नभमण्डल से कार्बन गैस को पृथक करके ग्रहण करने में आकाश (ईश्वर) की तरंगों की सहायता लेती हैं * यह कार्य आकाश तरंग ही कर सकती है ।

---

* चेम्बर की इन्साइक्लोपेडिया (Article-"Vegetable Physiology 'in Chamber's Encyclopaedia) में पत्तियों के इस कार्य्य का विवरण इस प्रकार दिया गया है:—"हम ने देख लिया है कि किस प्रकार हरी पत्तियों को भिन्न वायु, जल और विलीन लवण प्राप्त होते हैं और किस प्रकार वे आकाश तरंगों को ग्रहण कर सकती हैं । इन तरंगों का गतिमय शक्ति शुद्ध निरेन्द्रिय मिश्रतों को विषम सेन्द्रिय मिश्रितों में परिणत करने के लिये प्रयुक्त होती हैं जो श्वासोच्छ्वास किया से पुनः अमिश्रित द्रव्यों के रूप में परिवर्तित हो जाती है और सम्भावशक्ति गति प्रयोग के (Kinetic) अवस्था में जीवित शरीरों के अवयवों में वे आहार परिवर्तन कार्य्य जीवित कोशों में तीव्र गति के साथ होते हैं। कललरस और कोशमार्ग द्वारा यह प्रवाह, प्रत्येक दशा में और कोशों के मध्य में भी जो कललरस के माध्यम से संयुक्त, हो जाते हैं, प्रवाहित होता है। वायु जो श्वासोच्छ्वास और परिपाक क्रियाओं में प्रयुक्त हुआ और छोड़ दिया गया, भीतर और बाहर फैल जाता है और कललरस

कललरस के सम्बन्ध में डाक्टर वालेस का मत इस प्रकार है: †

इस प्रकार जब थोड़ी मात्रा में गन्धक अणुओं के संस्थानों में सम्मिलित हो जाती है तो एक वस्तु जिसका नाम "प्रोटीड" है, बन जाती है।

प्रोफेसर डब्ल्यू. डी. हेलीबर्टन (W. D. Haliburton.) के कथनानुसार यह प्रोटीड जंगम और स्थावर योनियों की जीवितरस संस्कार शालाओं में तय्यार होती है और कललरस में उपस्थित वस्तुओं में सब से अधिक आवश्यक है यह अणु (प्रोटीड) अत्यन्त विषम है और ५ और अधिकतर ६ या ७ मूल द्रव्यों से मिश्रित है। इस मिश्रित का ठीक २ समझ लेना आवश्यक था परन्तु समझने के लिये जो उद्योग किया जा रहा है उसकी चाल धीमी है। जब यह पूर्णतया समझ ली जावेगी तो शरीर विज्ञान के अनेक अन्धकारमय पहलुओं पर प्रकाश पड़ जायगा। कललरस में एक अद्भुत गुण यह भी है कि जिससे वह अनेक मूल भूतों को, जीवित प्राणियों के भिन्न २ शरीर अवयवों में,

---

का प्रत्येक अप्रदीप्त अथवा अप्रदीप्त कण संक्षोभ का केन्द्र बन जाता है। विशुद्ध कललरस भी इसी प्रकार कतिपय लाल किरणों और विशेषकर बनफ़शाई किरणों से, जो "क्लोरोफ़िल" से संयुक्त होती हैं, प्रभावित होता है। ये किरणें विशेषकर लाल किरणें कार्बोनिक एसिड को पृथक करके कार्बन को पचाती और आक्सिजन का बहिष्कार करती है"।

† Man's place in the Unvierse by Dr. A. R. Wallace p. 163.

विलीन कर देता है, और आवश्यकतानुसार उन्हें विशेष २ कार्य्यों के लिये मोड़माड़ भी देता है।

"सिलिका" वनस्पति परिवार के तनों में, चूना और मेगनेशिया जंगम योनियों की हड्डियों में, लोहा रक्त में पाया जाता है। उन चार मूलद्रव्यों के सिवा जो कललरस के निर्माता हैं, अधिकांश जङ्गम और स्थावर योनियों के किसी २ भाग में गन्धक, फास्फोरस क्लोराइन, सिलिकन, सोडियम, पोटासियम, कैलेसियम, मैगनेशिया और लोहा पाये जाते हैं। और फ्लोराइन (Florine) अयोडाइन (Iodine) ब्रोमाइन (Bromine) लिथियम (Lithium) ताम्बा, मैंगनीज (Manganese) और एलोमिनियम (Aluminium) भी विशेष २ अवयवों में न्यूनांश में पाए जाते हैं, इन मूलद्रव्यों के अणु कललरस के प्रवाह द्वारा जहां २ अपेक्षित होते हैं पहुँचा दिये जाते हैं और वहां जाकर ये सब जीवित प्राणियों के शरीर के अवयवों को ठीक उसी प्रकार निर्माण करते हैं जैसे ईंट, पत्थर, चूना, लोहा, लकड़ी, शीशा आदियों के, उपयोगी स्थान पर पहुँचने से, एक भवन बन जाता है*। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस प्रकार प्राणी और वनस्पतियों के शरीर बनते नहीं किन्तु बढ़ते रहते हैं। उनका प्रारम्भ तो केवल एक घटक से होता है। यह घटक भी शरीर के किसी भाग विशेष का निर्माण नहीं करता किन्तु समस्त शरीर को यथा भागशः बढ़ाया करता है। यह कार्य्य भी नमी और उष्णता से प्रभावित कललरस का बतलाया जाता है

*इसी प्रकार को विवरण प्रोफेसर एफ. जे. एलन के पुस्तक (what is life by F J. Allen) में भी दिया हुआ है।

परन्तु आधुनिक शरीर वैज्ञानिक नहीं बतला सकते कि किस प्रकार एक घटक अथवा वीर्य्याणु से समस्त शरीर बन जाता है। यह अभी अलौकिक कार्य्य समझा जाता है, यद्यपि उन्हें आशा है कि भविष्य में यह गुप्त भेद खुल जायगा।

एक घटक से शरीर बनने के अलौकिक कार्य्य ने "क्लर्क मैक्सवेल" (Clerk Maxwell) को चकित कर दिया। वे कहते हैं कि पुनरुत्पादक घटक में लाखों करोड़ों अणुओं के समान की तो जगह ही नहीं है जिनकी अपेक्षा शरीर निर्माण में होती है। फिर किस प्रकार एक ही घटक से समस्त शरीर बन जाता है ? इस पर प्रोफेसर कैरिड्रके (Pr. Kendrik) कहते हैं कि अब यह कल्पना कर लेनी चाहिये कि उत्पादक घटक में अरबों ऐन्द्रियिक अणु रह सकते हैं। यह विवरण है जो अर्वाचीन शरीर वैज्ञानिक जड़ मूल भूतों के चेतनामय शरीर के उत्पन्न होने का देते हैं। परन्तु यह विवरण उससे अधिक समझ में आने योग्य नहीं है कि जो १७वीं शताब्दी में पत्थर की कुल्हाड़ी अथवा बसूला बनने का दिया गया था, और वह इस प्रकार है:— १६४० ई० में "एड्रियानस टौलियस" (Adrianos Tollius) ने कुछ चित्र पत्थर के मामूली बसूलों और हथोड़ों के देकर कहा था कि पदार्थ शास्त्रज्ञों ने बतलाया है कि आसमान पर उनका प्रादुर्भाव इस प्रकार हुआ 'बिजली की सदृश, चमकती हुई वाष्प गोले के रूप में बादलों में शब्दतरंग से एकत्रित हुई, अति वेगवती उष्णता उसके साथ थी। उसके साथ आर्द्रता के मेल ने उसके हिलते हुये शुष्कभाग को नोकीला बना दिया और दूसरा भाग जो स्थिरता घना हो गया। इस प्रकार वह उत्पन्न शास्त्र वाष्प के

प्रबल दबाव से बादलों पर चोट मारना है और उस चोट का परिणाम यह होता है कि शब्द और प्रकाश अर्थात् गरज और चमक उत्पन्न होती है * ।

इस प्रकार की तुकबन्दियों से अचेतन मूलद्रव्यों से चेतनामय शरीर उत्पन्न नहीं हो सकता । सच तो यह है कि अभी तक वैज्ञानिक इस बात को भी अच्छी तरह नहीं समझ सके हैं कि वृक्षों में जल (रस) किस प्रकार ऊपर चढ़ता है । † फिर उससे कहीं गहनतम विषयों, शरीर के विकाश, जीवन पुनरुत्पत्ति आदि को समझने और व्याख्या करने की तो कथा ही क्या ?

डाक्टर वालेस ने उपर्युक्त विवरण देकर परिणाम यह निकाला है कि चेतना का प्रकृति आधार नहीं है किन्तु वह प्रकृति से स्वतन्त्र है और उसकी उन्होंने कई श्रेणियां भी बतलाई हैं ‡

---

* टाइलर ने अपने पुस्तक में इस कहानी को उद्धृत किया और उसका मज़ाक़ उड़ाया है । वह पूछता है कि ये शस्त्र (वसूला या कुल्हाड़ी) गोल तो नहीं होते । इसके सिवा उनमें एक सूराख भी होता है वह कैसे हो गया ? (Early History of Mankind by E, R. Tylor p. 227.

† विज्ञानाचार्य्य जगदीशचन्द्र बोस ने हाल में अपने एक आविष्कार द्वारा बतलाया है कि किस प्रकार पानी वृक्षों की जड़ों से शाखाओं में पहुँचता है ।

‡ World of life by Dr. Wallace.

सर आलिवर लाज

चेतना का विचार करते हुए सर आलिवर लाज ने लिखा है § कि वह वस्तु जो शरीर को प्रेरित करती है स्नायु है, स्नायु में आवश्यक शक्ति है जिसको सद्योग करने के लिये उत्तेजना अपेक्षित होती है जिस से वह प्रकट उद्योग में परिणत होकर प्रायोजनीय कार्य्य में लगे। जीवित शरीर में स्नायु को प्रेरित करने के लिये धमनि सूत्रों का दुर्बोध प्रबन्ध है। वे जब अनेक प्रकारों में से किसी एक प्रकार से स्वयमेव उद्दीपित होते हैं तो स्नायुओं में संकोच पैदा करते हैं। धमनि सूत्रों का उद्दीपन, आकस्मिक घटनाओं से होता है या किसी यान्त्रिक कार्य्य से या वैद्युत अंकुश के उत्पन्न किए हुए उत्ताप का परिणाम है, वैज्ञानिक इसे नहीं बता सकते। कहा जाता है कि जीवित प्राणियों में ऐसे मध्यवर्ती घटक से जैसा कि मस्तिष्क की त्वचा अथवा धवल द्रव्य में है शक्ति के प्रभाव द्वारा अधिक सार्थक और सुगम रीति से यह उद्दीपन उत्पन्न हो सकता है। धमनी सूत्रों के उद्दीपन करने का सरल साधन सूत्र ग्रन्थि घटक को भी बतलाया जाता है, जिससे स्नायुओं में संकोच और उस संकोच से क्रिया उत्पन्न होती है। परन्तु यह तारतम्य भी वैज्ञानिकों द्वारा पूर्णतया समझा नहीं गया है। इसको सिद्ध स्वीकृत कर लेने पर भी प्रश्न यह होता है और यही वस्तुतः प्रश्न है कि वह क्या वस्तु है जो मस्तिष्क को उत्तेजना देती है और चाहती है कि अमुक कार्य्य किया जावे, और जो शक्ति को मस्तिष्क के उचित कोश से मुक्त करती है। इसके लिये कहा जाता है कि कुछेक सूरतों में तो वह वस्तु केवल

§ Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 133 and 134.

प्रतिक्रिया है। अर्थात् वह आंशिक उत्तेजना है जो गोलाकार ज्ञान तन्तुओं के अन्त से आती है। और वही सूत्रग्रन्थि घटक अथवा पृष्ठास्थि (रीढ़) तन्तुओं को उत्तेजित करती है जहाँ से वह उत्तेजना निकटवर्ती तन्तुओं और फिर बहिर्मुख धमनि सूत्रों में पहुँचती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इन अवस्थाओं में चेतना उत्पन्न नहीं होती। आत्मिकतत्व का अभाव ही रहा। इन सब कार्य्य प्रणाली में न तो ज्ञान की उत्पत्ति का कहीं चिन्ह है न कहीं इच्छा का निशान।..........अचेतन प्रतिक्रिया को एक ओर छोड़ कर परिमित रूप से मेरा विचार यह है कि एक आत्मिकसत्ता चित्त में है जो यह सब कार्य्य करती है। वही इच्छा को प्रभावित करती हुई निश्चय करती है कि अमुक कार्य्य हो तदनुकूल बाह्य जगत् में कार्य्य होता है। उसी सत्ता द्वारा उत्तेजना आत्मजगत् से प्राकृतिक जगत् में पहुँचती है और वही शक्ति को मस्तिष्क के केन्द्र से मुक्त करती है"।........ "यद्यपि यह कार्य्यप्रणाली इस समय गुप्त रहस्य सी है परन्तु प्रत्यक्ष रीति से काम में आ रही है और बुद्धि पूर्वक है और अवश्य अन्त को एक दिन ज्ञेय से ज्ञात की कोटि में आवेगी" मस्तिष्क और चित्त पर विचार करते हुए लाज कहते हैं कि "कहा जाता है कि मस्तिष्क ही चित्त है। यह इस लिए कहा जाता है कि यदि मस्तिष्क नष्ट हो जावे तो प्रतीत होता है कि चित्त भी चल गया परन्तु वह नष्ट नहीं होता वह बाक़ी रहता है। अवश्य वह प्रकट नहीं होता क्योंकि वह यन्त्र (मस्तिष्क) जिसके द्वारा वह प्रकट हुआ करता था, नष्ट हो गया। मस्तिष्क चित्त का कार्य्यसाधक यन्त्र है......जब यह अनुभव कर लिया

जावे कि चेतना शरीर की अपेक्षा उन्नतर वस्तु है और शरीर से पृथक और उसकी चलाने वाली है तब स्वाभाविक रीति से मान लेना पड़ेगा कि शरीर के नष्ट होने पर वह बाकी रहती है। यह कल्पना युक्तियुक्त न होगी कि मरने पर जीव भी मर जाता है। जीव की आयु कतिपय वर्षों की ही नहीं है जिनमें वह पृथ्वी पर जीवित रहता है। जीव बिना शरीर के भी रह सकता है इसलिए यह निश्चित है कि जीव अमर है। यह बात मैं वैज्ञानिक हेतुओं के आधार पर कह रहा हूं*।

एक और स्थान पर लाज ने लिखा है कि "मैं इस बात के निश्चय करने में दोषमुक्त हूं कि (मरने के बाद शरीररहित जीवों और हमारे मध्य सज्ञान सहयोग होना सम्भव हो गया है .... मरने के बाद जीव के बाकी रहने साक्षियाँ चिरकाल से मिलती चली आ रही हैं और अब स्वयं चलद्यन्त्र के लेखों से वे निश्चय का रूप ग्रहण कर रही हैं ......पहली और एक मात्र बात (इन परीक्षणों से) जो हमने सीखी है वह जीविका अमरत्व है...... स्मृति, शील, स्वभाव, शिक्षा, चरित्र और प्रेम ये सब और कुछ अंश तक आस्वाद और लाभालाभ का अनुराग जो मनुष्य के आवश्यक गुण हैं मरने के बाद भी जीव में रहते हैं†।

---

* Science and Religion by Seven Men of Science p. 23-25.

† Survival of man by Sir Oliver Lodge p. 231-235.

सर विलियम क्रुक्स
Sir William
(Crookes)

इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक क्रुक्स सन १८९७ ई० में "बृटिश ऐसोसिएशन" के सभापति निर्वाचित हुये थे। यह अधिवेशन ब्रिस्टल में सङ्गठित हुआ था। अपने भाषण के अन्त में क्रुक्स ने कहा था "मेरे वैज्ञानिक जीवन में सब से अधिक प्रसिद्ध कार्य्य वह है जो मैंने गत वर्षों में आत्मिक खोजों के सम्बन्ध में किया था। ३० वर्ष बीते कि मैंने अपना परीक्षणवृत्तान्त प्रकाशित किया था, जिसका फल यह था कि हमारे वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा से बाहर एक शक्ति की सत्ता है, जो ज्ञानपूर्वक प्रयुक्त होती है परन्तु यह ज्ञान उस साधारण ज्ञान से विभिन्न है, जो मरणधर्म्मा प्राणियों में पाया जाता है। मेरे जीवन की इस घटना से वे भलीभांति परिचित थे जिन्होंने यहां सभापति होने के लिए मुझे निमंत्रित किया है" फिर इस बात को कहते हुए कि ये विषय (आत्मा की खोज से सम्बन्धित) वैज्ञानिक अधिवेशनों में वादानुवाद किये जाने के अयोग्य नहीं हैं उन्होंने अपने भाषण में कहा कि "मैं अपने पूर्व प्रकाशित कथनों पर अब भी दृढ़ हूँ। उस में से कुछ निकालना नहीं अपितु जोड़ना अवश्य है, मेरा विचार है कि अब मैं कुछ और अधिक देखता हूँ और जो कुछ विलक्षण दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं उन में अविरोध की झलक दिखाई देती है अर्थात् उन अव्यक्त शक्तियों और वैज्ञानिक नियमों के मध्य में कुछ लगाव सा प्रतीत होता है" उन्होंने "परचित्तज्ञान" को निश्चित नियम बतलाते हुए कहा कि "विचार और प्रतिमायें एक मस्तिष्क में बिना इन्द्रियों के माध्यम के परिवर्तित हो सकती हैं" उन्होंने टिण्डल के उसे

कथन का प्रतिवाद करते हुए जो उसने २३ वर्ष पहले इसी एसोसियशन की सभापति की स्थिति से किया था, कहा "एक उत्कृष्ट पूर्वाधिकारी ने इसी गद्दी से आघोपित किया था कि उसने अनुभवात्मक साक्षियों की सीमा का उल्लंघन करते हुए प्रकृति में समस्त पार्थिव जीवन की शक्ति और योग्यता होने के चिन्ह पाए, जो अब तक उस की अप्रकट शक्तियों के अज्ञान से गुप्त थे।" परन्तु मैं इस कथन को उलट कर कहने को तरजीह देता हूँ अर्थात् मैं "जीवन में समस्त प्रकृति की शक्ति और योग्यताओं को पाता हूँ"।

डाक्टर जे. ए. फ्लेमिंग

इंगलैण्ड के वैज्ञानिक सप्ताह में जो १९१४ ई० में मनाया गया था, दूसरे दिन के व्याख्याता डाक्टर फ्लेमिंग थे। इन्होंने इस व्याख्यान में कहा था कि "हमें पूर्णतया निश्चय है कि ब्रह्माण्ड में एक सविचार आत्मा है, जो स्वरूपमान जगत् का चित्र रचना से पूर्व अपने मस्तिष्क में रखती थी.........परन्तु जब हम न केवल बाह्य जगत् पर दृष्टि डालते हैं किन्तु मानुषी सत्ता को भी लक्ष्य में रखकर अपने हृदयों को देखते हैं, तब हमको प्रतीत होने लगता है कि न केवल ब्रह्माण्ड और उस से ऊपर एक चेतन शक्ति है, किन्तु एक शक्ति है, जो हमारे चरित्रों से सम्बन्धित है, परन्तु वह शक्ति हमारी (शरीर की) नहीं है। इस बात को हम सब जानते हैं कि हमारे भीतर एक शक्ति है जो हमको धर्माधर्म का ज्ञान देती है और जो हम कुछ काम (अधर्म के) करते हैं तब हमको व्याकुल बना देती है और जब कुछ दूसरे प्रकार के काम (धर्म सम्बन्धी) करते हैं हमको हर्षित कर देती है। इसी

शक्ति को हम अन्तःकरण कहते हैं।''''''''''दृढ़ता से यह बात प्रकट होती है कि परमात्मा के द्वारा उसके अलौकिक नियम मनुष्यों में, जब वे पाप करना चाहते हैं प्रकट होते हैं, और उन्हें उस बुराई से बचाने की प्रेरणा करते हैं''''''''यह सिद्ध करने के लिए यह पर्याप्त है कि नास्तिकवाद दर्शन और विज्ञान दोनों के विपरीत है। सर फ्रांसिस बेकन ने अपने एक निबन्ध में जो नास्तिकवाद पर लिखा गया था कि थोड़ा दार्शनिक ज्ञान मनुष्य को नास्तिकवाद की ओर झुकाता है परंतु जब वह दर्शन शास्त्र की गहराई में पहुँचता है तब उसका झुकाव धर्म की ओर होने लगता है, जब मनुष्य निकटवर्ती प्रकट हेतुओं को देखता है तो कभी २ उन्हीं में चक्कर लगाता रह जाता है और आगे नहीं जाता परन्तु जब वह उनके भीतर घुसकर उनमें स्थित हेतुओं की अलौकिक लड़ी को देखता है जो परस्पर सम्बन्धित और संयुक्त हैं तो उसे विवश होकर ईश्वर की शरण लेनी पड़ती है''''''''''व्याख्यान का उद्देश्य यह प्रकट करना है कि विज्ञान और धर्म न परस्पर विरुद्ध हैं न उनमें शत्रुता पाई जाती है और यह भी नहीं कि उन्हें एक दूसरे की अपेक्षा हो किन्तु उनमें घनिष्ट सम्बन्ध है अथवा यों कहना चाहिये कि एकही विस्तृत राज्य के वे दो विभाग हैं, एक बाह्य विभाग है जिसमें मनुष्य प्राकृतिक नियमों और उनके ऊपर एक उत्कृष्ट शक्ति को देखता है। दूसरा आन्तरिक विभाग है, जिसमें मानुषी आत्मा दिखलाई देती है जो स्वाभाविक और साधारण ज्ञान की अपेक्षा उच्चज्ञान से काम ले रही है और जब आवश्यकता होने पर सहायतार्थ अपना हाथ फैलाती है तो सर्वनियन्ता से बल और सहायता प्राप्त करत

प्रोफेसर डब्ल्यू बी बौटमली

है"* भौतिक अथवा रासायनिक विज्ञान मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इनसे बढ़ कर और कोई वस्तु है। हम में से प्रत्येक के हृदय में कोई वस्तु है जो उच्च और मनुष्य को मनुष्य बनाने वाले उद्देश्यों की ओर प्रेरित करती है। परन्तु प्रत्येक वस्तु की विज्ञान से व्याख्या नहीं की जा सकती, वह वस्तु प्राकृतिक जगत् से ऊपर की वस्तु............और वही जीवात्मा है †

प्रोफेसर एडवर्ड हुल (Prof. Edward Hull)

"भूगर्भविज्ञान जगत् के शासक और रचयिता की सत्ता प्रमाणित करता है। ६० वर्ष अर्थात् अपने शिक्षा काल से अब तक भूगर्भविद्या को मैं बराबर ऐसा ही समझता और मानता चला आ रहा हूं। भूगर्भविद्या बतलाती है कि एक समय था जब किसी प्रकार का जीवन पृथ्वी पर नहीं था परन्तु अब जीवन मौजूद है इसलिए अवश्य उसका प्रारम्भ किसी समय हुआ होगा, और इसके साथ ही यह बात भी है कि अभाव से अभाव ही उत्पन्न होता है......इस लिये अवश्य जगत् के रचयिता की सत्ता माननी पड़ती है और उसी ने प्राकृतिक जगत्

---

* Science and Religion by Seven men of Science p. 50-56.

† Science and Religion by Seven men of Science p. 70

रचा और जीवन को प्रादुर्भूत किया यह भी स्वीकार करना पड़ता है" * ।

प्रोफेसर जो सिम्स वुड्हेड

"यह असम्भव है कि एक भी प्रमाण इस बात का दिया जा सके कि जीवित तत्व अजीवित तत्व से उत्पन्न हुआ, जहां जीवन नहीं है वहाँ जीवन पैदा भी नहीं किया जा सकता...... जगत् की कार्यप्रणाली पर नजर डालते हुए जो अनुभव मुझे प्राप्त हुआ है यह है, कि समस्त इच्छाओं शासकशक्तियों, बुद्धि और आत्मा में व्यक्तिगत भाव पाया जाता है। यदि हम छोटे से बड़ी सब वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार करें तो हमको एक शक्ति जो संसार में सब से बड़ी शासक और नियामक है पाई जाती है परन्तु उस में व्यक्तित्व पाया जाता है.........जीवन के प्रारम्भ की खोज में हम यह विश्वास नहीं खो सकते कि जगत् में एक सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता है" †

प्रोफेसर सिलवानस थाम्पसन

जो सच्चाई समस्त संसार के मतों में पाई जाती हैं और वास्तव में सच्चाई हैं वे यह हैं—,

(१) मनुष्य से बड़ी शक्ति ईश्वर की सत्ता, (२) आगामी जीवन की हस्ती, (यद्यपि आमतौर से नहीं), जीव की अमरता,

---

* Do p. 77 and 78

† Science and Religion by. Seven men of Science p. 108-10

(३) मनुष्यों में सद्भाव न्याय, दया, कर्तव्यपरायणता का होना। इसी प्रकार विज्ञान के निश्चित नियम ये हैं:—

(१) प्रकृति का अविनाशी होना, (२) कतिपय रासायनिक मौलिकों की नित्यता (३) रासायनिक संघात का स्थिर मात्रा से होना (४) शक्ति की नित्यता ....इस प्रकार धर्म और विज्ञान दोनों की सच्चाइयों में कहां विरोध है ?...

स्थिरता जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं में पाई जाती है उसी प्रकार उसका आध्यात्मिक तत्त्वों (जीव + ईश्वर) में होना अनिवार्य्य है *।

* Science and Religion by Seven men or Science p 115-129.

आठवां अध्याय

(भारतीय विद्वानों के मत)

पहला परिच्छेद

(दर्शनकार)

गौतम

न्यायदर्शन के रचयिता गौतममुनि ईश्वर, जीव और प्रकृति की स्वतंन्त्र और नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके दर्शन का सार यह है कि जीव को दुःख मिथ्याज्ञान से प्राप्त होते हैं, मिथ्याज्ञान से दोष, (राग और द्वेष) दोष से प्रवृत्ति, (सकाम कर्म की इच्छा) प्रवृत्ति, (सकाम की इच्छा प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख उत्पन्न होते हैं। इस लिये मिथ्याज्ञान का उच्छेद करना चाहिये, मिथ्याज्ञान का नाश तत्वज्ञान से होता है इसलिये न्यायाचार्य जीव को तत्वज्ञान प्राप्त करने की शिक्षा देते हैं। वह तत्वज्ञान इन १६ पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से प्राप्त होता है:—

(१) प्रमाण, प्रमाण के साधन का नाम प्रमाण है, वह ४

प्रकार का है:—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान और शब्द (आप्तोपदेश)

(२) प्रमेय, प्रमाण का विषय, प्रमेय १२ तरह के हैं:—(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (पंचभूत और उनके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) (१०) फल (कर्मफल) (११) दुःख (१२) अपवर्ग (मुक्ति)

(३) संशय ।

(४) प्रयोजन ।

(५) दृष्टान्त ।

(६) सिद्धान्त (विषय का निश्चय) ।

(७) अवयव—न्याय का एक देश ।

(८) तर्क ।

(९) निर्णय—परपक्षदूषण और स्वपक्षस्थापन द्वारा विषय का निश्चय ।

(१०) वाद ।

(११) जल्प ।

(१२) वितण्डा ।

(१३) हेत्वाभास ।

(१४) छल ।

(१५) जाति ।

(१६) निग्रहस्थान—जिसमें विवादी की प्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति प्रकाशित हो ।

इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान के लिये न्यायदर्शन में जो कुछ कहा गया है उसे स्थूल रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) न्यायांश, (२) तर्कांश, दर्शनांश। न्यायांश में पञ्चावयव ❀ न्याय की गवेषणाभरी आलोचना दिखाई पड़ता है, तर्कांश में जल्प, वितण्डा और छल आदि का विचार किया गया है, दर्शनांश में आत्मा, परमात्मा, शरीर, मन और इन्द्रियों की आलोचना की गई है।

❀ न्याय के जगद्गुरू गौतममुनि ने न्याय के पांच अवयव ठहराये थे। अरस्तू ने इन्हीं पांच अवयवी अनुमान (Syleogism) को संक्षिप्तरूप देकर ५ की जगह ३ कर दिया है दोनों की तुलना इस प्रकार की जा सकती है:—

गौतम		अरस्तू
१ प्रतिज्ञा	यह पर्वत वन्हिमान् है।	...
२ हेतु	क्योंकि यह धूम्रवान् है।	...
३ उदाहरण	जो धम्रवान् होता है वह वन्हिमान् होता है जैसे चूल्हा।	सब धम्रवान् पदार्थ वन्हिमान् होते हैं।
४ उपनय	यह भी धूम्रवान् है।	यह पर्वत धूम्रवान् है।
५ निगमन	इस लिये यह पर्वत। भी वन्हिमान् है।	इस लिये यह पर्वत वन्हिमान् है।

अतः स्पष्ट है कि एक समय अरस्तू ने न्याय का पाठ गौतम के न्यायदर्शन से ग्रहण करके यथामति फेरफार के

निदान इन साधनों से तत्त्वज्ञान, और उससे मुक्ति प्राप्त होती है।

कणाद

वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणादमुनि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हुए अपने दर्शन में उन विधियों को बतलाते हैं जिनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मनुष्य अभ्युदय (लोकोन्नति) और निःश्रेयस, (मोक्ष) को प्राप्त करता है। वह तत्त्वज्ञान द्रव्य, गुण, कर्म्म सामान्य, विशेष, और समवाय इन पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से उत्पन्न होता है।

(१) द्रव्य नौ प्रकार का है:—(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा और (९) मन।

(२) गुण १७ प्रकार के हैं:—(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (नाप तोल आदि) (७) पृथक्त्व (८) संयोग (९) वियोग (१०)

साथ उसे यूनान में प्रचलित किया था। अरस्तू से बहुत पहले न्यायदर्शन का रचा जाना, पाइथा गोरस और सिकन्दर का हिन्दुस्तान में आना, और यहाँ से बहुत से पुस्तकों और विद्वानों का ले जाना, आदि घटनायें उपर्युक्त परिणाम पर पहुँचने के लिये पर्याप्त हैं। इस विषय में पं० गंगाप्रसाद एम. ए. लिखित "तर्क शास्त्र निगमन" की भूमिका पढ़ने के योग्य है।

परत्व (११) अपरत्व (१२) बुद्धि (१३) सुख (१४) दुःख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) प्रयत्न ।*

(३) कर्म ५ प्रकारके हैं—(१) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) (२) अवक्षेपण (नीचे फेंकना) (३) आकुञ्चन (४) प्रसारण (५) गमन ।

(४) सामान दो प्रकार का है—(१) पर (२) अपर । गांय, बैल, घोड़ा आदि (अपर) की अपेक्षा पशु (पर) हैं ।

(५) विशेष—जिस असाधारण धर्म से निरवयव पदार्थ के परस्पर भेद की सिद्धि हो वही विशेष है ।

(६) समवाय—नित्यसम्बन्ध । इन्हीं ६ पदार्थों के तत्वज्ञान से स्वतंत्र जीव की मुक्ति हो सकती है यह वैशेषिककार का प्रदर्षित मुक्तिपथ है ।

कपिल का मत

कपिलमुनि ने अपने रचे सांख्यदर्शन द्वारा जीव की स्वतंत्र-सत्ता स्वीकार करते हुए, उसका परम कर्तव्य—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति, ठहराया है । यह कर्तव्य प्रकृति और पुरुष की सत्ता

---

* प्रशस्तपाद तथा अन्य टीकाकारों ने इन १७ गुणों में सूत्र में आये 'च' शब्द के आधार पर ७ गुण और मिला कर गुणों की संख्या २४ बतलाई है । वे ७ गुण ये हैः—(१) गुरुत्व (२) द्रवत्व (३) स्नेह (चिकनापन) (४) संस्कार (५) धर्म (६) अधर्म (७) शब्द ।

का यथार्थ ज्ञान होने पर जीव को पुरुष और प्रकृति की सत्ताओं का पार्थक्यज्ञान प्राप्त और दृढ़ हो जाता है। इस ज्ञान के दृढ़ होने ही से वह प्राकृतिक बन्धनों से छूट कर मोक्ष प्राप्त करता है। उपर्युक्त यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये २५ तत्वों का ज्ञान जीव को प्राप्त करना चाहिए। उन २५ तत्वों में २४ (विकार सहित) प्रकृति और पच्चीसवाँ पुरुष है।

१—सत्, रज और तम की साम्यावस्था रूप मूल प्रकृति	१
२—महतत्त्व	२३ विकृति
३—अहंकार	
४—पञ्चतन्मात्रा और मन सहित १० इन्द्रियाँ	
५—पञ्चस्थूलभूत	योग २४

२५वाँ पुरुष न प्रकृति में है न विकृति में, किन्तु दोनों से पृथक अप्राकृतिक सत्ता वाला है* दोनों पुरुष और प्रकृति नित्य हैं। प्रकृति चेतन और अचेतन समस्त जगत् का उपादान कारण नहीं है† किन्तु केवल अचेतन जगत् का उपादान कारण है‡।

---

* सांख्य के रचयिता को विशेष रीति से प्रकृति और उसके विकारों का ही वर्णन करना था इसलिए उसने ईश्वर और जीव दोनों को, जिनका विशेष वर्णन करना नहीं था, एक कोटि में रख कर पुरुष नाम दिया है।

† परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥ सांख्य सूत्र १७६ ॥

‡ प्रकृतेराद्योपादानता ॥ सांख्य ६ ॥ ३२ ॥

प्रकृति को अव्यक्त भी कहते हैं इसलिए कि यह प्रलय अवस्था में व्यक्त नहीं होती, किन्तु अप्रकट अवस्था में रहती है। जब सृष्टि उत्पन्न होती है तब वह व्यक्त (प्रकट) अवस्था में होती है। प्रलय होने पर फिर अप्रकट अवस्था में हो जाती है। यह चक्र भी (जगत् की उत्पत्ति और फिर प्रलय होने का) प्रवाह से अनादि है। प्रकृति परिणाम वाली है। यह परिणाम उससे नित्य सम्बन्धित रहता है। फिर प्रलय में क्यों परिणाम दिखाई नहीं देता, इसका उत्तर वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्व कौमुदी में इस प्रकार दिया है (देखो १६वीं कारिका का भाष्य) कि प्रकृति के परिणाम दो तरह के होते हैं (१) सदृश परिणाम, (२) विसदृश परिणाम। प्रलयकाल में सदृश परिणाम रहता है अर्थात् सत्व सत् रूप में, रजस् रजस् के रूप में और तम तमोरूप में परिणत हो जाता है।

पतंजलि का मत।

पतंजलिमुनि ने ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों की नित्य और स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की है। और अपने रचे हुए योगदर्शन द्वारा उन उपायों को बतलाया है जिससे जीव ईश्वर को प्राप्त करके मुक्ति लाभ कर सकता। पतंजलि ने सांख्य के २५ तत्वों को स्वीकार करते हुए अपने दर्शन की रचना की है इसलिए योगदर्शन का दूसरा नाम "सांख्यप्रवचन" भी है।

ईश्वर के सम्बन्ध में पतंजलि ने लिखा है कि क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) आशय (वासना) के सम्बन्ध से रहित है।

वह सर्वत्र है और कालकृत सीमा से वद्ध नहीं है और पूर्व आचार्य्यों का भी ज्ञानदाता है।

क्लेश पाँच तरह के होते हैं (१) अविद्या (मिथ्याज्ञान) (२) अस्मिता (अन्तःकरण और आत्मा में अभेद की प्रतीति) (३) राग (मोह, अनुराग) (४) द्वेष (घृणा, विराग) (५) अभिनिवेश (मृत्यु आदि का भय)।

कर्म—दो प्रकार का है (१) शुभ (२) अशुभ।

विपाक—कर्मफल तीन प्रकार के हैं (जन्म, आयु और भोग)

आशय—कर्मफल के अनुरूप वासना।

ईश्वर नित्यमुक्त और आनन्दस्वरूप होने से इन क्लेशों से रहित है, परन्तु जीव इनमें ग्रस्त रहता है। पतंजलि ने मुख्यतया यही बतलाया है कि जीव किस प्रकार इन क्लेशों से छूटकर मुक्त हो सकता है। उसी प्रकार का नाम योग है। योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं। चित्त की ५ अवस्थायें हैं। (१) "क्षिप्त" जिसमें चित्त की वृत्तियां अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं। (२) "मूढ़" जिसमें चित्त कृत्याकृत्य को भूलकर मूर्खवत् हो जाता है। (३) "विक्षिप्त" जिसमें चित्त व्याकुल और अशान्त रहता है। (४) "एकाग्र" जिसमें चित्त की वृत्तियां अनेक ओर से खिंच कर एक ओर लग जाती हैं। (५) "निरुद्ध" जिस में चित्त की वृत्तियां चेष्टारहित हो जाती हैं। प्रथम तीन अवस्थाओं में योग नहीं हो सकता, अन्तिम दो अवस्थाओं में योग हो सकता है। चित्त की वृत्तियों के एकाग्र होने से जो योग होता है उसे सम्प्रज्ञात और निरुद्ध होने से हुए योग को असम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

चित्तकी वृत्ति ५ प्रकार की होती है:—(१) प्रमाण, (२) विपर्य्यय (३) विकल्प (४) निद्रा, (५) स्मृति। इनमें से प्रमाण तीन प्रकार का है प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द प्रमाण)। "विपर्य्यय" मिथ्याज्ञान को कहते हैं। विषय के न होने पर शब्द ज्ञान के प्रभाव से जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम विकल्प है। (जैसे आकाश कुसम इत्यादि) निद्रा सुषुप्ति को कहते हैं। अनुभूत विषय का स्मरण स्मृति है।

चित्त के साथ जीवात्मा का संयोग होने से वृत्तियों का उदय होता है। पुरुष (जीव) स्वच्छ और निर्मल है। जिस प्रकार स्फटिक स्वच्छ होता है। परन्तु समीपवर्ती वस्तु के रूप को ग्रहण करके तदाकार हो जाता है, इसी प्रकार निर्मल जीव में जब चित्त वृत्तियां प्रतिबिम्बित होती हैं तब उनके साथ सारूप्य लाभ कर के अपने को दुःखी सुखी मान लेता है वास्तव में जीव दुःख—सुखादि द्वन्दों से रहित है। दुखी सुखी होना वृत्ति का उपराग मात्र है। योग द्वारा जब इन वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तो फिर जीव अपने स्वच्छ स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध:—

(१) अभ्यास और वैराग्य से होता है। इनके द्वारा योगी को श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्रता और विवेक की सहायता से प्रथम सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है। और बाद को चित्त के पूर्णतया निरुद्ध हो जाने पर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है।

(२) ईश्वर की भक्ति से भी समाधि की सिद्धि होती है।

सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापी के विषय में क्रम पूर्वक मैत्री करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से भी चित्त शान्त

होता है। और इस प्रकार चित्त में एकाग्रता होकर स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है।

(३) प्राणायाम से भी चित्त स्थिर होता है।

(४) अथवा इन्द्रिय विशेष में धारणा करने से भी चित्त स्थिर होता है। अर्थात् नासिका के अग्रभाग, जिह्वामूल, नेत्रादि में धारण करने से अलौकिक गन्ध, रस और रूपादि का अनुभव होता है, और येही दिव्य विषयज्ञान योगी के चित्त को स्थिर कर देता है।

(५) हृदयपुण्डरीक में धारण करने से एक अपूर्व ज्योति का प्रकाश होता है उससे भी चित्त स्थिर हो जाता है।

(६) अथवा वीतराग (विषयविरक्त = निष्काम) महात्मा का ध्यान भी चित्त स्थैर्य्य का एक उपाय है।

(७) अथवा स्वप्न ज्ञान या निद्रा का अवलम्बन करने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

(८) अथवा अभिमत विषय का ध्यान करने से भी चित्त ठहर जाता है। साधनावस्था में अभ्यास करने से योगी को कई अलौकिक शक्तियां प्राप्त होती हैं, उन्हीं को विभूति (सिद्धि) कहते हैं। तृतीय पाद में इन सिद्धियों का वर्णन है, परन्तु समाधिरहित योगी के लिये यह सब विभूतियां ज्ञात होती हैं, परन्तु समाधियुक्त योगी के लिये यह केवल बाधक हैं। योग के ८ अंग हैं:—

(१) यम = (१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह (लोभ रहित)

(२) नियम =(१) शौच, (२) सन्तोष, (३) तप, (४) स्वाध्याय, (५) ईश्वर प्रणिधान।

(३) आसन—सुख से बैठने का नाम आसन है।

(४) प्राणायाम—प्राणों का संयम प्राणायाम है।

(५) प्रत्याहार—इन्द्रिय निरोध करके फैली हुई शक्ति के एकत्र करने का नाम है।

(६) धारणा—एक देश में चित्त के ठहराने को कहते हैं।

(७) ध्यान—चित्तवृत्ति का एकाग्र प्रवाह ध्यान है।

(८) समाधि—ध्यान परिपक्व होकर जब ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, और चित्तवृत्ति होते हुये भी जब न होने की तरह भासमान होती है, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं।

समाधि दो प्रकार की होती है, (१) सबीज (२) और निर्बीज।

(१) सबीज समाधि में चित्त का आलम्ब रहता है, उस अवस्था में चित्त की सूक्ष्म सात्विक वृत्ति का तिरोभाव नहीं होता इसीलिये इस समाधि को "सम्प्रज्ञात" कहते हैं।

(२) निर्बीज समाधि में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का तिरोभाव होता है। केवल संस्कार शेष रह जाता है इसी लिये इस समाधि को "असम्प्रज्ञात" कहते हैं।

सबीज समाधि ४ प्रकार की होती है (१) सवितर्क (२) निर्वितर्क (३) सविचार (४) और निर्विचार। इन सब के निरुद्ध हो जाने से निर्जीव समाधि की सिद्ध होती है। इसी को कैवल्य सिद्धि कहते हैं, यही मोक्ष कहलाती है। यही पातञ्जल दर्शन का चरमलक्ष्य है, और यही जीवात्मा की अन्तिम गति है।

जैमिनि का मत।

जैमिनि ने अपने रचे पूर्व मीमांसा दर्शन में अपना मत इस प्रकार दिया है:—"वेद नित्य निर्भ्रान्त और अपौरुषेय (ईश्वरीय ज्ञान) हैं। वेद को किसी मनुष्य ने नहीं रचा, ऋषि केवल मन्त्र द्रष्टा हैं। वेद नित्य और स्वतः सिद्ध प्रमाण हैं। वेद जीव के लिये धर्म प्रतिपादन करते हैं वह धर्म यज्ञ है, यज्ञ ही से जीव अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है।"

"वेद में पांच प्रकार के वाक्य हैं" (१) विधि वाक्य जिससे कर्तव्यरूप अज्ञात विषय ज्ञात हों (२) मन्त्र जिनमें यज्ञ के उद्दिष्ट देवताओं के भाग देने आदि का विधान है और जो यज्ञ में उच्चारण किये जाते हैं।*

---

* कुछेक व्यक्ति भ्रमवशात् पूर्व मीमांसा में ईश्वर विषय विवरण न होने से मीमांसाकार जैमिनि को निरीश्वरवादी समझ लेते हैं जैसे "विद्योन्माद तरङ्गिणी" के रचयिता ने मीमांसकों का अनीश्वरवादी होना लिख डाला है अथवा म० म० महेशचन्द्र न्यायरत्न अपने सम्पादित मीमांसा दर्शन की भूमिका में लिखते हैं:—"But, though dealing so largely with the sacred scriptures of the Hindus and thus commanding a large share of their respect, oddly enough, it propounds a godless system of religion The main drift of its arguments is to show that, if bliss be the fruit of good works, the interposition

(३) नामधेय=प्रतीकों के द्वारा विधेय विषय का संकोच करना ।

(४) निषेध अर्थात् अकर्तव्य विधायक वाक्य ।

(५) अर्थवाद अर्थात् विधि के प्रशंसक अथवा निषेध के निन्दक वाक्य ।

वेद के देवता स्वतन्त्र सत्ता वाले व्यक्ति नहीं किन्तु मन्त्रात्मक हैं अर्थात् मन्त्र में शब्दों का जो क्रम, विषय की दृष्टि से रक्खा गया है वेही देवता हैं । मन्त्र में शब्दों के बदलने अथवा फेरफार करने और अशुद्ध उच्चारण आदि से मन्त्र निष्फल हो जाते हैं" ।

मीमांसाकार इस प्रकार जीव के कर्तव्यों का वेद की व्याख्या पूर्ण वर्णन के द्वारा विधान करते हुये उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं ।

व्यास का मत ।

व्यास का मत उनके रचे वेदान्त दर्शन, योग दर्शन भाष्य और महाभारत में मिलता है । वेदान्त दर्शन ही को उत्तर मीमांसा

---

of a Deity is simply superfluous." परन्तु ये इन लोगों के विचार, मीमांसा के नवीन ग्रन्थों के आधार पर, निर्मित हैं । जब जैमिनि वेद को अपौरुषेय कहता है तो किस प्रकार उसको अनीश्वरवादी कह सकते हैं । अपौरुषेय का अर्थ ईश्वर कृत ही समझा जा सकता है ।

और भिक्षु * सूत्र कहते हैं † वेदान्त दर्शन में प्रधानतः पांच विषयों का वर्णन है:—

(१) जगत् सत्य है या मिथ्या ?

(२) जीव ब्रह्म से भिन्न है या नहीं ?

(३) ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?

(४) ब्रह्म प्राप्ति का उपाय क्या है ?

(५) ब्रह्म प्राप्ति के फल क्या हैं ?

वेदान्त दर्शन के टीकाकार मुख्यतः दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं:—(१) अद्वैतवादी (२) द्वैतवादी। विशिष्टाद्वैत-वादियों को द्वैतवाद के ही अन्तर्गत समझना चाहिये। इन टीका-कारों ने अपने २ विचारानुकूल वेदान्त सूत्रों की टीकायें की हैं। उन्हीं सूत्रों को एक ने द्वैत और दूसरे ने अद्वैत परक समझा है। उपर्युक्त पांचों प्रश्नों के उत्तर दोनों पक्षों के टीकाकारों के, की हुई टीकाओं के अनुसार दिये जाते हैं:—

[१] वेदान्तसूत्र १।१।२ तथा अन्य भी सूत्रों के आधार पर शंकर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म को प्रदर्शित करते हुए, जगत् [प्रकृति] की स्वतन्त्रसत्ता से इन्कार ही नहीं करते किन्तु उसे असत्य, काल्पनिक, माया का विजृम्भणमात्र और मिथ्या बतलाते हैं और कहते हैं कि रज्जु में सांप की तरह सीप में चांदी के सदृश, सूर्य किरण में जल की भ्रान्तिवत जगत्

* देखो पाणिनिकृत अष्टाध्यायी ॥ ४ ॥ ६ ॥ १० ॥

† पश्चिमी विद्वान वेदान्त दर्शन के रचयिता बादरायण को पराशर पुत्र कृष्ण द्वैपायन से भिन्न मानते हैं।

मिथ्या है. उसको सत्य समझना भ्रम मात्र है। परन्तु इन्हीं सूत्रों के आधार पर द्वैतवादी अपनी टीकाओं में जगत् का उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण ब्रह्म को बतलाते हुए प्रकृति को नित्य सिद्ध करते हैं और इस प्रकार जगत् मिथ्या कल्पित और असत्य नहीं किन्तु सत्य है।

(२) इसी प्रकार प्रकृति की तरह जीव की स्वतन्त्र सत्ता से भी अद्वैतवादी इन्कारी हैं। उनका कहना है कि "जीवो ब्रह्मैव नापरः"। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। "तत्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" 'अहम्ब्रह्मास्मि' इत्यादि उपनिषद वाक्यों को अपने पक्ष का पोषक बतलाते हैं। अनेक वेदान्त सूत्रों के भाष्य में इसी प्रकार के विचार शंकर ने प्रदर्शित किए हैं।

परन्तु द्वैतवादी जीव की स्वतन्त्र सत्ता मानते और उसे न ब्रह्म और न ब्रह्म का अंश समझते हैं, और उपर्युक्त वाक्यों को वे भी अपने पक्ष का पोषक समझते हैं। उनका कहना है कि "तत्वमसि" (उससे तू है) का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की सत्ता से ही जीव प्रकट होता है। * दूसरे वाक्य "अयात्माब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है) में आत्मा और ब्रह्म दोनों शब्द ब्रह्म के ही लिये प्रयुक्त हुए हैं। जिस प्रकार सूर्य को संकेत करके कोई कहे कि यह प्रकाश पुञ्ज सूर्य्य है इसी प्रकार आत्मा से इस वाक्य में

---

* "तत्त्वमसि" वाक्य के अनेक अर्थ किए जाते हैं "वह तू है" अथवम् "तत्वम" (तत्व) है इत्यादि "तत्त्वमसि" का अर्थ 'उस का तू है' यह भी हो सकता है और ऐसा होने से यह वाक्य अद्वैत परक नहीं रहता।

ब्रह्म का संकेत करके उसे ब्रह्म बतलाया गया है, क्योंकि आत्मा, जीव और ब्रह्म दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। तीसरे वाक्य "अहम् ब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) को वे जीव ही का वचन बतलाते हैं। जब जीव समाधिस्थ होकर ईश्वर के प्रेम में इतना लीन हो जाता है कि ध्येय के सिवा ध्याता और ध्यान दोनों के विचार उस से जाते रहते हैं, तब वह ब्रह्म के सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता, उसे प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म ही ब्रह्म दिखलाई देता है "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है" उसी समय वह अपने में भी ब्रह्म देखता और अनायास उपर्युक्त तथा और भी इसी आशय के वाक्यों का जिनका उपनिषदों में संकेत है, उच्चारण करने लगता है। माध्वाचार्य्य, रामानुजाचार्य्य आदि विद्वानों के वेदान्त भाष्य में जगह २ द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद परक अर्थ वेदान्त सूत्रों का किया हुआ मिलता है।

[३] ब्रह्म का स्वरूप अद्वैतमत में समस्त विशेषणों से रहित निर्विकल्प, निरुपाधि और निर्गुण बतलाया जाता है। वह वचन लक्षण और निर्देश से अतीत है, बुद्धि से अगोचर है, अज्ञेय है, अमेय है, और अचिन्त्य है परन्तु द्वैतवाद में ब्रह्म को सविशेषण और सगुण भी कहा जाता है, अर्थात् वह अजर, अमर, अविनाशी, निराकारादि गुणों के न होने से निर्गुण और न्यायकारी दयालु, सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापकादि होने से सगुण भी है। द्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्म को केवल गुण और विशेषणरहित मानने से उसकी कोई हस्ती ही बाकी नहीं रहती। दोनों पक्ष वेदांत के सूत्रों पर ही निर्भर किये जाते हैं।

[४] 'ब्रह्म प्राप्ति का उपाय क्या है':—इस प्रश्न का उत्तर

अद्वैतवाद की ओर से यह दिया जाता है कि जीव वास्तव में ब्रह्म ही है परन्तु माया (अविद्या अथवा उपाधि) ग्रस्त होने से वह अपने को ब्रह्म से भिन्न समझने लगता है; बस इस अविद्या का दूर कर देना ही एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। दूसरी ओर द्वैतवादी योगदर्शन प्रदर्शित अष्टांग योग को ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बतलाते हैं और उपनिषदों में भी इसका जगह २ संकेत पाये जाने के दावेदार हैं।

[५] "ब्रह्म प्राप्ति के फल क्या हैं,:—अद्वैतवाद में ब्रह्म के साथ परमसाम्यही मुक्ति का लक्षण है और ब्रह्म के साथ ऐक्यही मुक्तिका स्वरूप है क्योंकि इस वाद के अनुसार "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव-भवति"। और इस प्रकार जीव के ब्रह्म हो जाने से उसके (निषेध परक) गुण भी उसे प्राप्त होते हैं। परन्तु द्वैतवाद में प्रकृति को सत्, जीव को सत्चित् और ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया है, अतः जीव को ब्रह्मकी प्राप्ति से आनन्द की प्राप्ति होती है इस प्रकार जीव बन्धनों से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त करके उसके आनन्दादि गुणों का उपभोग करता है परन्तु फिर भी वह जीव ही रहता है ब्रह्म नहीं हो जाता।

इस प्रकार वेदांत के सूत्रों से दो प्रकार के सिद्धांत निकाले हुए देखे जाने से, स्वाभाविक रीति से प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सूत्रों के रचयिता बादरायण (व्यास) मुनि का वास्तविक सिद्धांत क्या था। वे जीव को ईश्वर से भिन्न अथवा अभिन्न मानते थे। इस प्रश्न का उत्तर, विवादास्पद वेदांत सूत्रों को छोड़-कर, व्यासमुनिकृत अन्य ग्रन्थों के आधार पर सुगमता से दिया जा सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि व्यासमुनि ने योग

दर्शन का भाष्य भी किया है । योगदर्शन के रचयिता पतंजलि मुनि का मत दिखलाते हुए प्रकट किया गया है कि योगदर्शन में जीव और ईश्वर दोनों को भिन्न २ माना गया है । उसी योग का भाष्य करते हुए प्रारम्भ से अन्त तक व्यास मुनि इसी सिद्धान्त [द्वैतवाद] का समर्थन करते हैं । यदि व्यास अद्वैतवादी होते तो योग के भाष्य में भी वे उसी प्रकार की खींचा तानी करते जैसी उन [वेदांत] के सूत्रों के भाष्य में शंकराचार्य्यजी ने की है । परन्तु उन्होंने योग के २६ द्रव्यों [२४ प्राकृतिक + १ जीव + १ ईश्वर] के सिद्धान्त की पुष्टि की है और इस प्रकार प्रकृति जीव और ईश्वर तीनों की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता स्वीकार की है । इस लिए यह स्पष्ट है कि वेदान्त दर्शन में भी उनका सिद्धान्त द्वैत परक ही माना जा सकता है ।

दूसरा परिच्छेद

(१) चारवाक का मत ।

जड़वाद का आविष्कार चारवाक से भी कदाचित् पहले हो चुका था । चारवाक का मत है कि जो २ स्वाभाविक गुण हैं उन २ से द्रव्य संयुक्त होकर सब पदार्थ बनते हैं, कोई जगत् का कर्त्ता [ईश्वर] नहीं है । जीव की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । देह की उत्पत्ति के साथ वह भी उत्पन्न हो जाता है और देह के नाश के साथ ही उस [जीव] का भी नाश हो जाता है । न कोई स्वर्ग है न कोई नरक और न कोई परलोक में जानेवाला आत्मा है और न वर्णाश्रम की क्रिया फलदायक है । इस लिये जब तक जीवे तब तक सुख से जीवे (जो घर में पदार्थ न हो

तो) ऋण लेकर चैन करे। (वह ऋण देना न पड़ेगा क्योंकि) भस्मी भूत हुये देह का पुनरागमन (पुनर्जन्म) न होगा। फिर किससे कौन मांगेगा और कौन देगा) जो लोग कहते हैं कि मृत्यु समय जीव निकल कर परलोक को जाता है, यह मिथ्या है क्योंकि जो ऐसा होता तो कुटुम्ब के मोह से बद्ध होकर पुनः घर में क्यों नहीं आ जाता * ।

(२) गौतम बुद्ध

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम की शिक्षा आत्मा सम्बन्ध में यद्यपि स्पष्ट नहीं तथापि उनके जीवन चरित्र में ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है जिससे प्रकट होता है कि जीवात्मा की सत्ता और उसका अमरत्व उन्हें स्वीकृत था, उन घटनाओं में से कुछेक का उल्लेख यहां किया जाता है:—

---

* अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितः ॥ १ ॥
न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥ २ ॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ ३ ॥
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेह समाकुलः ॥ ४ ॥

(चारवाक)

[१] बुद्ध के अभिसम्बोधन की बात उठाते हुये उनके जीवन चरित्र में वर्णित है कि सम्प्रज्ञात और सजीव समाधि की प्राप्ति द्वारा उन्होंने सद्वृत्ति का ग्रहण और असत् का त्याग किया और निर्जीव समाधि में स्थित गौतम को बोध प्राप्त हुआ जिससे वे "जाति स्मर" हो गये, और सहस्रों जन्मों की बात उन्हें स्मरण हुई कि मैं अमुक जन्म में अमुक योनि में पड़ा था, वहां मैंने अमुक कर्म किया जिससे फिर मैं अमुक योनि को प्राप्त हुआ इत्यादि"।........"वे (बुद्ध) अपने मन में कहने लगे कि संसार में लोग उत्पन्न होते हैं, जीते हैं, मरते हैं फिर ऊंच नीच गति को प्राप्त होते हैं"........"अब वे [बुद्ध] इन दुखों का निदान सोचने लगे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि जरामरण दुःखादि का कारण जन्म है.........जन्म का कारण धर्म अधर्म, पुण्य पाप है जिसे "भव" कहते हैं......"भवकी" उत्पत्ति उपादान अर्थात् कर्म से होती है......उपादान का हेतु तृष्णा है......वेदना ही इस तृष्णा का कारण है.........वेदना की उत्पत्ति का हेतु उन्हें अन्वेषण करने से स्पर्श (बौद्ध दर्शनों में इन्द्रियों के विषय को स्पर्श कहते हैं) ही प्रतीत हुआ......स्पर्शादि का कारण षडायतन अर्थात् स्पर्शादि के प्रधान अधार भूत श्रोत्र, त्वक, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन ही हैं, इस षडायतन का कारण विचारपूर्वक नामरूप फिर नामरूप का कारण विज्ञान, विज्ञान का कारण संस्कार और संस्कार का कारण अविद्या उन्होंने उत्तरोत्तर निर्धारित किया"। *

---

* नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रकाशित बौद्ध का जीवन चरित्र पृष्ठ ६२, ६३।

[२] काशी को प्रस्थान करते हुये "अजपाल" वृक्ष के नीचे बैठकर सोचने लगे कि "मैंने अनेक जन्म तपश्चर्या करके इस अपूर्व विशुद्ध बोधिज्ञान को प्राप्त किया है * !

[३] बुद्ध काशी से उरुवेला की ओर चले और एक जंगल [कापास्यवन] में ठहरे। यहां ३० भद्रवर्गीय कुमार एक वेश्या को, जो उन्हें शराब के नशे में छोड़ और उनका जो कुछ सामान हाथ लगा लेकर चलती बनी थीं, ढूंढ़ते हुए बुद्ध के पास गये, और उनसे पूछने लगे कि भगवन् आपने किसी स्त्री को जाते देखा है ? उत्तर में बुद्ध ने पूछा कि तुम स्त्री को तो ढूंढ रहे हो "क्या तुमने कभी अपनी आत्मा को भी ढूंढ़ने का प्रयत्न किया है...... तुम स्त्री जिज्ञासा को अच्छा समझते हो वा आत्मजिज्ञासा को ?" ......उन्होंने उत्तर दिया कि आत्मजिज्ञासा को इस पर गौतम ने कहा कि "यदि आत्मा की जिज्ञासा करना चाहते हो तो आओ मैं तुम्हें बताऊंगा" ।

"गौतम ने उनसे दान और शील की महिमा वर्णन कर स्वर्ग की कथा कही फिर उन्होंने कामों की अनित्वता का वर्णन किया और सुकृति की प्रशंसा की फिर निष्काम कर्म का वर्णन करते हुये दुःख समुदाय, निरोध और मार्ग का उपदेश किया" †

[४] बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को अपने ३७ मन्तव्यों का उपदेश करते हुये कहा कि "मैंने अपने आपको अपना शरण

---

* नागरी प्रचारिणी सभा काशी प्रकाशित बौद्ध का जीवन चरित्र पृष्ठ १०१ ।

† बुद्ध का जीवनचरित्र पृष्ठ १२१

बनाया है अर्थात् मैं अपनी आत्मा के वास्तविक रूप में स्थिर हो गया हूँ" * यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि बुद्धि को आत्मा की सत्ता स्वीकृत थी और उसका अमरत्व भी। अन्यथा उनके अनेक जन्मों की सम्भावना किस प्रकार हो सकती थी? परन्तु बौद्धधर्म के पुस्तकों के † अवगाहन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जीव को केवल ज्ञानधारा मानते थे और निर्वाण हो जाने पर उसे नाशवान मानते थे। अवश्य उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही यह प्रश्न उठने पर कि तथागत (बुद्ध) का आत्मा अवशेष है या नष्ट हो गया, बौद्धों में एक फ़िर्क़ा ऐसा हो गया कि जो यह मानने लगा कि बुद्ध का आत्मा नष्ट नहीं हुआ किन्तु अवशिष्ट है, दूसरे शब्दों में उस मत के लोगों ने आत्मा की सत्ता (अमरत्व के साथ) स्वीकार कर ली।

(३) जैनमत और आत्मा

सात तत्त्वों में से एक जीव ‡ है और चेतना लक्षण वाला है। जीव ज्ञानादि के भेद से अनेक प्रकार का है यथा ज्ञान चेतना, कर्म चेतना कर्मफल चेतना।

---

* बुद्ध का जीवनचरित्र पृष्ठ २१६, २२०।

† बौद्धों का, जीव की सत्ता का ज्ञानधारारूप में होने का विश्वास, ह्यूम की ज्ञानधारा (Stream of consciousness) का पूर्वरूप था उसका उत्तररूप ह्यूम के विचार के रूप में है।

‡ सर्वार्थ सिद्धि (तत्त्वार्थ वृत्ति) अध्याय १ सूत्र ४

निम्नांकित पांच भाव जीव के † निज तत्व हैं:—

[१] औपशमिक—अर्थात् कर्म की निज शक्ति का, कारण वशात् उदय न होना उपशम है। जिस प्रकार निर्मली (औषधि विशेष) से जल के मैल का उपशम होना।

[२] क्षायिक—जल से पंक (मैलपन) का अत्यन्ताभाव क्षय है।

[३] मिश्र—उपशम और क्षय दोनों का होना मिश्र है।

[४] औदयिक—द्रव्यादि निमित्त से कर्म फल का उदय।

[५] पारिणामिक—द्रव्य का आत्मलाभ अर्थात् निज स्वरूप की प्राप्ति जिससे हो वह परिणाम है जैसे स्वर्ण के पीतादि गुण, कंकण कुण्डलादि पर्य्याय हैं, इसी प्रकार परिणाम को जानो।

तीसरा परिच्छेद

(१) गौड़पादाचार्य्य।

माण्डूक्योपनिषद् पर जो कारिका लिखी है उसमें गौडपादजी ने अपना मत प्रकट करने के लिए उसके ४ विभाग किए हैं। पहले में जिसका शीर्षक उन्होंने "आगमार्था विष्करण" दिया है, उक्त उपनिषद् का भाव दिखलाता है।

दूसरे (वैतथ्य नामक) में जगत् के मिथ्या होने का प्रकरण है अर्थात् समस्त दृश्य पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्या है। हेतु उनका (स्वप्न दृष्टान्त के सिवा) यह है कि जो पहले नहीं था और न पीछे रहेगा वह जल के बुलबुले के समान है उसकी वर्तमान सत्ता भी मिथ्या है।

† सर्वार्थ सिद्धि (तत्त्वार्थ वृत्ति) अध्याय २ सूत्र १

तीसरा प्रकरण जीव के मिथ्या होने का है। वे कहते हैं जैसे रज्जु का निश्चय हो जाने पर सर्प का भ्रम छूट जाता है उसी प्रकार परमात्मा के जान लेने पर जीवात्मा होनेका भ्रम छूट जाता है। मनुष्यादि प्राणियों में यदि वास्तव में जीव नहीं है तो कौन देखता, सुनता, करता, धरता है। इसका समाधान आचार्य्य इस प्रकार करते हैं कि ब्रह्मके दो भेद हैं, एक जन्म लेकर संसार में आनेवाला ब्रह्म, और दूसरा अजन्मा अर्थात् जन्म मरणसे रहित। उनका कथन है कि उत्पन्न होने वाला ब्रह्म न उत्पन्न होने वाले ब्रह्म की उपासना करता है, होने वाले ब्रह्म ही की संज्ञा जीव है। और यह कि उत्पन्न होने वाला ब्रह्म निम्न श्रेणी का और अनुत्पन्न उच्च श्रेणी का है। जिस प्रकार घटाकाश मठाकाश आदि भेद कल्पित हैं वास्तव में आकाश एक ही है, इसी प्रकार ब्रह्म के भेद भी कल्पित हैं।

चौथे प्रकरण का नाम "अलात शान्ति" है। इस विभाग में गौड़पादजी ने न्याय, सांख्य आदि दर्शनों में विरोध दिखला कर उनका खण्डन किया है और अपना सिद्धान्त यह दिखलाया है कि न किसी वस्तु वा संसार की उत्पत्ति होती है न प्रलय होती है न कोई बद्ध, न कोई दुखी, न दुख से बचने का कोई उपाय तथा न कोई मुक्त है न कोई मुक्ति का चाहने वाला और न कोई चाहता है। कर्म, धर्म सब व्यर्थ हैं। सब का अभाव समझ लेना ही परमार्थ की सिद्धि है। गौडपाद के मत में संसार में जो कुछ मरना, जीना, हंसना, रोना आदि दिखलाई देता है वह सब इन्द्र जाली (बाजीगर) के तमाशे के सदृश है, इनकी वास्तविकता कुछ नहीं। गौडपादाचार्य्य के एक शिष्य के जगत् प्रसिद्ध शिष्य

शंकराचार्य्य ने उनके मत का खूब विस्तार किया था।

(२) शङ्कराचार्य्य का मत।

अद्वैतवाद के पोषक श्रीशंकराचार्य्य जी जीव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि "जीवोब्रह्मैवनापरः" अर्थात् जीव ब्रह्म से पृथक नहीं है किन्तु ब्रह्म का ही अंश है, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म से जीव निकला है।

(ब्रह्म) वाक्य और मन से अतीत, विषय का विरोधी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ही जीव रूप में अवस्थित है, "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" "सोऽहम्" "अहंब्रह्मास्मि" अर्थात् "तू वह है" "यह आत्मा ब्रह्म है" "मैं वह हूँ" "मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि वाक्य उपनिषदों के वाक्यों के, जो भिन्न २ प्रकरणों में प्रयुक्त हुये हैं, छोटे २ टुकड़े हैं। पूर्ण वाक्यों के साथ मिलकर ये वाक्य वे अर्थ देते हैं या नहीं जिन अर्थों में शंकर अथवा उनके अनुयायियों ने समझा है, इस विषय में मत भेद है। अद्वैतवाद के विपक्षियों का मत यह है कि ये वाक्य अपनी असली जगह पर प्रकरण के अनुकूल अद्वैतवाद का प्रतिपादन नहीं करते, परन्तु शंकर को यही अर्थ अभिमत हैं।

संसार में हम जीवों को सुखी देखते हैं दुःखी देखते हैं अनेक आपत्तियों में ग्रस्त पाते हैं; यदि जीव ब्रह्मांश और शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है तो फिर ये क्लेश क्यों? इसका उत्तर शंकराचर्य्य यह देते हैं कि शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होने पर भी जीव, अविद्या के कारण देह आदि उपाधि के धर्म से संक्रामित हो जाता है। सुख

दुःख, काम, क्रोध, रोग शोक यह सब देह और मन के धर्म हैं, जीव के नहीं; किन्तु जीव देह के संयोग के कारण अपनेको दुखी सुखी रोगी और शोकी समझता है, अनादि माया (अविद्या) के कारण सोया हुआ जीव जब जागता है तब वह जानता है कि वह स्वयं ही जन्महीन, निद्राहीन, स्वप्नहीन अद्वैत ब्रह्म है *।

अच्छा तो वह (जीव) बन्धन का अनुभव क्यों करता है, गौडपादाचार्य्य के शब्दों में शंकरका उत्तर यह है कि यह बन्धन, जीव की कल्पना मात्र है वास्तविक बन्धन नहीं †

शंकर के मत में जीव के लिये (क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है) मुक्ति साध्य वस्तु नहीं, किन्तु सिद्ध वस्तु है। जब तक अज्ञान रहता है जीव अपने को मुक्त नहीं समझता, अज्ञान दूर होने पर वह अपने को मुक्त समझने लगता है। इसी विषय को समझाने के लिये एक उदाहरण बालक और उसके गले के हार से सम्बन्धित ("कण्ठचामीकरवत्") देते हैं कि बालक ने भ्रम से अपने हार को खोया हुआ समझ लिया था और उसे ढूंढ़ता फिरता था, परन्तु जब लोगों ने बतलाया कि हार तो तेरे गले में पड़ा है तब उसका भ्रम दूर हुआ। इसी प्रकार जीव भी अविद्याग्रस्त अपने को बद्ध समझता है ज्ञान हो जाने पर मुक्त समझने लगता है।

---

* अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥ (माण्डूक्य कारिका)

† न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता॥

शंकर को न केवल जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत नहीं है किन्तु वह प्रकृति की सत्ता से भी इन्कारी है, इस विषय में कि यह प्राकृतिक जगत् जो प्रति समय हमारे सम्मुख है और हमें स्पष्ट रीति से उसमें स्थित प्रत्येक वस्तु दिखलाई देती है, शंकर का कहना है कि यह जगत् मिथ्या है वास्तव में इसकी कोई सत्ता नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार रस्सी में सांप और सीप में चाँदी का भ्रम हो जाता है अथवा जिस तरह सूर्य्य की किरणों में मरीचिका का भ्रम होता है उसी तरह ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है। यह जो कुछ दिखलाई देता है सूर्य्य हो या चन्द्रमा पृथ्वी हो या अन्य नक्षत्र, पहाड़ हों या नदी मनुष्य के शरीर हों अथवा पशु पक्षियों के, ये सब कुछ भ्रम ही भ्रम हैं। इनमें वास्तविकता कुछ नहीं है। इस सब भ्रम को दूर करने और एकमात्र ब्रह्म को प्राणी और अप्राणी सभी का, "अभिन्ननिमित्तोपादानकारण" मानने से जीव ब्रह्म हो जाता है और फिर कोई क्लेश बाकी नहीं रहता।

(३) श्रीरामानुजाचार्य्य का मत।

श्री रामानुजाचार्य्य विशिष्टाद्वैतवाद के पोषक हैं। वे ब्रह्म को "निखिल-हेय-प्रत्यनीक" (सब दोषों से रहित) और "कल्याण गुणगणाकर" (कल्याण गुणों का आकर) मानते हैं। उनका मत है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान, कर्ता और अन्तर्यामी रूप से जीवों का नियामक है *। रामानुज के मत में ईश्वर, जीव

* वासुदेवः परंब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः। भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः॥

और जड़ ये तीन पदार्थ हैं। "द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति ....तत्र जीवेश भेदात्" अर्थात् द्रव्य दो प्रकार का है, जड और अजड (चेतन)। अजड (चेतन) में भी दो भेद हैं, जीव और ईश्वर। इनका कार्य विभाग इस प्रकार है:—चित् (जीव) भोक्ता, अचित् (प्रकृति) भोग्य और ईश्वर नियामक ❀ "पुरुष प्रकृति और परमेश्वर ब्रह्म ही के ये तीन भाव हैं" † प्रकृति और जीव स्वतंत्र पदार्थ होने पर भी रामानुज के मतानुसार वे बिल्कुल ईश्वराधीन हैं इसीलिए वह उन्हें (जीव और प्रकृति दोनों को) ब्रह्म का शरीर बतलाते हैं। ब्रह्म को जो "एकमेवाद्वितीयम्" उपनिषदों में कहा गया है रामानुज के मतानुसार इसका तात्पर्य यह है कि प्रलयकाल में जब प्रकृति और पुरुष (जीव) नाम रूप के भेद से रहित होकर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं उस समय अव्याकृत अवस्था में वह ब्रह्म "एकमेवाद्वितीयम्" है इसी बात को स्पष्ट करने के लिए रामानुज ब्रह्म की दो अवस्थाएँ बतलाते हैं, (१) कारणावस्था और (२) कार्य्यावस्था। प्रलय काल में जब जीव और जड़ जगत् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं जिस समय उस सूक्ष्म दशा में उनके नाम रूप का विभाग मिट जाता है वही ब्रह्म की कारणावस्था है। और सृष्टि में जिस समय वे चित् (जीव) और जड़ (प्रकृति) रूप में विभक्त होकर व्यक्त स्थूल

❀ ईश्वरः चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः। ईश्वरश्चित्त इत्युक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनरित ॥

† "भोक्ता जीवः भोग्यमितरं सर्वं प्रेरिता अन्तर्यामी परमेश्वर एतत् त्रिविधमोक्तं ब्रह्मैव इति"।

अवस्था में होते हैं वही ब्रह्म की कार्यावस्था है। जगत् का ब्रह्म में लीन हो जाना ही प्रलय कहलाता है। ब्रह्म जीव और प्रकृति का कारण बतलाने पर भी रामानुज को जीव ब्रह्म की अभिन्नता अभिमत नहीं है। उनका कहना है "देह और जीव जिस तरह एक नहीं हो सकते, जीव और ब्रह्म भी उसी तरह एक नहीं हो सकते" ❀ कारणावस्था में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है इससे रामानुज जीव को नष्ट हुआ नहीं समझते किन्तु उस (जीव) को नित्य बतलाते हैं। और उसे अणु (एक देशी) भी मानते हैं इस लिए उन्होंने जीव का बहुत संख्या में होना भी स्वीकार किया है। जीव की मुक्ति होती है और कर्म (अविद्या) और "भक्ति रूपापन्नध्यान" (विद्या) इन दोनों के समुच्चय से होती है। ब्रह्मोपासना मुक्ति का साधन है।

(४) श्री माधवाचार्य्य का मत।

(जन्म सम्वत् १२५४ वि०)

इनका नाम श्री आनन्दतीर्थ था परन्तु प्रस्थानत्रयी (१) उपनिषद् + (२) वेदान्त (३) गीता के भाष्य में इनका नाम माधवाचार्य्य दिया गया है। यह शुद्ध द्वैतवादी थे। इनका मत जो इनके उपर्युक्त भाष्यों से पाया जाता है, यह है कि ईश्वर और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में भिन्न मानना परस्पर विरुद्ध और असम्बद्ध बात है। इस लिए दोनों (ईश्वर

❀ देखो वेदान्त दर्शन १।१।१ पर श्री भाष्य (सर्व दर्शन संग्रह)

और जीव) को सदैव भिन्न मानना चाहिए। इन में पूर्ण अथवा अपूर्ण रीति से भी एकता नहीं हो सकती। परिणाम यह है कि ईश्वर और जीव दोनों पृथक्, स्वतन्त्र और नित्य सत्ता रखते हैं।

(५) श्री वल्लभाचार्य्य का मत।

(जन्म संम्वत् १५२६ वि०)

जीव और ईश्वर सम्बन्धी इनका मत, द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत सब से पृथक् है। इनका मत है कि मायारहित शुद्ध जीव और ईश्वर एक ही वस्तु है, दो नहीं। परन्तु फिर भी शंकराचार्य्य प्रचारित अद्वैतवाद इनके मत में ठीक नहीं है। जीव को वल्लभाचार्य्य अग्नि की चिनगारी के सदृश ईश्वर का अंश मानते हैं, और जगत् को मिथ्या नहीं किन्तु सत्य मानते हैं। यही इनका अन्तिम मत इस पन्थ को अद्वैतवाद से पृथक् करता है। इनका सविस्तर मत गीता संबन्धी तत्वदीपिका आदि में मिलता है।

[६] श्री निम्बार्काचार्य्य का मत।

[सम्वत् १२१९ वि०]

श्री निम्बार्काचार्य्य का मत भी वेदान्त और गीता पर आश्रित है और श्री केशवभट्ट ने गीता की तत्वप्रकाशिका टीका लिख कर सिद्ध किया है कि श्री निम्बार्क का मत ही गीता का वास्तविक मत है। जीव, ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में इनका मत यह था कि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं परन्तु जीव और जगत् का व्यापार और अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है और

परमेश्वर ही में जीव और जगत् के सूक्ष्मतत्व रहते हैं। यही इनके मत का सार इन [निम्बार्क] की हुई वेदान्त की टीका से भी प्रकट होता है।

चौथा परिच्छेद।

[वेद और प्राचीन ऋषियों का मत]

भारतीय ऋषियों की शिक्षा, जिस का आधार सांगोपांग चार वेद (ऋक्, यजु, साम और अथर्व) है, इस प्रकार है:—

ईश्वर, जीव और प्रकृति (जगत् का कारण) तीनों नित्य हैं*। इनमें से ईश्वर अपने आधीन जीव और प्रकृति के द्वारा जगत् रचता है। नियत अवधि तक, जगत् विकास और ह्रास के नियमों से नियमित होकर, स्थित रहता तत्पश्चात् प्रलय को प्राप्त हो जाता है। प्रलयावस्था समाप्त होने पर पुनः जगत् की रचना और उपर्युक्त भान्ति अवधि के बाद वह जगत पुनः प्रलय को प्राप्त होता है। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का क्रम भी दिन रात के सदृश, नित्य है और अनादिकाल से इसी प्रकार चला आ रहा है और इसी प्रकार भविष्यत में अनन्त काल तक भी चला जाता रहेगा†। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। कर्म-कर्ता जीव है और फलदाता ईश्वर है। जीवात्मा सकाम कर्म करते हुए आवागमन के चक्र में रहता है। निष्काम कर्म द्वारा आवागमन के चक्र

* ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६४, मन्त्र २०।

† ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १९० मन्त्र ३

से छूट कर नियत अवधि * के लिए मोक्ष को प्राप्त होता है। अवधि के समाप्त होने पर पुनः संसार में आता और अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होकर फिर यथा कर्म और यथा ज्ञान भिन्न २ योनियों को प्राप्त होता है † ।

योनियां स्थिर हैं। विकास द्वारा एक योनि से दूसरी योनि उत्पन्न नहीं होती किन्तु पृथक् २ योनियों के अन्तर्गत विकास और ह्रास सिद्धान्त लागू होते हैं। इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों अप्राकृतिक, जगत् के कारण और कार्य्य दोनों से पृथक् हैं, और स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त और प्रकृति जगत का उपादान कारण है। जीव को जब तक प्राकृतिक शरीर नहीं दिया जाता उस समय तक किसी प्रकार का कोई कर्म नहीं कर सकता।

शरीर के तीन भेद

शरीर तीन हैं (१) कारण-शरीर (२) सूक्ष्म शरीर (३) स्थूल-शरीर। इनमें से स्थूल शरीर पांच स्थूल भूतों से बनता है और वह यही हाथ पांव वाला दृश्य शरीर है। सूक्ष्म शरीर १७ द्रव्यों का समुदाय है वे १७ द्रव्य ये हैं :—५ प्राण + ५ ज्ञानेद्रिय + ५ सूक्ष्म भूत (तन्मात्र) + मन + और बुद्धि। तीसरा कारण-शरीर प्रकृति रूप होने से सूक्ष्म शरीर से भी सूक्ष्म होता है। इनको एक चित्र द्वारा, प्रदर्शित किया जाता है :—

* मोक्ष का अवधि ८ अरब ६४ कोड़ वर्ष अर्थात् एक बार सृष्टि और प्रलय की स्थित के योग को ३६००० में गुणा करने सेप्राप्त हो सकती है।

† कठोपनिषद ५ । ७

स्थूल शरीर अथवा अन्नमय कोष !

सूक्ष्म शरीर अथवा प्राणमय, मनोमय
तथा विज्ञानमय कोष,

कारण शरीर या
आनन्दमय कोष।
"गुहाशय"
जीवात्मा
सुषुप्ति

स्वप्न

इन्द्रियों द्वारा
सम्बन्ध

जागृत

प्राण द्वारा
सम्बन्ध
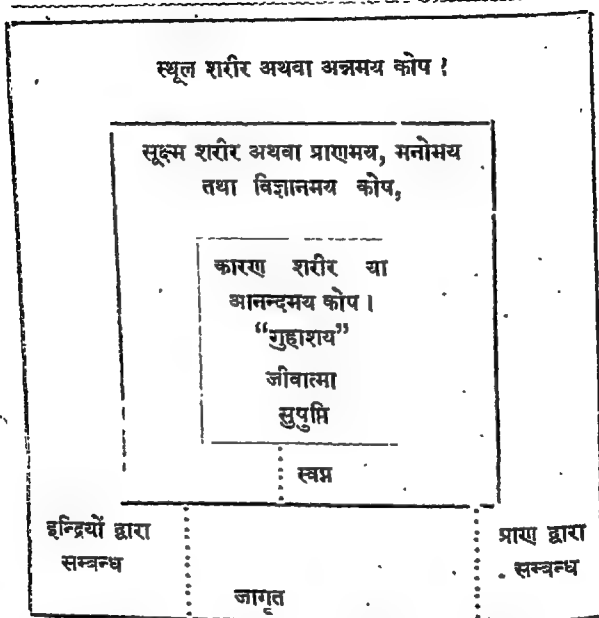
जीवात्मा शरीर के मध्य गुहाशय (हृदयाकाश) में रहता है और परिच्छिन्न (एक देशी) होते हुए भी समस्त शरीर पर अधिकार रखता है। मृत्यु होने पर केवल स्थूल शरीर नष्ट होता सूक्ष्म और कारण दोनों शरीर जीव के साथ, स्थूल शरीर से निकल जाते हैं और जीवात्मा के साथ बराबर उस समय तक बने रहते हैं जब तक वह मोक्ष को नहीं प्राप्त होता।

अवस्था के तीन भेद

अवस्थायें तीन हैं जाग्रित, स्वप्न और सुषुप्ति । जीवात्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म (प्रयत्न) हैं । जब जीव शारीरिक साधनों के द्वारा बाह्य जगत् में कार्य्य करता है तब वह वहिर्मुख वृत्ति वाला होता है और जब स्वयं अपने स्वरूप का चिन्तन करता है तब उसकी अन्तर्मुख वृत्ति होती है, वहिर्मुख वृत्ति होने पर जीव बुद्धि के माध्यम से मन को प्रेरित करता, मन इन्द्रियों को प्रेरित करता और तब इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों को ग्रहण करती हैं । इस प्रकार विषयों की ग्रहणावस्था का नाम जाग्रित् अवस्था है । परन्तु जब इस लड़ी की एक लड़ टूट जाती है अर्थात् मन इन्द्रियों को प्रेरित न करके स्वयं संकल्प विकल्पमय होता है तब उस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं; परन्तु जब एक लड़ी और भी टूट जाती है और मनका कार्य्य भी बन्द रहता है और स्थूल शरीर की भांति मन के द्वारा सूक्ष्म शरीर भी निष्क्रिय रहता है तब उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं । इस सब का तात्पर्य्य यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के सम्बन्ध टूटने से सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है । एक नियम जो इन अवस्थाओं के विच्छेद होने से निकलता है वह यह है कि ज्यों २ ये सम्बन्ध अधिकता से टूटते जाते हैं प्राणी की सुख वृद्धि होती जाती है, अर्थात् जब मनुष्य जाग्रत् अवस्था में रहता हुआ सांसारिक धन्धों में व्यग्र रहता है उसके हृदय को बहुत थोड़ी मात्र में शान्ति प्राप्त होती है परन्तु जब स्थूल शरीर का सम्बन्ध टूट जाता और प्राणी स्वप्नावस्था में होता है तब शान्ति की मात्रा कुछ बढ़ जाती है और पूरा मात्रा में शान्ति उस समय प्राप्त होती है जब सूक्ष्म और कारण शरीर

का भी सम्बन्ध टूट जाता और मनुष्य सुषुप्ति (गाढ़निद्रा) में होता है।

मृत्यु क्या है और क्या यह दुःखप्रद है ?

सम्बन्ध विच्छेद से शान्ति प्राप्त होने के नियम को लक्ष्य में रखते हुये प्राण द्वारा जो स्थूल शरीर के साथ जीवात्मा का (सूक्ष्म शरीर द्वारा) सम्बन्ध है उसके विच्छेद से दुःख प्राप्त होगा यह कल्पना भी नहीं की जा सकती। सूक्ष्म शरीरों का प्राण द्वारा स्थूल शरीर से जो सम्बन्ध है उसी को जीवन और इसी सम्बन्ध के विच्छेद का नाम मृत्यु है फिर यह सम्बन्ध विच्छेद भयावना नहीं हो सकता इसी लिये मृत्यु से डरना अनुचित और वृथा है। मृत्यु मनुष्य को शान्ति देकर पुनः काम करने के योग्य बना देती है जिस प्रकार दिन के बाद रात्रि प्राणियों को, और सृष्टि के बाद प्रलय, परमाणुओं को आराम देने के लिये आती हैं उसी प्रकार मृत्यु भी जीवन संग्राम की थकावट दूर करके आराम देने के लिये आती है। फिर इन शरीरों का एक दूसरे प्रकार से विभाग किया गया, और उन विभागों का नाम कोश है, ये कोश पांच हैं:—

पाँच कोश

(१) अन्नमय जो त्वचा से लेकर अस्थि पर्यन्त, (२) प्राणमय—जो पांच प्राणों का समुदाय है, (३) मनोमय—जिस में मन और पांच कर्मेन्द्रिय होते हैं (४) विज्ञानमय जो बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियों का समुदाय है और (५) आनन्दमय कोश जिसमें प्रेम, प्रसन्नता और सुख होते हैं। पहले कोश का आधार स्थूल शरीर और दूसरे से चौथे तक का आधार सूक्ष्म शरीर और पांचवें कोश का आधार कारण-

मय शरीर है। इन कोशों से पूर्ण सभी प्रकार के लौकिक और पारलौकिक व्यवहार करता है। जीवात्मा यम और नियमादि अष्टांग योग * का सेवन करता है तो सांसारिक बन्धनों से छूट कर मोक्ष रूप परम स्वतन्त्रता को लाभ कर लेता है † यही मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य, यही संसार यात्रा की अन्तिम मंजिल है।

* देखो पतञ्जलि मुनि का मत।

† इसी वेदोक्त शिक्षा का प्रचार श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया था और इसी शिक्षा का प्रचार उनका स्थानापन्न आर्य्य समाज कर रहा है।

पुस्तक में प्रयुक्त भाषा के अल्प प्रचलित शब्दों की अनुक्रमणिका अंग्रेजी शब्द सहित

अ

अक्षाग्र	Axle.
अंकुरघटक	Stem cell.
अंगारक	Carbon.
अचेतन अन्तःसंस्कार	Unconscious presentation.
अचेतनक्षोभ	Unconscious impulse.
अज्ञान स्मृतिवाद	Unconscious memory.
अनुसार रस	Albuminoid.
अदृश्यलोक	Hades.
अद्भुतशक्ति	Mysterious force.
अद्वैतवाद	New platonism.
अधिष्ठातृत्व	Guidance.
अन्तःकरण	Conscience.
अन्तःकरणवृत्ति	Mental activity.
अन्तःप्रवृत्तिवाद	Theory of Instinct.
अन्तःसंस्कार या भावना	Presentation or Idea.
अन्तःसस्कार की शृंखला या	Concatenation of presen-

भावयोजना	tations or association of Ideas.
अन्तःसाक्ष्य (स्वांतवृ्त्तिबोध)	Conscious perception.
अन्तर्दृष्टि	Intarnel perception.
अन्तर्मुख गति से	Centripetally.
अन्तर्मुख चेतना	Subjective or ego.
अपौरुषेय जीवन	Superhuman life.
अभिसरण	Circulation.
अवशिष्टव्यक्ति जीवन का मूल्य	Survival value.
अव्यक्त	Latent.
असुर	Devil.
अस्थिराकृतिवाले अणुजीवों की सी गति	Amoeoid movement.
अहंकार (व्यक्तित्व)	Individuality.
आकर्षक आकुञ्चन	Gravitative shrinkage.
आकर्षण पार्थक्य	Gravitative separation.
आकाश	Ether.
आकुञ्चनगति	Phenomena of contraction.
आकुञ्चनशील पेशीघटक	Contractile muscular cell.
आंगिक आवेगशीलता	Organic irritability.
आण्विकशक्ति	Molecular force.
आदर्शवाद या प्राधान्यवाद	Idealism.

आत्मजगत्	Spiritual world.
आत्मरक्षा	Self preservation.
आत्मशक्ति	Soul Power.
आत्मस्वातन्त्र्य	Freedom.
आत्मिकाक्षेप	Psychical motive.
आनुकूल्य सम्बन्ध	Sympathetic link.
आनुषंगिकपरिवर्तन	Concomilant variation.
	इ
इच्छा (राग)	Love.
इंद्रियों के क्षोभ या सम्वेदना	Sensation.
	उ
उत्कृष्ट चेतना	Sublimial consciousness.
उत्तर	Secondary.
उद्वेग	Emotion.
अल्पताणुजीव	Protists.
उपलब्धि	Perception.
	ए
एक तरल पदार्थ	Cosmic fluid.
	क
कण	Millimetre.
कम्पन	Vibration.
कललरस	Protoplasm.

कललरस के सुतड़ों और बिन्दियों के रूप	Form of protoplasmic-filaments and pigment sp··ts.
कललाणु	Plastidules.
कीटवाद	Theory of Germ plasm.
कृति	Will.
कोष या घटक	Cell.
क्रियोत्पादक पेशीघटक	Motor muscular cell.
क्षुद्रजन्तु	Low animal.

ग

गतिवाहक सूत्र	Motor nerves.
गतिशक्ति	Energy.
गत्यात्मकपेशी तन्तु	Motor muscular fibre.
गुण	Attribute.
ग्रहणक्षम	Percepient.
ग्रहण सिद्धान्त	Natural selection
घटक कोष	Cell.
घटकगत अन्तःसंस्कार	Cellular memory
घटकगत स्मृति	Cellular presentation
घटक जाल	Tissues.
घटकात्मा	Soul cell.
घ्राण से मिलती जुलती एक	Achemical sense-activity

रासायनिक प्रवृत्ति	relating to smell.
	च
चतुर्थ घटकात्मक करण	Quadricellular reflex organ.
चित्त	Mind.
चित्त संस्कार	Impression
चिन्तन	Reflection.
चेतना	Consciousness
चैतन्याणु	Monad.
चैतन्याणुवाद	Monadology
	छ
छाया	Phantasm
	ज
जटिल चेतन अन्तःकरण	The intricate reflex mechanism.
जड़ाद्वैतवाद	Monism.
जलस्थलचारी जन्तु	Amphibia.
जीवन	Life.
जीवनोष्णता	Animal heat.
जीव द्रव्य वाद	Mind-steeff theory.
जीवात्मा	Soul.
जीवित अग्नि	Vital heat.

ज्ञानतन्तु (सम्वेदना सूत्र)	Nerves.
ज्ञानधारा	Stream of consciousness.
ज्ञान नियम	Catagories of understanding.
	त
तन्तुगतस्मृति	Histonic memory.
तन्तुजालगत अंतःसंस्कार	Histonic presentation.
तंतु प्रकृति	Neurotic temperament.
तर्क	Reason.
त्यागवाद	Stoicism.
	द
देव	Angel.
द्रव्य	Substance.
द्रव्य नियम	Law of Substance.
द्रव्यवैकृत्य धर्म	Metabolism.
द्विकल घटक	Gastrula.
द्वेष (निरक्ति)	Hatred.
	ध
धवलद्रव्य	Grey matter.
ध्वनि	Sound.
	न
निमित्त पुरुष	Automatist.

नियंत्रण	Control.
नियामक बुद्धि	Judgement.
निरपेक्ष	Absolute.
निर्देशक शक्ति	Directing agency.
निहित या अव्यक्त गतिशक्ति	Cell soul or the potential energy latent in both.
	प
परचित्तज्ञान	Telepathy.
परमात्मा	Super human volition.
पेशियां	Muscles.
पेशियों की गति	Muscular movement.
प्रकृति	Matter.
प्रकृति चेतनावाद	Hylozoism.
प्रकृति स्थित नियम	Law of conservation of matter.
प्रतिक्रिया	Reflex, Reflective function or Reflex action.
प्रति क्रिया का एक कण	Unicellular reflex organ.
प्रतिज्ञा	Thesis.
प्रति प्रतिज्ञा	Antithesis.
प्रतिवर्तक	Oprrator.
प्रसंगवाद	Occasionalism.

प्राग्जन्तु विज्ञान	Palæontology.
प्राणि वर्गोत्पत्ति विद्या	Phylogeny.
प्राण विद्या	Biology.
प्रासंगिक	Occasional.

ब

वहिर्मुखगति से	Contrifugally.
वहिर्मुख चेतना	objective or non-ego
वहुविध	Multiform.
वाह्यकरण	Organ of sense.
वाह्यशून्यवाद	Idealism
वीजकला	General layars.
वीजात्मा	Germ soul.
बुद्धि	Intellect.
बुद्धि स्वातंत्र्य वाद	Rationalism.
वोध स्रोत	Stream of feeling.

भ

भाव	Emotion.
भूकम्पिक अधिगमन	Earthquake subsidence.
भेदाभेद विचार	Comparison,
भ्रमण	Rotation,

म

मद्यसार	Alcohal,
मन या चित्त	Mind,
मध्यवर्ती घटक	Central cell.
मध्यस्थ मनोघटक	Intermediate presentative or psychic cell,
मध्योन्नत कांच	Lens,
मनोघटक या संवेदना ग्रन्थि-घटक	Soul cell or ganglionic cell.
मनोभाव	Idea,
मनोरस	Psycoplasm,
मनोरस निर्मितसूत	Psycoplasmic filament.
मनोविकार	Emotion.
मनोवृत्ति	Psychical activity.
मनोवैज्ञानिक तत्व	Psychic factor.
मनोव्यापार	Psychic function.
मनोव्यापार केंद्र	Central nervous organ.
मर्मस्थल	Sensitive Spot.
मस्तिष्क	Brain.
मस्तिष्क का भूरा मज्जा क्षेत्र	Grey bed or cortex of the brain,
मस्तिष्क की त्वचा	Cortex.

मस्तिष्क घटकगत चेतन अंतःसंस्कार	Conscious presentation in the cerebral cells.
मस्तिष्करूपी प्रधान करण या सम्वेदना ग्रंथि ..	Special central organ the brain or ganglion
मस्तिष्क व्यापार	Cerebral function.
मात्रा	Amount.
मानसिक यंत्र	Psychic apparatus or psychic mechanism:
मूल	Primary.
मौलिक द्रव्य	Elements.

य

यांत्रिकशक्ति	Mechanical force.
रहस्यपूर्ण संगठन	Mystical Union.
राग (इच्छा)	Love.
रासायनिक प्रेमाकर्षण	Erotic chemical tropism.
,, स्नेहाकर्षण	Chemical effinity.
रूप परिणामवाद	Law of metamorphosis.
रोई या सुतड़ेवाले अणु जीवों शुक्राणुओं की कुटिल गति	"Vibratory motion (ciliary movement) in infusoria, Spermatozoa ciliated epithelial cells"

ल

लचदार आकर्षण	Elastic strain.
लसीला पदार्थ	Slimy substance.
लोथड़ा	Lobe.

व

वंशरक्षा	Preservation of species.
वंशपरम्परा क्रम	Heredity.
विचार	Thought.
विरक्ति (द्वेष)	Hatred.
विवेक	Discernment.
विशेष रूप की सम्वेदना और गति	Peculiar form of Sensation and movement.
वृत्ति	Mood.
व्यक्त	Known.
व्यक्ति	Individual.
व्यवच्छेदक	Anatomist.
व्यवसायात्मिका बुद्धि व्यवहारिकी बुद्धि	Practical Reason.
व्यापर्ष	Abstraction.

श

शक्तिव्यापार	Energy traffic.
शक्तिस्थित नियम	Law of conservation of

	energy.
शरीर के अवयव	Morphological features.
शारीरिक वैकृत्य धर्म	Metabolism.
शीतोष्ण परिमाण	Temperature.
शुद्ध बुद्धि	Pure Reason.
शुद्ध बुद्धि की विवेचना	Criticism of pure reason
	स
सजीव द्रव्य	Living matter or orga-nized matter.
समर्थाविशेष	Survival of the fittest
सफेदी	Albumen.
समवाय	Inhesion.
समान	Uniform.
सामायोग	Adjustment.
सरीसृप	Reptilia.
सर्वजीवत्वाद	Theory of Animism
सहज बुद्धि	Instinct.
सहान्वेषक	Codisiovror.
सामान्य	Genus.
सूक्ष्मकला चातुर्य	Artistic power.
सूक्ष्म शरीर	Miniature.
सूक्ष्मग्रंथिघटक	Ganglionic calls or Psy-

	chic cells.
सोपाधिक अमरत्व	Condilional immortality.
सौंदर्य विवेक, सौंदर्य्य विवेचन शक्ति	Aesthetic faculty.
संकल्प	Will.
संकल्प के आदेश	Commands of the will.
संकल्पात्मक घटक	Will cell or psy chic cell
संगृहीत विचार या सूक्ष्म विचार	Abstract Ideas.
संदेशतंतु स्रोत	Stream of Nerve message.
सम्पर्क	Composition.
संयोग	Synthesis.
सम्वेदना या सम्वेदन	Sensation.
सम्वेदनाग्रंथि	Ganglion.
सम्वेदनाग्राही घटक	Sensitive nerves.
सम्वेदना विधानोंकासमाहार	Centralisation or integration of the nervous system.
सम्वेदना विशेष और गति विशेष	Peculiar form of sensationand movement.
सम्वेदनासूत्र या ज्ञानतंतु	Nerves,

सम्वेदनासूत्र ग्रन्थिगत अचेतन अन्तःसंस्कार	Unconscious presentation in the ganglionic calls.
सम्वेदना सूत्रजाल	Nervous system.
संशयवाद	Scepticism.
स्तन्य जंतु	Mammals,
स्थिति सामञ्जस्य	Law of adaptation.
स्मृति	Meniory.
स्वतः प्रवृत्त गति	(i) Faculty of spontaneous movement (ii) Active vital movement.
स्वभाव	Habit.
स्वमताभिमान	Dogmatism.
स्वयं चलद यन्त्रों के लेख	Automatic writng.
स्वयं प्रस्ताव	Auto-suggestion
स्वांतर्वृत्ति बोध या अन्तःसाक्ष्य	Conscious perception.
स्वीकृत तत्व	Data.